प्रस्तावना

मनोविज्ञान पर अब भी राष्ट्रभाषा में अच्छी पुस्तको का अभाव है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए 'सामान्य मनोविज्ञान की रूप-रेखा' की रचना कर मेरे तीन योग्य विद्यार्थियो ने अपनी प्रतिभा का जो परिचय दिया है इसके लिए मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

यह पुस्तक अत्यन्त ही सरल भाषा में लिखी गयी है। मनोवैज्ञानिक समस्याओ की व्याख्या आलोचनात्मक एवं सुव्यवस्थित ढंग से की गई है। दैनकि-जीवन से सम्बन्धित उपयुक्त उदाहरणो से यह पुस्तक परिपूर्ण है।

आवश्यकतानुसार प्रयोगात्मक उदाहरणो का उल्लेख इस पुस्तक की एक प्रमुख विशेषता है।

अतः मेरा विश्वास है कि भारतीय विश्वविद्यालयो के कोर्स के आधार पर, विशेषकर प्रारम्भिक छात्रों के लिए, लिखी गयी यह पुस्तक उच्चवर्गीय विद्यार्थियों के लिए भी लाभप्रद होगी।

आशा है, पाठकगण तथा मनोविज्ञान के शिक्षक इन लेखको को प्रोत्साहित कर इन्हे इस विषय पर और भी इसी प्रकार की अच्छी पुस्तकें लिखने की प्रेरणा देंगे।

अवध किशोर प्रसाद सिंह
5/6/55

(डॉ० अवध किशोर प्रसाद सिंह)
एम० ए० (पैट), एम० एस-सी०, पी० एच० डी० (मिचिगन),
अध्यक्ष, मनोविज्ञान-विभाग, पटना कालेज
पटना विश्वविद्यालय, पटना

सम्मतियाँ

हिन्दी में इस विषय पर पुस्तकों का अभाव नहीं है परन्तु अत्यन्त ही सरल भाषा में प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से लिखी गई यह पुस्तक अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है जो इस इस विषय पर अभी तक उपलब्ध हिन्दी की सभी पुस्तकों से श्रेष्ठ बना देती है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रारम्भिक छात्रों के लिए लिखी गई यह पुस्तक उच्च वर्गों के छात्रों के लिए भी बहुत ही उपयोगी होगी।

एस. एम. मुहसिन.
१३.७.५८.

(डॉ० एस० एम० मुहसिन)
एम० ए० (पैट), पी० एच० डी० (एडिनबरा)
निर्देशक
शिक्षा एवं व्यावसायिक मार्ग-दर्शन
कार्यालय, बिहार सरकार, पटना

इस पुस्तक के प्रणयन-काल में ही मुझे इसकी प्रतिलिपि को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि इसके लेखकों ने हमारे सुझावों का उपयोग यथास्थान इस पुस्तक में किया है। यों तो सामान्य मनोविज्ञान पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गई है, परन्तु "सामान्य मनोविज्ञान की रूप-रेखा" पढ़ने से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अत्यन्त ही सरल भाषा में प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से लिखी गई यह पुस्तक आई० ए० तथा उच्च वर्गों के छात्रों के लिए भी उपयोगी होगी।

मैं इन लेखकों को उनकी इस सफलता पर हार्दिक बधाई देता हूँ।

विश्वनाथ सिंह
१२ ७ ५८

(श्री विश्वनाथ सिंह)
असिस्टेण्ट प्रोफेसर
मनोविज्ञान-विभाग
लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर

अपनी बातें

शिक्षण के गत कुछ वर्षों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान पर हिन्दी में समुचित रूप से लिखी गई पुस्तकों के अभाव में इस विषय में दी गयी आई० ए० की शिक्षा के उपरान्त भी विद्यार्थियों को मनोविज्ञान की मूलभूत बातों का यथोचित ज्ञान नहीं हो पाता। फलतः बी० ए० की कक्षा में वे इस विज्ञान का अध्ययन करते समय पर्याप्त कठिनाइयों का अनुभव करते पाये जाते हैं। विद्यार्थियों की इन कठिनाइयों को देखकर ही हममें इस पुस्तक की रचना करने की आकांक्षा जगी।

विद्यार्थियों की सुविधा एव लाभ के लिए इस पुस्तक को लिखते समय भाषा की सरलता एवं सुगमता के साथ-साथ विषय की रोचकता पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है। यह सब खयाल रखा गया है कि विद्यार्थी विषय को भली-भाँति समझ सकें।

चित्रों, तालिकाओं, दैनिक जीवन से सम्बन्धित उदाहरणों तथा प्रयोगों के विवरण के द्वारा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को उपयुक्त ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है। अस्तु, हमारा दृढ़ विश्वास है कि विद्यार्थियों को मनोविज्ञान के आलोच्य-विषय को पूर्णरूपेण समझने तथा अधिक समय तक याद रखने में यह पुस्तक अत्यन्त ही सहायक होगी।

पारिभाषिक शब्दों के व्यवहारों में पूरी सावधानी बरती गई है। सुविधा के लिए अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों को यथास्थान कोष्ठक में दे दिया गया है। इसीलिए पारिभाषिक शब्दों की कोई से अलग सूची नहीं दी गई है। प्रयोगात्मक उदाहरणों का विस्तृत उल्लेख विशेषकर बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए ही किया गया है। आशा है, यह उनके लिए पूर्णतः उपयोगी सिद्ध होगा। प्रयोग (Experiment) क्या है, यह कैसे किया जाता है आदि बातों का उल्लेख संक्षेप में इसलिए किया गया है कि विद्यार्थियों को बी० ए० की कक्षा में पहुँचने पर विस्तृत प्रयोगात्मक अध्ययन करने में सुविधा प्राप्त हो।

परन्तु यह पुस्तक विशेष रूप से भारतीय विश्वविद्यालयों के मनोविज्ञान के प्रारम्भिक छात्रों को ध्यान में रखकर ही लिखी गई है। फलस्वरूप यहाँ मूलभूत बातों को ही अत्यधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मनोविज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र के प्रमुख विशेषज्ञों जैसे—डा० विमलेश्वर दे, अध्यक्ष मनोविज्ञान-विभाग, लंगट सिंह कॉलेज; डा० आनन्दी हजारी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर; डा० एस० एम० मुहसिन, निर्देशक शिक्षा एवं व्यावसायिक मार्ग-दर्शन कार्यालय, बिहार सरकार, पटना; प्रिंसिपल गया प्रसाद सिंह, रामदयालु सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर; डा० सुखदेव सिंह शर्मा, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, दर्शन-विभाग, लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर; श्री विश्वनाथ सिंह, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर तथा प्रोफेसर शारदा सिंह, अध्यक्ष, मगध महिला कॉलेज, पटना ने इस पुस्तक की बहुत ही प्रशंसा की है, जो इनके द्वारा इस पुस्तक के सम्बन्ध में दी गई सम्मतियों से ही स्पष्ट होगा। अपने बहुमूल्य समय को देकर इस पुस्तक की प्रतिलिपि को पढ़कर इसके बारे में अपनी सम्मति देने का जो कष्ट इन लोगों ने किया है, इसके लिए हम उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

मनोविज्ञान के अन्य विशेषज्ञों से हमारा अनुरोध है कि पुस्तक पढ़ने पर यदि वे इसमें कुछ आवश्यक संशोधन की आवश्यकता का अनुभव करें तो कृपया वे अवश्य हमें सूचित करें ताकि हम इस पुस्तक के अगले संस्करण में उनके सुझावों का उपयोग कर सकें।

पुस्तक का मुद्रण कम समय में होने के कारण जगह-जगह इसमें कुछ मुद्रण-सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गई हैं, जिन्हें पढ़ते समय पाठकगण सुधार लेने का कष्ट करेंगे। फिर भी यथासम्भव पुस्तक के अन्त में शुद्धि-पत्र दे दिया गया है।

हमारे श्रद्धेय गुरुवर डॉ० अवध किशोर प्रसाद सिंह, एम० ए० (पैट) एम० एस०-सी०, पी० एच० डी० (मिचिगन), अध्यक्ष मनोविज्ञान-विभाग, पटना कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर हमारे ऊपर जो कृपा की है, उसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

हम अपने आदरणीय गुरुवर डॉ० विमलेश्वर दे, एम० ए०, (पैट), पी० एच० डी० (लंदन) अध्यक्ष मनोविज्ञान-विभाग, लंगट सिंह कॉलेज (बिहार विश्वविद्यालय) के भी सदा ऋणी रहेंगे, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रणयन में समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा हमारा पथ-निर्देशन किया है।

यह श्रद्धेय डॉ० आनन्दी हजारी एम० ए०, (पैट) पी० एच० डी० (लंदन) लंगट सिंह कॉलेज की कृपा एवं प्रोत्साहन का ही फल है कि प्रस्तुत

पुस्तक का दृष्टिकोण इतना अधिक प्रयोगात्मक हो सका है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त ही अनुगृहीत हैं।

श्री विश्वनाथ सिंह, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर ने इस पुस्तक के प्रणयन-काल में समय-समय पर जो अपने सुझाव देकर हमें अनुगृहीत किया है, उसके लिए हम सदा उनके आभारी रहेंगे।

अपने सहकारी प्रो० श्री वीरेन्द्र कुमार सिंह एवं श्री राजेश्वर प्रसाद 'मधुकर' भी हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

हम अपने मित्र श्री चन्द्रदेवनारायण सिन्हा के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने पुस्तक की भाषा को सरल बनाने में योग प्रदान किया है।

अन्त में हम अपने उन विद्यार्थियों के भी कम कृतज्ञ नहीं, जिन्होंने अपना समय देकर इस पुस्तक की प्रेस-प्रतिलिपि तैयार की है तथा चित्रों के डिजाइन बनाये है। इसके लिए उन्हें हम धन्यवाद देते हैं।

राज राजेश्वरी प्रसाद सिन्हा
विमल प्रसाद राय
और
अवधेश कुमार

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

मनोविज्ञान की परिभाषा तथा क्या मनोविज्ञान एक विज्ञान है ?

Definition of Psychology & Is Psychology a Science?

भूमिका—शाब्दिक अर्थ—आत्मा का विज्ञान तथा इसकी आलोचना—मन का विज्ञान तथा इसकी त्रुटियाँ—पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना—चेतन अनुभूति का विज्ञान तथा इसकी आलोचना—व्यवहार का विज्ञान तथा इसकी त्रुटियाँ—व्यवहार तथा अनुभूति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध—मनोविज्ञान की एक उपयुक्त परिभाषा एवं उसका विश्लेषण—मनोविज्ञान की एक दूसरी परिभाषा।

क्या मनोविज्ञान एक विज्ञान है ?—विज्ञान के तीन प्रमुख कार्य—विज्ञान की विशेषताएँ तथा मनोविज्ञान में इन विशेषताओं का समावेश।

मनोविज्ञान प्राणियों (मनुष्य) की प्रकृति (Nature) का एक वैज्ञानिक अध्ययन है। प्राणी किसी कार्य को कैसे (How) करता है एवं क्यों (Why) करता है, इस विषय का अध्ययन करना मनोविज्ञान का उद्देश्य है। मनोविज्ञान इस बात का विश्लेषण करने का प्रयास करता है कि प्राणी किस प्रकार सोचता है (think), उसके अन्दर अनुभवों से कैसा भाव (feel) उत्पन्न होता है, तथा वह वातावरण से अभियोजन के लिए किस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ (actions) करता है।

शाब्दिक अर्थ :—

मनोविज्ञान शब्द सुनने से ऐसा लगता—जैसे यह मन का विज्ञान हो। परन्तु यदि मनोविज्ञान अर्थात् Psychology शब्द की उत्पत्ति पर

विचार किया जाए तो पाया जायगा कि Psychology शब्द लैटिन के दो शब्दों के मेल से बना हुआ है।—

Psyche + Logus = Psychology

(आत्मा Soul) + (विचार-विमर्श Word or talk) = मनोविज्ञान

अर्थात्, Psychology का अर्थ हुआ आत्मा के विषय में बातचीत अथवा विचार-विमर्श (Talk about the Soul)। शाब्दिक अर्थ के अनुसार मनोविज्ञान का यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। Psychology के विकास के आरम्भिक दिनों में जब मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र का भाग माना जाता था, दार्शनिकों ने इसे Science of Soul की संज्ञा दी थी।—

परन्तु समय बीतता गया और मनोविज्ञान धीरे-धीरे दर्शन-शास्त्र की शाखा मात्र न रहकर आज एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप ले चुका है। बीतते हुए समय के साथ-साथ इस नये क्षेत्र मे नये-नये अन्वेषण होते गये जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान की परिभाषा भी क्रमशः बदलती गई। इस सम्बन्ध में जानने की बात यह है कि आज के मनोवैज्ञानिक मनोविज्ञान की परिभाषा देने से अधिक रुचि मनोविज्ञान के क्षेत्र में आविष्कार करने मे रखते हैं। यही कारण है कि आज भी मनोविज्ञान की कोई एक निश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन पायी है। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे दिन-प्रतिदिन होनेवाले अनुसन्धान, नई-नई विधियाँ एवं नई-नई विचारधाराएँ इसके कारण हैं।

यही कारण है कि भिन्न-भिन्न युगों में मनोविज्ञान की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ, दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयीं।

उन परिभाषाओं की त्रुटियों एवं गुणों पर ध्यान देना आवश्यक है। हम उन परिभाषाओं में से प्रमुख परिभाषाओं की चर्चा यहाँ करेंगे।

'आत्मा का विज्ञान' तथा इसकी आलोचना :—

तो सबसे पहली परिभाषा जो दार्शनिकों ने दी वह यह है कि मनोविज्ञान 'आत्मा का विज्ञान' (Science of soul) है। दार्शनिक मान्यताओं की दृष्टि से उस समय के दार्शनिकों को यह परिभाषा जॅची। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो इसके अन्दर कुछ त्रुटि नजर आयेगी।

(१) पहली त्रुटि तो यह है कि Soul अर्थात् आत्मा और मन अर्थात् mind दोनों का आपसी अन्तर इस परिभाषा के द्वारा स्पष्ट

नहीं हो पाया। मन और आत्मा के स्वरूप एवं प्रकृति के विषय में दार्शनिकों में चिरकाल से मतभेद रहा है।

(२) दूसरी त्रुटि यह मानी गई है कि आत्मा शब्द कहने से मनोविज्ञान का गत्यात्मक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। लगता है जैसे आत्मा शब्द किसी सूक्ष्म अथवा अदृश्य वस्तु की चर्चा के अतिरिक्त और कुछ नहीं अभिव्यक्त करता।

(३) कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि आत्मा शब्द एक दार्शनिक शब्द है अर्थात् इसकी चर्चा मनोविज्ञान मे न होकर दर्शन-शास्त्र में होनी चाहिए। यह इसकी तीसरी त्रुटि है।

(४) इसकी चौथी त्रुटि यह है कि इस परिभाषा से यह भी नहीं पता चलता है कि मनोविज्ञान एक समर्थक विज्ञान है अथवा आदर्श निर्धारक विज्ञान है। परिभाषा में इस प्रकार के पद का प्रयोग नहीं होना चाहिए। जिनसे कई एक अर्थ निकलते (Ambiguous) हों।

'मन का विज्ञान' :—

इस प्रकार हमने देखा कि मनोविज्ञान की परिभाषा 'आत्मा का विज्ञान' बहुत उपयुक्त नहीं है। अस्तु नई परिभाषाएँ दी गईं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसे 'Science of mind' अर्थात् 'मन का विज्ञान' कहना अधिक उचित समझा। पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान (Psychology) को 'मन' का विज्ञान (Science of mind) कहना भी इसकी त्रुटि रहित परिभाषा नहीं हो पायी।

इस परिभाषा की त्रुटियाँ :—(१) आत्मा की तरह 'मन' (Mind) का भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाया है। अस्तु जो द्वयर्थता (Ambiguity) पहली परिभाषा में थी प्रायः वैसी ही द्वयर्थता दूसरी परिभाषा में भी लक्षित होती हैं। मन का अर्थ कभी हम हृदय से लेते हैं तो कभी मस्तिष्क से। अस्तु मन के विषय में किसी निश्चित परिभाषा पर एक मत नहीं।

(२) आत्मा की तरह मन को भी नहीं देखा जा सकता है और न उसपर प्रत्यक्ष रूप से (directly) कोई प्रयोग (Experiment) ही सम्भव है। मनोविज्ञान चूँकि प्रयोगात्मक (Experimental) है अस्तु इसके आलोच्य विषय को अधिक स्पष्ट होना चाहिये।

(३) इस परिभाषा में भी यह नहीं कहा गया है कि मनोविज्ञान आदर्श निर्धारक (Normative) है अथवा समर्थक (Positive) विज्ञान है।

(४) साथ-साथ मन शब्द को परिभाषा में रखने से मनोविज्ञान के आलोच्य विषय (Subject matter) का गत्यात्मक रूप (Dynamic Nature) स्पष्ट नहीं हो पाता।

यह परिभाषा १६वीं शताब्दी में दी गई थी। यह वह युग था जब मनोविज्ञान को लोग काल्पनिक दर्शन (Speculative Philosophy) का एक अभिन्न अंग मानते थे। इसलिए, उस समय के मनोविज्ञान को 'फायर-साईड साइकोलौजी' (Fire-Side-Psychology) भी कहा गया है। अर्थात् मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए मनुष्यों को आराम से अँगीठी के सामने बैठकर सिर्फ अपने आन्तरिक विचारों एवं भावनाओं पर ध्यान देना ही काफी था। जैसा कि जाड़े के दिनों में अपने प्रदेश में लोग अँगीठी के सामने बैठकर अपने मन की बातों पर चिन्तन करते अकसर पाये जाते हैं।

इस प्रकार के आत्मा-चिन्तन (Speculation) से उत्पन्न मनोविज्ञान के लिए किसी भी प्रकार के प्रयोग (Experiment) की आवश्यकता नहीं थी। कोई भी व्यक्ति जो अन्तर्निरीक्षण (Introspection) के द्वारा अपनी भावनाओं का अध्ययन करने में समर्थ था, उसे हम मनोवैज्ञानिक होने की सज्ञा दे सकते थे।

इस युग के दार्शनिक मनोवैज्ञानिक (Philosopher Psychologist) मानसिक अवस्था की वास्तविकता (Truth) को एवं उन पर प्रयोगों की सम्भावना पर विश्वास न कर केवल उतनी ही बातों को स्वीकार करना चाहते थे जो वे अपने व्यक्तिगत (Speculation) चिन्तन के द्वारा अपनी मानसिक एवं शारीरिक अवस्थाओं के विषय में निष्कर्ष निकाल पाते थे।

पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना :—

परन्तु ऊँट (Wundt) नामक मनोवैज्ञानिक ने १८७६ में लिपजिग (Leipzig) नामक स्थान पर पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की, जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान में प्रयोगों द्वारा ज्ञानवृद्धि की अधिक सम्भावना देखी गई। इसका असर यह हुआ कि मनोविज्ञान का

दार्शनिक रूप धीरे-धीरे 'प्रयोगात्मक' रूप में परिणत हो गया और दार्शनिक मनोविज्ञान की जगह वैज्ञानिक मनोविज्ञान (Scientific Psychology) ने ले ली। इसके साथ-साथ दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों की संख्या घटते घटते समाप्त हो गई तथा मनोविज्ञान में प्रयोगवाद (Experimentalism) का नया युग प्रारम्भ हुआ। फलतः नई-नई परिभाषाएँ फिर आईं। आज क सामान्य मनोविज्ञान (General Psychology) का प्राचीन काल्पनिक दर्शन (Speculative Philosophy) से अब कोई पहले जैसा सम्बन्ध नहीं रह गया है। आज का सामान्य मनोविज्ञान पूर्णतः वैज्ञानिक विधियों एवं उनसे प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित है।

'चेतना का विज्ञान' तथा इसकी आलोचना :—

मनोविज्ञान के विकास के इतिहास पर ध्यान देने से समय-समय पर दी गई मनोविज्ञान की परिभाषाओं को समझने मे अधिक सहायता मिलती है। फलतः वुंट (Wundt), टिचेनर (Titchener) आदि मनोवैज्ञानिकों ने, जो मनोविज्ञान के 'स्ट्रकचरलिस्ट स्कूल' (Structuralist School) के हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness) कहकर पुकारा। उनका कहना था कि इस चेतन अनुभूति का अध्ययन अन्तर्निरीक्षण (Introspection) की विधि के द्वारा सम्भव है। अब हमलोग इस परिभाषा की उपयुक्तता (Correctness) पर विचार करें। मनोविज्ञान की यह परिभाषा भी त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि (१) मनोविज्ञान में हम केवल चेतना का ही अध्ययन नहीं करते वल्कि अचेतन तथा उपचेतन आदि क्रियाओं जैसे सहज क्रियाओं, स्वप्न, मानसिक बीमारियों आदि का भी अध्ययन करते हैं।

(२) दूसरी बात यह है कि चेतन अनुभूतियों के साथ-साथ हम व्यवहारों का भी अध्ययन करते हैं।

(३) इतना तो इस परिभाषा में भी कहना चाहिए था कि यह विज्ञान है तो किस प्रकार का विज्ञान है।

आगे आनेवाले मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान नहीं कहकर 'चेतन अनुभूति का विज्ञान' कहा है—'Psychology is the Science of Conscious experience.'

व्यवहार का विज्ञान तथा इसकी त्रुटियाँ :—

परन्तु इन परिभाषाओं की त्रुटियों के कारण बीसवीं शताब्दी में वाटसन (Watson) आदि व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने कहा कि चेतन अनुभूतियाँ मनोविज्ञान का आलोच्य विषय (Subject matter) नहीं हो सकतीं। उनके अनुसार 'व्यवहार' (Behaviour) ही मनोविज्ञान का आलोच्य विषय था। तथा इसके अध्ययन की विधि वाह्य-निरीक्षण (Objective observation) ही था।

इस तरह हम देख रहे हैं कि परिभाषाओं के विकास के साथ-साथ उनकी त्रुटियाँ भी प्रायः कम होती गयी है। परन्तु फिर भी मनोविज्ञान को व्यवहारों का समर्थक विज्ञान कहना भी त्रुटि रहित नहीं है, क्योंकि हम प्राणी के व्यवहारों का ही सिर्फ अध्ययन नहीं करते वरन् हम उन व्यवहारों मे सम्बन्धित अनुभूतियों का भी अध्ययन करते हैं। सच पूछिये तो यदि व्यवहारों से उनकी अनुभूतियों का सम्बन्ध अलग कर दिया जाय तो व्यवहार निरर्थक हो जाते हैं। अस्तु 'व्यवहार' और 'चेतन अनुभूतियाँ' दोनों को परिभाषा मे सम्मिलित करना चाहिए था। यदि हम यह कहें कि मनोविज्ञान केवल व्यवहार का अध्ययन करता है और चेतन अनुभूतियों का नहीं, तो ऐसा कहकर हम मनोविज्ञान के क्षेत्र की परिधि को अत्यन्त सीमित कर देंगे।

अस्तु, मनोविज्ञान को सिर्फ व्यवहार का विज्ञान कहना उपयुक्त नहीं।

'व्यवहार' तथा 'अनुभूति' का अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध :—

मनोविज्ञान केवल चेतन अनुभूतियों का विज्ञान है, अथवा सिर्फ व्यवहारों का ही ! इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि दोनों विचार दो विरोधी छोरों (Extremes) पर ह। दोनों परिभाषाएँ सिर्फ आंशिक सत्यता रखती हैं।

सत्यता यह है कि यदि व्यवहारों को अनुभूतियों से पूर्णतः अलग कर दिया जाय तो व्यवहारों का अपना कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। जैसे अगर रोने के व्यवहार से, रोने की क्रिया मे छिपी हुई दुःखद अनुभूति को पृथक् कर दिया जाय तो रोने का व्यवहार निरर्थक हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार अगर किसी के हँसने की क्रिया से उस क्रिया के पीछे छिपी हुई प्रसन्नता की अनुभूति को अलग कर दें तो हँसने के व्यवहार का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

साथ-साथ हम यह भी पाते हैं कि एक ही व्यवहार के पीछे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न अनुभूति हो सकती है। जैसे रोने का ही व्यवहार लें। रोने के व्यवहार मे दुःख की अनुभूति होती है। परन्तु मिथिला में दो महिलाएँ जब एक दूसरे से कुछ दिनों तक अलग रहने के बाद मिलती हैं तो प्रसन्नता के कारण रोती पायी जाती हैं। अस्तु, इस प्रकार के रुदन मे प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

अस्तु, परिस्थिति-विशेष मे रोने के व्यवहार के अध्ययन के लिए उसके अन्दर छिपी हुई अनुभूति को भी समझने की आवश्यकता होती है।

फलतः किसी को रोते देखकर ही यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि उसकी अनुभूति कैसी हो रही होगी। अस्तु अनूभूतियों का अध्ययन भी जरूरी है। फिर रोने का व्यवहार कई एक कारणों से हो सकता है। कोई परीक्षा में फेल हो जाने के कारण रोता है, कोई अपने पिता की मृत्यु के कारण रोता है तो कोई प्रेयसी से बिछुड़ने के कारण रोता है—सभी रोने में दुःख की अनुभूति होती है, परन्तु दुःख की तीव्रता एवं स्वभाव (nature) म अन्तर होता है। परिणामस्वरूप व्यवहारों के अध्ययन के लिए हमे उनके अन्दर की अनुभूतियों की तीव्रता (intensity) का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। व्यवहारों को अनुभूतियो से अलग नहीं किया जा सकता।

ठीक इसी प्रकार हम किसी की अनुभूतियों को बिना उसके व्यवहारो को देखे तथा उनका सम्बन्ध अनुभूतियों से जाने बिना नहीं समझ सकते। व्यवहार और अनुभूतियों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मनोविज्ञान का आलोच्य विषय दोनों मे से सिर्फ एक न होकर दोनों होना चाहिए—ऐसा उचित प्रतीत होता है। अस्तु, मनोविज्ञान को हम मानसिक प्रक्रियाओ (mental processes) का विज्ञान कह सकते हैं जो शारीरिक व्यवहारों के द्वारा प्रकट होती है तथा जिन्हें हम अपने अनुभवों के द्वारा समझ पाते हैं।

मनोविज्ञान की एक उपयुक्त परिभाषा तथा इसका विश्लेषण :—

अस्तु मनोविज्ञान की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार-सी दी गई है, जो उपयुक्त मालूम पड़ती है—'मनोविज्ञान एक ऐसा समर्थक विज्ञान है

जो प्राणी की अनुभूतियों एव व्यवहारों का अध्ययन अनुभूतियों के माध्यम से करता है। ('Psychology is the positive science of experience and behaviour interpreted in terms of experience'.)

अब हम इस परिभाषा का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से करेंगे—

(१) समर्थक विज्ञान (Positive Science)—मनोविज्ञान को जब हम विज्ञान कहते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है समर्थक विज्ञान से। क्योंकि मनोविज्ञान अपने अलोच्य विषय (Subject matter) का निष्पक्ष एव ज्यो का त्यों (deseribes as it is) वर्णन करता है। यह किसी प्रकार के आदर्श निर्धारण का अभ्यास नहीं करता, जो नीतिशास्त्र (Ethics) आदि जैसे आदर्श निर्धारक विज्ञान का काम है। विज्ञान किसी वस्तुविशेष का क्रमबद्ध (systematic) नियन्त्रित (controlled) तथा निश्पक्ष (objective) अध्ययन है।

(२) अनुभूति (Experience)—प्राणी जब तक जीवित रहता है तब तक वह आन्तरिक एवं वाह्य उत्तेजनाओ से किसी न किसी रूप में प्रभावित होता रहता है। इन उत्तेजनाओं के बीच उसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इन परिवर्त्तनशील अवस्थाओं अथवा परिस्थितियों से प्राणी में उत्पन्न प्रभावों (effects) को ही अनुभूति कहा जाता है। यह अमुभूति चेतन (conscious), उपचेतन (subconscious) तथा अचेतन (unconscious) होने के अतिरिक्त शारीरिक (bodily) अथवा मानसिक (mental) दोनों प्रकार की हो सकती हैं। इसलिए प्राणो की हरेक प्रतिक्रिया (reaction) के पीछे कोई न कोई अनुभूति छिपी ही होती है। यदि अनुभूति का विस्तृत अर्थ (wider sense) लिया जाय तो इससे उन सभी प्रतिकियाओं का बोध होता है जिनके होने के कारण प्राणी को हम जीवित कह सकते हैं। (It means any reaction through which the organism lives. In this sense it includes any reaction whether mental or bodily-Spearman.)

परन्तु संकुचित अर्थ (narrow sense) मे अनुभूतियों का अर्थ उत्तेजनाओं की चेतना है। परन्तु मनोविज्ञान म हम अनुभूतियों को एक विस्तृत अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं। अस्तु, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, संवेग, भाव, स्मरण, सीखना आदि सभी मानसिक प्रकियाएँ किसी न

किसी प्रकार की अनुभूतियाँ ही हैं, जो वातावरण से उपयुक्त अभियोजन (adjustment) के लिए आवश्यक हैं।

(३) **व्यवहार** (Behaviour)—विस्तृत अर्थ मे व्यवहार से भी प्राणी की सारी प्रक्रियाओं का बोध होता है। ये प्रक्रियाएँ चेतन हों अथवा अचेतन, शारीरिक अथवा मानसिक इन्हें हम व्यवहार की ही संज्ञा देंगे। इस विस्तृत अर्थ में मैक्डूगल (Mc Dougall) ने मनोविज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा था कि मनोविज्ञान व्यवहारों का समर्थक विज्ञान है। (Psychology is the positive science of behaviour.)

परन्तु बाद में चलकर व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने 'व्यवहार' शब्द में सिर्फ उन प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया जो पूर्णतः शारीरिक हैं और जिन्हें हम बाहर से देख सकते हैं. जैसे—दौड़ना, हँसना, रोना, खाते समय मुँह को चलाना आदि। परन्तु व्यवहार को भी मनोविज्ञान में हम संकुचित अर्थ मे नहीं ग्रहण करते।

व्यवहार और अनुभूति दोनों को उनके विस्तृत अर्थ में देखने मे पता चलता है कि दोनों मे एक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अर्थात् हम एक को दूसरे से सर्वथा अलग नहीं कर सकते। व्यवहार को अनुभूति से पृथक् कर दिये जाने पर उसका कोई अर्थ नहीं रहता। हम अपने तथा दूसरो के व्यवहारों का अध्ययन अनुभूतियों के माध्यम से ही कर पाते हैं।

(४) **अनुभूतियों के माध्यम से** (Interpreted in terms of experience)—हम दूसरे के व्यवहारों को अपने गत अनुभवों के आधार पर समझ जाते हैं। जब कोई व्यक्ति आँखें लाल-लाल किये, जोर-जोर से बोलता है तथा अंग संचालन करता है तो परिस्थिति विशेष को देखकर हम तुरत उसके व्यवहारों का अर्थ समझ लेते हैं कि अमुक व्यक्ति क्रोधित हो गया है तथा उसके व्यवहार उसके क्रोध के सूचक हैं। यहाँ दूसरे के क्रोधपूर्ण व्यवहार का अर्थ हमने अपनी अनुभूति के द्वारा जान लिया। अस्तु व्यवहारों का अर्थ स्पष्टीकरण अनुभूतियों के द्वारा होता है।

मनोविज्ञान की एक दूसरी परिभाषा :—

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि मनुष्यों के व्यवहार वातावरण से अभियोजन (adjustment) के लिए ही किये जाते हैं। अस्तु,

कुछ मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गई निम्नलिखित परिभाषा भी यथेष्ट मालूम होती है।

"मनोविज्ञान वातावरण के सम्पर्क से प्राणी में अभियोजन के उद्देश्य से उत्पन्न होनेवाली क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) का समर्थक विज्ञान है।"

[Psychology may be defined as a positive science which studies the activities of the organism (mental or bodily) resulting from environmental stimulations for the sake of adjustment to them.]

प्राणी द्वारा किये गये वातावरण के इस अभियोजन पर हम आगे चौथे अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मनोविज्ञान एक प्रगतिशील विज्ञान है, हमें यह नहीं समझना चाहिए कि यह परिभाषा ही सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ अथवा अन्तिम परिभाषा है। मनोविज्ञान दिनानुदिन प्रगति कर रहा है और यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि कुछ वर्षों बाद मनोविज्ञान की फिर एक नई परिभाषा हमारे सामने आ जायेगी। सच तो यह है कि मनोविज्ञान अपने जिस शाब्दिक अर्थ अथवा आलोच्य विषय (आत्मा पर विचार-विमर्श) को लेकर अध्ययन करने चला था वह अब एकदम बदल गया है। आज हम मनोविज्ञान में आत्मा की बात नहीं करते। आज हमारे आलोच्य विषय का क्षेत्र आत्मा से हटकर अत्यन्त विस्तृत एवं कई शाखाओं में विभक्त हो गया है जिनकी चर्चा हम आगे दूसरे अध्याय में करेंगे। आज हमारे अध्ययन का आलोच्य विषय ही नहीं बदल गया बल्कि हमारे अध्ययन की विधियाँ भी परिमार्जित एवं परिवर्तित हो गई हैं। इसलिए कुछ आधुनिक विचारकों का कहना है कि आज मनोविज्ञान (Psychology) का सर्वथा एक नया नामकरण होना चाहिए।

क्या मनोविज्ञान एक विज्ञान है ?

(Is Psychology a Science ?)

इस प्रश्न के उत्तर के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान किसे कहते हैं। विज्ञान का अर्थ होता है विशेष ज्ञान। यह किसी निश्चित विषय का क्रमबद्ध (systematic) एवं निष्पक्ष (unbiased)

अध्ययन करता है। कोई भी विज्ञान अपने आलोच्य विषय का अध्ययन अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक विधियों द्वारा करता है तथा इनसे प्राप्त सामग्रियों (Data) के आधार पर सामान्य नियमों (General rules) का प्रतिपादन करता है। इन नियमों के सहारे यह अपने आलोच्य विषय की गुत्थियों को सुलझाने एवं अधिक स्पष्ट करने में समर्थ होता है।

जब तक अध्ययन की विधियाँ वैज्ञानिक नहीं होंगी तब तक उनसे प्राप्त निष्कर्षों की विश्वसनीयता (reliability) एव सत्यता (validity) पर विश्वास नहीं किया जा सकता। किसी भी ज्ञान भण्डार को तब तक विज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती जब तक कि उसमें अपने आलोच्य विषय के सम्बन्ध मे ज्ञानार्जन की विधियाँ पूर्णरूपेण वैज्ञानिक नहीं हैं।

विज्ञान के निम्नलिखित तीन प्रमुख कार्य हैं :—

(१) अपनी वैज्ञानिक विधियों के द्वारा किसी निश्चित विषय के सम्बन्ध मे निष्पक्ष रूप से सामग्रियों (Data) को प्राप्त करना तथा उन्हें क्रमवद्ध रूप से संग्रह करना।

(२) प्राप्त की गयी सामग्रियों (Data) के आधार पर सामान्य नियमों का प्रतिपादन करना।

(३) तथा इन सामान्य नियमों के द्वारा अपने आलोच्य विषय की समस्याओं का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण करना।

जिस अध्ययन में उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पादित होते पाये जायेंगे उसे हम वैज्ञानिक अध्ययन कहेंगे। इन तीनों कार्यों को किये बिना हमारा निष्कर्ष विश्वसनीय (reliable) एवं सही (valid) नहीं हो सकता।

मनोविज्ञान के अध्ययन मे ऊपर लिखी गई सारी बातें पायी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक अपने ज्ञान की सामग्रियों का संग्रह अन्य विज्ञानों की तरह निष्पक्ष निरीक्षण (Objective observation) एव प्रयोग (Experiment) की विधियों के द्वारा करता है। मनोविज्ञान अपने अध्ययनों द्वारा अर्जित ज्ञान को क्रमवद्ध रूप में संग्रह करता है तथा उनसे यह अपने सामान्य नियमों की रचना करता है जिनसे उसकी अपनी समस्याओं का समाधान हो पाता है।

विज्ञान की विशेषताएँ

(Characteristics of a Science)

साधारणत: किसी विज्ञान जैसे भौतिक-शास्त्र (Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry), जीव-विज्ञान (Biology) आदि में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं।

(१) निष्पक्ष अध्ययन द्वारा सामग्रियो का संग्रह करना (Collection of data by objective study)

(२) वैज्ञानिक विधियों द्वारा ज्ञान-अर्जन करना (Development of Knowledge by Scientific methods)

(३) संग्रह की हुई सामग्रियों को एक क्रमबद्ध रूप देना (Systematization of Knowledge)

(४) ज्ञान मे प्रगतिशीलता (Progressiveness in Knowledge)

(५) अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति एवं जाँच का सम्भव होना (Revision & Verification)।

(६) प्रयुक्तता (Applicability)।

(७) तथा विषय की सत्यता की अनन्त खोज करना (Endless Search for the truth, regarding the subject matter)।

अब हम संक्षेप मे एक एक कर इन पर प्रकाश डालेंगे।

(१) निष्पक्ष अध्ययन द्वारा सामग्रियों का संग्रह करना (Collection of Data by objective Study)—निष्पक्ष अध्ययन किसी भी विषय का पक्षपात रहित अध्ययन है। मनोविज्ञान अपने आलोच्य विषय का निष्पक्ष अध्ययन करता है। इसकी निष्पक्षता, इसकी प्रयोगात्मक विधि के द्वारा अधिक स्पष्ट की जा सकती है।

रसायन-शास्त्र का ज्ञाता (Chemist) जब अपने प्रयोगशाला में प्रायोगिक नलिका (Test tube) मे किसी विशेष गैस (Gas) का अध्ययन करता है तो वह गैस के अध्ययन पर अपनी किसी मनोवृत्ति (Attitude) अथवा अपनी पक्षपातपूर्ण विचारधारा (Bias & Prejudices) एव अपने जीवन दर्शन (Philosophy of life) आदि का प्रभाव नहीं पड़ने देता।

वह निष्पक्ष रूप से गैस के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का अध्ययन करता जाता है।

ठीक इसी प्रकार एक मनोवैज्ञानिक किसी बहुत बड़े प्रभुत्वपूर्ण (Powerful) व्यक्ति का भी अध्ययन करने के समय न उस व्यक्ति के सामाजिक प्रभुत्व से प्रभावित होता है और न अपने में किसी प्रकार के पक्षपात की भावना से। वह अपने अध्ययन में वैज्ञानिक विधियो द्वारा उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का जैसा रूप पाता है उसे वह ठीक उसी प्रकार पूर्ण निष्पक्षता के साथ वर्णन भी करता है।

(२) वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करना (Use of Scientific Method) इस प्रकार का अध्ययन वैज्ञानिक विधियों द्वारा ही सम्भव है। आज मनोवैज्ञानिक, अध्ययनों में प्रयोग (Experiment) भी करते हैं जो मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं (Psychological Laboratory) के अन्दर एवं बाहर दोनों जगहों में सम्भव हो पा रहा है।

यहाँ मनोदैहिक विधियों (Psychophysical methods) तथा नियन्त्रित एवं प्रयोगात्मक ग्रूप की विधि (Controlled and Experimental group) आदि का उपयाग किया जाता है। इन विधियों के फलस्वरूप हमारे अध्ययन में अधिक दुरुस्ती (Precision) एवं यथार्थता (Accuracy) आ पाती है। ये विधियाँ बार-बार एक ही रूप से दुहराई भी जा सकती ह।

मनोविज्ञान में पहले आत्मनिष्ठ विधियो (Subjective methods) का ही अधिक उपयोग होता था। परन्तु आज उनका स्थान वैज्ञानिक विधियाँ ले चुकी हैं। मनोविज्ञान की विधियों का उल्लेख करते समय इन पर हम आगे तीसरे अध्याय मे विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे।

(३) क्रमबद्ध ज्ञान (Systematic knowledge)।

मनोविज्ञान का ज्ञान-भण्डार बिखरा हुआ नहीं है, वरन् इसमें प्राप्त सामग्रियों का परिगणनात्मक निरूपण (Statistical treatment) कर इसे क्रमबद्ध रूप दिया गया है।

(४) प्रगतिशीलता (Progressiveness)।

अन्य विज्ञानों के तरह मनोविज्ञान भी अपने क्षेत्र मे प्रगति करता जा रहा है। यह अपने प्राप्त निष्कर्षों से पूर्णरूपेण सन्तुष्ट नहीं है, इसलिए

इसके क्षेत्र में नये-नये अन्वेषण (Researches) होते जा रहे हैं। फलतः दिनानुदिन इसके ज्ञान-भण्डार का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है।

(५) जाँच एवं पुनरावृत्ति (Verification and Revision)

मनोविज्ञान को अपने अन्वेषणों (Researches) से प्राप्त निष्कर्षों पर मिथ्या गौरव नहीं है। यदि मनोवैज्ञानिक को यह मालूम हो जाता है कि उसके निष्कर्षों एवं नियमों में कोई त्रुटि रह गयी है, तो वह अपनी वैज्ञानिक विधियों द्वारा फिर से नये-नये प्रयोगों की पुनरावृत्ति कर अपने निष्कर्षों की सत्यता पर विचार करता है। अगर उसे पहले का निष्कर्ष गलत दृष्टिगत होता है तो वह विना संकोच के पुराने निष्कर्षों का परित्याग कर देता है और नये निष्कर्षों को मान्यता देता है।

(६) प्रयुक्तता (Applicability)।

विज्ञान मे प्रयुक्तता क गुण का महत्व माना गया है। विज्ञान के निष्कर्षों से हमे अन्य समस्याओं को समझने एवं सुलझाने मे यदि यथेष्ट सहायता मिले तो हम यह कह सकते हैं कि अमुक विज्ञान में प्रयुक्तता का गुण है। आज मनोविज्ञान की प्रयुक्तता में संसार को जरा भी शक नहीं।

आज शिक्षा, सेना, उद्योग-धन्धों, व्यवसाय, मानसिक बीमारियों आदि सभी क्षेत्रों में मनोविज्ञान की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है। इनका वर्णन विस्तार में अगले अध्याय मे किया जायगा।

(७) विषय की सत्यता की अनन्त खोज (Endless Search for the truth regarding its Subject matter)।

अन्त मे यह कहना आवश्यक है कि विज्ञान के क्षेत्र मे अपने विषय की सत्यता की खोज एवं उसे प्रमाणित करने के प्रयास में वैज्ञानिक अनन्त प्रयास करते जा रहे हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी इस 'अनन्त अन्वेषण' का गुण वर्तमान है।

यही कारण है कि मनोविज्ञान आज अपने विषय का क्रमबद्ध, सुसंगठित एवं व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कर सका है। अस्तु, मनोविज्ञान के विज्ञान होने में अब किसी को कोई विशेष शक नहीं रह गया है।

इस प्रकार उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि चूँकि एक विज्ञान की जितनी भी विशेषताएँ हैं, वे सब मनोविज्ञान में वर्त्तमान हैं, हम मनोविज्ञान को भी विज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं। परन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानों (Physical Sciences) की तरह एक पूर्णरूपेण यथार्थ विज्ञान (Exact Science) क्यों

नहीं है। इसका प्रमुख कारण मनोविज्ञान का आलोच्य विषय ही है। मनोविज्ञान के आलोच्य विषय का सम्बन्ध मूलतः मनुष्यों से है। अन्य विज्ञानों के आलोच्य विषय या तो पूर्णतः निर्जीव हैं (जैसे, गैस, रंग, पत्थर, मिट्टी आदि) अथवा यदि जीवधारी है तो वे ऐसे जीव हैं जो विकास के दृष्टिकोण से मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ही निम्नकोटि के हैं। फलतः गैस, रंग, पत्थर आदि पर वैज्ञानिक अध्ययनों के सिलसिले मे वैज्ञानिक जितना अधिक नियन्त्रण (Control) करना चाहते है वे सफलता के साथ कर पाते हैं। परन्तु मनुष्य पर किये गये प्रयोगों के सिलसिले मे उतना अधिक नियन्त्रण कर पा सकना मनोवैज्ञानिकों के लिए, कठिन ही नहीं वरन् असम्भव जैसा है।

फिर भी जितना नियन्त्रण सम्भव हो पाता है, उतना तो वे करते ही हैं।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में बरते गये नियन्त्रण के अनुपात की इसी विभिन्नता के कारण कुछ आलोचको ने मनोविज्ञान को अर्द्ध विज्ञान (Semi Science) अथवा नकली विज्ञान (Psuedo Science) कहा है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि मनोविज्ञान के निष्कर्ष भौतिक विज्ञानों के (Physical Sciences) निष्कर्षों की तरह यथार्थ (Exact) नहीं होते। बल्कि ये भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में बदलते जाते हैं।

परन्तु यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि मनोविज्ञान का आलोच्य-विषय मनुष्यों से सम्बन्ध रखता है जिनमें सदा कुछ न कुछ परिवर्त्तन होते रहते हैं तो इसके प्राप्त निष्कर्षों की यथार्थता (Exactness) की त्रुटि का अधिक महत्त्व नहीं रह जायगा।

परन्तु जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, किसी भी विषय का वैज्ञानिक होना उसके आलोच्य-विषय आदि से अधिक उसकी विधियों की वैज्ञानिकता पर निर्भर करता है—हम पाते हैं कि मनोविज्ञान की विधियों को पूर्णरूपेण वैज्ञानिक माना जा सकता है।

अस्तु हम अन्त मे यह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक विधि एव विज्ञान की अन्य सारी विशेषताओं के वर्तमान होने के कारण मनोविज्ञान को निःसन्देह एक विज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं।

दूसरा अध्याय

मनोविज्ञान की शाखाएँ एवं इसकी उपयोगिताएँ

(Branches and Uses of Psychology)

भूमिका—सैद्धान्तिक मनोविज्ञान—सामान्य, शारीरिक, प्रयोगात्मक, बाल, पशु, असामान्य तथा सामाजिक मनोविज्ञान।

व्यवहारिक मनोविज्ञान—शिक्षा, औद्योगिक तथा व्यावसायिक, औपचारिक, चिकित्सा, अपराध-सम्बन्धी एवं कानून-सम्बन्धी मनोविज्ञान तथा मनोविज्ञान की उपयोगिताएँ।

सन् १८७९ मे वुंट (Wundt) महोदय नामक मनोवैज्ञानिक ने मनोविज्ञान की सर्वप्रथम स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत की। उनके अनुसार "Psychology is the study of normal human adult mind". आगे चलकर जो प्रयोग मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए उनसे यह स्पष्ट पता चला कि वुंट महोदय के द्वारा दी गयी परिभाषा मनोविज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत न बनाकर सीमित बना रही थी। वुंट के अनुसार मनोविज्ञान सिर्फ सामान्य, वयस्क, मनुष्यों की मानसिक स्थितियों का अध्ययन है। इस परिभाषा के विरुद्ध की गयी प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप आज हम मनोविज्ञान के क्षेत्र का विस्तार विभिन्न शाखाओं मे पाते हैं। आज मनोविज्ञान न केवल सामान्य व्यक्तियों का अध्ययन करता है, बल्कि असामान्य व्यक्तियों का भी अध्ययन कर रहा है। आज हम वयस्कों के अतिरिक्त मनोविज्ञाम द्वारा बालकों एवं किशोरों का भी अध्ययन करने लगे हैं। आज मनोविज्ञान का क्षेत्र मनुष्यों तक सीमित नहीं वरन् पशुओं पर भी हमारे मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो रहे हैं। साथ-साथ मनुष्यों के जीवन से

सम्बन्धित भिन्न-भिन्न क्षेत्र जैसे चिकित्सा, शिक्षा, उद्योग एवं व्यवसाय, अपराध आदि भी मनोविज्ञान की अपनी नवीन शाखाएँ विकसित हो गयी हैं।

इन अनेक शाखाओं को पाठकों के सामने हम निम्नलिखित प्रकार से विभक्त कर प्रस्तुत कर सकते हैं। ये शाखाएँ पूर्णतः एक दूसरे से पृथक् नहीं, इनका वर्गीकरण सिर्फ इन्हें स्पष्ट रूप से समझने के लिए ही किया गया है।

आगे की तालिका से ज्ञात होता है कि हम साधारणतः मनोविज्ञान की शाखाओं को दो भागों में बाँट सकते हैं। (क) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान (Pure or Theoretical Psychology) तथा (ख) व्यवहारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology)। इन दोनों की भी अपनी-अपनी शाखाएँ हैं जिनमे कुछ मुख्य शाखाओं का उल्लेख हम विस्तार में आगे करेंगे।

(क) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान (Pure or Theoretical Psychology)—इसके अन्तर्गत मनोविज्ञान की वे सब शाखाएँ आती हैं जिनका कार्य मनोवैज्ञानिक ज्ञान (Psychological Knowledge) को बढ़ाना है।

(ख) व्यवहारिक मनोविज्ञान (Applied psychology)—व्यवहारिक मनोवैज्ञानिक (Applied psychologist) या हम यह भी कह सकते हैं कि व्यवहारिक मनोविज्ञान (Applied psychology) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की शाखाओं द्वारा अर्जित मनोवैज्ञानिक ज्ञान का व्यवहार एवं उपयोग जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित समस्याओं को दूर करने में करता है।

उदाहरणार्थ—मानसिक बीमारियों (mental diseases) को रोकना तथा उनकी चिकित्सा करना, शिक्षा तथा उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न समस्याओं को हल करना, कार्य का चुनाव (choice of vocation), बच्चों का पालन-पोषण करना तथा अन्य क्षेत्रों में मनोविज्ञान का उपयोग कर इनकी समस्याओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उन्हें दूर करना तथा सही-सही रूप से उनको हल करना ही व्यवहारिक मनोवैज्ञानिक का कर्त्तव्य है।

मनोविज्ञान की शाखाएँ (Branches of Psychology)
(क) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान
(Pure or Theoretical Psychology)
(ख) व्यवहारिक मनोविज्ञान
(Applied Psychology)
१ सामान्य या मानव मनोविज्ञान (General or Human Psychology)
२ शारीरिक मनोविज्ञान (Physiological Psychology)
३ प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology)
४ बाल मनोविज्ञान (Child Psychology)
५ पशु मनोविज्ञान (Animal Psychology)
६ असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology)
७ सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology)
१ शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology)
२ औद्योगिक तथा व्यवसायिक मनोविज्ञान (Industrial & Vocational Psychology)
३ औपचारिक मनोविज्ञान (Clinical Psychology)
४ चिकित्सा मनोविज्ञान (Medical Psychology)
५ अपराध-सम्बन्धी मनोविज्ञान (Criminal Psychology)
६ कानून सम्बन्धी मनोविज्ञान (Legal Psychology)

इस तरह हम देखते हैं कि अब मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र (Philosophy) की एक शाखा मात्र तो नहीं ही रहा बल्कि इसमें दिन प्रतिदिन होनेवाले अन्वेषणों (researches) तथा प्रयोगों (experiments) के कारण मनोवैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि भी हो रही है। इन अर्जित ज्ञानों का उपयोग जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने के फलस्वरूप इसका क्षेत्र अब बहुत ही विस्तृत हो गया है। किन्तु वस्तुतः हर शाखाओं में प्राणी की क्रियाओं, (व्यवहार तथा अनुभूति) का ही अध्ययन होता है। सिर्फ जिस परिस्थितिविशेष में उसकी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है उसके स्वभाव (Nature) में ही अन्तर है। जैसे शिक्षा मनोविज्ञान मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन शिक्षा से सम्बन्धित परिस्थितियों में करता है, और औद्योगिक मनोविज्ञान मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन उसके उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित परिस्थितियों में करता है।

अस्तु हम देखते हैं कि सैद्धान्तिक मनोविज्ञान अपने क्षेत्र में ज्ञान-वृद्धि में लगा है तथा व्यवहारिक मनोविज्ञान उन अभिवृद्ध ज्ञानों को जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त कर प्राणियों के लिए उनका उपयोग सिद्ध करना चाहता है।

इस तरह हम देखते हैं कि इसकी भिन्न-भिन्न शाखाओ के ध्येय में समानता होने के कारण सभी शाखाओं में परस्पर सम्बन्ध है। अब हम नीचे मनोविज्ञान की कुछ प्रमुख शाखाओं पर एक-एक कर विचार करेंगे और देखेंगे कि किस तरह इन सबों में परस्पर सम्बन्ध है।

(१) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान
(Pure or Theoretical Psychology)

(१) सामान्य अथवा मानव मनोविज्ञान (General or Human Psychology)—इसके अन्तर्गत प्रौढ़ मनुष्यों की सामान्य क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) का अध्ययन किया जाता है—[Study of the activities (Mental or bodily) of the normal adult human being.] प्रौढ़ मनुष्यों की क्रियाओं (शारीरिक तथा मानसिक) का अध्ययन वैज्ञानिक विधियों द्वारा किया जाता है तथा उनकी उत्पत्ति (origin), वृद्धि (growth) तथा विकास

(development) से सम्बन्धित सामान्य नियमों (General Laws) की खोज की जाती है। भिन्न-भिन्न मानसिक क्रियाएँ (mental processes) जैसे संवेदना (Sensation), प्रत्यक्षीकरण (Perception), ध्यान देना (attending), स्मरण तथा विस्मरण (Remembering and forgetting), चिन्तन (Thinking), संवेग तथा भाव (emotion and feeling), आदि का अध्ययन कर उनके बारे मे सामान्य नियमों का पता मानव के व्यवहारों को समझने (Understand), उनको नियन्त्रित (Control) करने तथा उनके बारे मे भविष्यवाणी (Predict) करने के हेतु किया जाता है। अस्तु इसके दो प्रमुख उद्देश्य हैं—

(i) मानव के व्यवहारों का नियन्त्रण (Control of human behaviour)।

(ii) मनुष्य में भविष्यकाल में होनेवाले व्यवहारों का अनुमान वर्तमान में कर लेने का प्रयास (Prediction of human behaviour)।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामान्य मनोविज्ञान सामान्य व्यक्तियों की सामान्य क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान के मूलसिद्धान्तों (जो व्यक्तियों के सामान्य व्यवहारों से सम्बद्ध है) का पूर्ण रूप से ज्ञान होना मनोविज्ञान की अन्य शाखाओ को ठीक से समझने के लिए आवश्यक है। मनोविज्ञान सम्बन्धी अन्य ज्ञान इसी ज्ञान पर आधारित है। यह अपने प्रस्तुत विषय का अध्ययन करने के लिए आत्मनिष्ठ (Subjective) तथा वस्तुनिष्ठ (Objective) दोनों प्रकार की विधियो का उपयोग करता है।

(२) शारीरिक मनोविज्ञान (Physiological Psychology)— यह स्नायु-मण्डल तथा ज्ञानेन्द्रियों की बनावट (Structure) तथा उनकी कार्यवाही (Function) से सम्बन्ध रखता है। मन (Mind) और शरीर (body) में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राणियों की क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरक), का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न जीवन-रक्षा सम्बन्धी अवयवों तथा स्नायु-मण्डल का अध्ययन करना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—प्रकाश तथा ध्वनि की संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण कैसे होता है इसे ठीक-ठीक समझने के लिए क्रमशः आँख और कान नामक ज्ञानेन्द्रियों एवं स्नायुमण्डल की बनावट तथा उनकी

कार्यवाही की जानकारी अति आवश्यक है। यह अनुभूतियों तथा व्यवहारों से सम्बन्धित प्राणियों के शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों की बनावट तथा उनकी कार्यवाही का विशिष्ट अध्ययन (Specific study) करता है।

हर मानसिक क्रियाओं जैसे—संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, संवेग, चिंतन, सीखना आदि का सम्बन्ध प्राणी के शरीर में किसी-न-किसी अंग विशेष से अवश्य रहता है। अस्तु उनकी विभिन्न मानसिक क्रियाओं के समुचित ज्ञान के लिए उनसे सम्बन्धित शारीरिक अंगों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से भी स्पष्ट हो गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह प्राणी के शरीर के निम्नलिखित अंगों का अध्ययन उनकी क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) को सही-सही रूप में समझने के हेतु करता है, जैसे—स्नायुमण्डल—केन्द्रीय और स्वतः सञ्चालित, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों, अन्तःस्रावी पिण्ड (Endocrine glands) जिनका कि हमारे मानसिक जीवन से गहरा सम्बन्ध है, आदि का विशिष्ट अध्ययन करता है। इसकी विधि पूर्णरूप से वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष है।

यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि शरीर शास्त्र (Physiology) तथा शारीरिक मनोविज्ञान (Physiological Psychology) में अन्तर यह है कि जहाँ शरीर-शास्त्र के अध्ययन का विषय ही ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा स्नायुमंडल (Nervous system) की बनावट तथा उनकी कार्यवाही है वहाँ शारीरिक मनोविज्ञान उनका अध्ययन इसलिए करता है कि यह उनसे सम्बन्धित हमारी मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं को समझने में सहायता पहुँचाता है।

हमारी मानसिक अथवा शारीरिक क्रियायें, ग्राहक इन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों अथवा स्नायुमंडल की बनावट एवं विकास पर निर्भर करती हैं। शरीरशास्त्र में इन इन्द्रियों एवं स्नायुमंडल आदि का अध्ययन स्वयं साध्य (End in it self) है। परन्तु शारीरिक मनोविज्ञान में यह साध्य न होकर मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में एक साधन मात्र (means to one end) है। अर्थात् प्राणी की क्रियायें (मानसिक तथा शारीरिक) जो मनोविज्ञान का अध्ययन विषय हैं उनका एक समुचित ज्ञान प्राप्त करने के हेतु हम शारीरिक मनोविज्ञान का अध्ययन करते हैं। प्राणी की क्रियायों से अलग उनका हमारे मनोविज्ञान में कोई अस्तित्व नहीं रह

जाता है। अस्तु हम कह सकते हैं कि शारीरिक मनोविज्ञान भी मानव मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र ही है।

(३) प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) प्रारम्भ में मनोविज्ञान दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत था। इसके अध्ययन का विषय 'अत्मा' या 'मन' था। इसके अध्ययन की विधि भी आत्मनिष्ठ तथा पक्षपात पूर्ण थी। इसे काल्पनिक मनोविज्ञान की संज्ञा भी दी गई थी। इस प्रकार क मनोविज्ञान के लिए प्रयोगात्मक मनोविज्ञान बिलकुल ही भिन्न था। (For this Psychology the world of Experimental psychology was an alien world.) परन्तु लिपजिग (Leipzig) नामक स्थान म सन् १८७६ में ऊंट (Wundt) द्वारा मनोविज्ञान की सर्वप्रथम प्रयोगशाला की स्थापना के फलस्वरूप प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और इसके साथ-साथ दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों की संख्या घटते-घटते बिल्कुल समाप्त हो गयी और उनकी जगह वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिकों ने ले ली। वर्त्तमान के सामान्य मनोविज्ञान की उत्पत्ति भी काल्पनिक दर्शन से नहीं होती है। बल्कि अधिकांश रूप में यह प्रयोगात्मक विधियों एवं उनसे प्राप्त प्रयोगात्मक परिणामों पर ही आधारित है।

आजकल प्रयोगात्मक पहलू से रहित मनोविज्ञान का कोई विशेष स्थान नहीं है। अर्थात् आज प्रयोग के विना मनोविज्ञान का अपना कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। अस्तु अब सामान्य मनोविज्ञान तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान मे कोई अन्तर नहीं रह गया है। इसे प्रयोगात्मक मनोविज्ञान इसलिए कहा जाता है कि (१) यह प्राणियों की अनुभूतियों तथा व्यवहारों का अध्ययन पूर्व निर्धारित तथा निश्चित अवस्थाओं में करता है (Prearranged and standard condition) (२) प्रयोगात्मक अवस्थाओं की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ निरीक्षण के विषय (Phenomenon of observation) का बार-बार अध्ययन किया जा सकता है। इसमें हेरफेर भी किया जा सकता है तथा उनको नियंत्रित भी किया जा सकता है। फलतः प्रयोगों से प्राप्त परिणाम निश्चित तथा यथार्थ होते हैं। उनकी सत्यता की जाँच भी हम वाह्य रूप से कर सकते हैं। (३) यह प्रयोगात्मक विधि के द्वारा प्राप्त परिणामों की सहायता से प्राणियों की क्रियाओं (मानसिक तथा

शारीरिक) से संबद्ध सामान्य नियमों की व्यवस्थापना करने की चेष्टा करता है। (४) यह यंत्रों तथा परिगणनात्मक रीतियों का भी प्रयोग करता है।

इस तरह हम यह कह सकते है कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान का ही प्रयोगात्मक अध्ययन है। अर्थात् यह प्राणी की विभिन्न क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) जैसेः—संवेदना, संवेग, सीखना, चिन्तन, प्रत्यक्षीकरण, भाव आदि का प्रयोगात्मक अध्ययन करता है।

सत्तेप मे हम कह सकते हैं कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान सामान्य वयस्क मानवों की क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) का एक वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अस्तु इनसे प्राप्त सामान्य नियमों (General rules) को हम वैज्ञानिक मान सकते हैं तथा उनकी सत्यता और विश्वसनीयता पर पूर्णरूप से विश्वास कर सकते हैं। हम इनकी मदद से प्राणी की क्रियाओं को नियंत्रित कर सकते हैं तथा उनके बारे में सही-सही भविष्यवाणी भी कर सकते हैं।

वस्तुतः शारीरिक (Physiological) तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental psychology) उस सामान्य शाखा (General branch) के ही अंग स्वरूप हैं, जिसे हम 'मानव मनोविज्ञान' की संज्ञा दे सकते हैं। हमलोग उन्हें सिर्फ विशिष्ट अध्ययन (Specific study) के लिए ही अलग करते हैं। इसके अध्ययन के लिए विशिष्ट यंत्रों (Special instruments) का उपयोग करना पड़ता है तथा विशिष्ट शिक्षण (Special training) की भी आवश्यकता है।

(४) बाल मनोविज्ञान (Child psychology)—यह मनोविज्ञान की एक प्रमुख शाखा है। बाल्यावस्था व्यक्ति के जीवन की सबसे मुख्य अवस्था है। फ्रायड (Freud) जैसे मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के जीवन के प्रथम पाँच वर्षों (Frist five years of life) के विकास का संबंध बालकों में भविष्य में होनेवाली मानसिक बीमारियों के कारण से बतलाते हैं। मानव एक विकासात्मक जीव (developmental being.) है। बाल्यवस्था व्यक्तित्व के निर्माण का समय है। यही समय है जिसके विकास के आधार पर भविष्य मे चलकर वह व्यक्ति अच्छा या बुरा नागरिक बनता है। बाल मनोविज्ञान, सामान्य मनोविज्ञान (जो सामान्य प्रौढ़ व्यक्तियों का अध्ययन करता है) का समुचित ज्ञान प्राप्त करने में मदद पहुँचाता है। बालक के सामान्य विकास की जानकारी के लिए बाल्यवस्था का अध्ययन आवश्यक है जिससे यदि

किसी बालक के विकास में किसी भी प्रकार की रुकावट आ जाय तो उनमें सुधार लाने के लिए आवश्यक साधनों का पता लगाया जाय और उसका पालन पोषण उपयुक्त हो जिसके फलस्वरूप वह एक अच्छा नागरिक तथा एक अच्छी तरह अभियोजित व्यक्ति बन सके (happily adjusted individual)। अन्यथा वह अपने माता-पिता, शिक्षक तथा सारे समाज के लिए एक समस्या या कुलाङ्गार (curse) सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ हम समस्या बालकों (Problem children), पिछड़े हुए (Backward) अथवा अपराधी (Delinquent) बालकों को ही लें। वे सब न सिर्फ अपने-अपने माता-पिता तथा शिक्षक के लिए ही एक समस्या हैं बल्कि वे आगे चलकर जब वयस्क होंगे तो सारे समाज के लिए कुलाङ्गार सिद्ध होंगे।

बाल मनोविज्ञान बालक की गर्भावस्था से प्रौढ़ावस्था तक का एक वैज्ञानिक अध्ययन विकासात्मक दृष्टिकोण से (developmental point of view) करता है। यह बालक के ज्ञानवाही तथा क्रियावाही विकास (Sensory motor development), भाषा विकास (language development), संवेगात्मक विकास (emotional development), सामाजिक (Social) आदि विकासों का अध्ययन कर इसकी तुलना एक प्रौढ़ व्यक्ति से करता है और दोनों में कैसे और क्यों भिन्नता होती है इस पर प्रकाश डालता है। विभिन्न क्रियाओं मे परिपक्वता तथा सीखने (maturation aud learning) का क्या स्थान है इनका भी पता यह लगाता है। संक्षेप में यह बालकों के जीवन के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक विकासों का अध्ययन उनके जन्म-काल से प्रौढ़ावस्था तक करता है। जन्मकाल में कौन-कौन सी शक्तियाँ (capacities) उनमें वर्त्तमान रहती हैं तथा उनके विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण (Heredity and Environment) का क्या असर पड़ता है इसका भी अध्ययन करता है। इन सबों का अध्ययन उनकी क्रियाओं (आन्तरिक तथा शारीरिक) का नियंत्रण करने, उनका निर्देशन करने तथा उनके बारे में सही-सही भविष्यवाणी करने के हेतु किया जाता है, जिससे कि उनका भावी जीवन सफल हो।

अतः बाल मनोविज्ञान द्वारा अर्जित ज्ञान हमें प्रौढ़ावस्था में होनेवाली क्रियाओं को ठीक-ठीक से समझने तथा उनके सही-सही विकास के सम्बन्ध में समुचित ज्ञान प्राप्त करने में सहायक है।

(५) पशु मनोविज्ञान (Animal Psychology)—डार्विन (Darwin) महोदय के विकासवाद के सिद्धान्त ने यह साबित कर दिया है कि सबसे छोटे जीव जैसे—अमीबा (amocba) जो सबसे सरल तथा निम्नकोटि के जीव हैं, तथा मनुष्य जो विकासवाद की दृष्टि से सबसे ऊपर की सीढ़ी पर है, दोनों के बीच एक अविच्छिन्न सम्बन्ध (Continuity) है। अतः पशुओं के शरीर तथा मन (Body and mind) की बनावट और उनकी कार्यवाही (Function) तथा उनके व्यवहारों का अध्ययन मानव स्वभाव को अच्छी तरह समझने मे बहुत ही सहायता पहुँचाता है। दोनों मे विकासवाद की दृष्टि से सिर्फ विकास की मात्रा का ही अन्तर है। यानी विकासवाद की दृष्टि से निम्नकोटि के जीव सरल है तो उच्चकोटि के जीव जटिल। किसी भी प्राणी का अध्ययन जब कि वह विकासवाद की दृष्टि से सरल रूप का है तब न कर, जब वह विकासवाद की दृष्टि से जटिल रूप का है तब करना अधिक कठिन है।

यही कारण है कि मनुष्य का अध्ययन पशुओं के अध्ययन से अधिक जटिल है। पशुओं की क्रियाएँ सरल तथा मनुष्यों की क्रियाएँ अत्यन्त ही जटिल होती हैं। मनुष्यों की क्रियाओं का सरल रूप ही पशुओं में पाया जाता है चूँकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है कि पशुओ तथा मानवों में सिर्फ विकास की मात्रा का ही अन्तर है। यही कारण है कि पशुओं के व्यवहारों का नियन्त्रण मानवों के व्यवहारों के नियन्त्रण से सदा अधिक आसान है। (Always easy to control the animal than human being).

फलस्वरूप, मनोविज्ञान में अधिकांश प्रयोग मानवों पर न होकर पशुओं पर किये गये हैं। उदाहरणार्थ—सीखने की क्रिया (learning) तथा मूल प्रवृति (instincts) आदि के क्षेत्रों मे जो भी मनोवैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किये गये हैं वे अधिकतर पशुओं पर ही किये गये प्रयोगों के परिणामस्वरूप हैं और पशुओं पर किये गये अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों से मानवों के सीखने की क्रिया को समझने में बहुत हद तक सहायता पहुँची है।

संवेग तथा मानसिक क्रियाओं का मस्तिष्क में स्थान निरुपण आदि के बारे मे प्राप्त निष्कर्ष भी बहुत कुछ पशुओं के ऊपर किये गये प्रयोगों पर ही आधारित हैं। यहाँ मानव स्वभाव (human nature) का एक समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए पशुओं तथा मानवों के व्यवहारों का

तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। अस्तु इसे तुलनात्मक मनोविज्ञान (comparative psychology) को संज्ञा भी दी जाती है। अन्त में यह कह सकते हैं कि पशु मनोविज्ञान पशुओं तथा मानव स्वभावों का एक तुलनात्मक अध्ययन मानव स्वभाव को भलीभाँति समझने के हेतु करता है।

(६) **सामाजिक मनोविज्ञान** (Social psychology)—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता है। वह अपने जन्मकाल से मृत्यु तक दूसरों के साथ रहता है। यह पाया गया है कि मनुष्यों के प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, भाव, संवेग, आदि प्रक्रियाओं में जब मनुष्य अकेला रहता है और जब वह दूसरों के साथ रहता है बहुत भिन्नता पायी जाती है। अतः सामाजिक मनोविज्ञान मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन उन परिस्थितियों में करता है जब मनुष्य दूसरों के साथ रहता है या यह कहा जा सकता है कि जब वह किसी समाज या समुदाय का सदस्य रहता है उस समय उसके व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है।

जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है कि कोई भी मनुष्य अकेला नहीं रह सकता है; उसे समाज में रहना ही पड़ता है; और जब वह समाज में रहेगा तो समाज का प्रभाव उस पर पड़े विना नहीं रह सकता। हालाँकि कुछ समय तक हम किसी भी व्यक्ति को शारीरिक रूप मे (physically) दूसरों से बिलकुल अलग रख सकते हैं पर उसको मानसिक रूप से (psychologically) वैसा करना सम्भव नहीं। अतः सामाजिक वातावरण उसके प्रत्यक्षीकरण, चिंतन आदि क्रियाओं को प्रभावित (influence) करता रहता है। यही कारण है कि आजकल लोगों का विचार है कि सामान्य मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान में अन्तर करना उचित नहीं बल्कि दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, चूँकि दोनों का ध्येय मानव स्वभाव का सही-सही ज्ञान प्राप्त करना ही है।

मानव स्वभाव को ठीक-ठीक समझने (understand); उनको नियंत्रित (control) करने, तथा उनके बारे में सही-सही भविष्यवाणी (predict) करने के लिए सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है। फिर भी ध्यान से देखने पर हम समाजिक मनो-विज्ञान के अध्ययन के विषय को निम्नांकित प्रकार से बाँट सकते हैं।

(क) एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के साथ (Relation of an individual with another individual) ।

(ख) एक व्यक्ति का सम्बन्ध समुदाय के साथ (Relation of one individual with the group or community) ।

(ग) एक समुदाय का सम्बन्ध दूसरे समुदाय के साथ (Relation of one community with another community) ।

इसके अन्तर्गत हम बालक के समाजीकरण (socialisation of the child), नेतृत्व (leadership), प्रचार (propaganda), जनमत (public opinion), सामाजिक क्रान्ति (social revolution), सामाजिक संघर्ष (social conflict), जातीय संघर्ष (class conflict or racial rivalry), मनोवृत्ति (attitude), भिन्न-भिन्न प्रकार के संघ या समुदाय (associations and groups) आदि की समस्याओं तथा उन तथ्यों का विशेष रूप मे अध्ययन करते हैं जो सामाजिक व्यवहार को ठीक-ठीक समझने म मदद पहुँचाते हैं। अन्त में यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त समस्याओं के अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान मानव स्वभाव की सही-सही जानकारी मे सहायक सिद्ध होते हैं चूँकि उपरोक्त सभी बातें किसी न किसी रूप में मनुष्य की अनुभूति तथा व्यवहार को प्रभावित करती हैं। इन सब घटनाओं के ज्ञान की अनुपस्थिति में मानव-स्वभाव (human nature) का ज्ञान अधूरा रह जायगा तथा मानव स्वभाव के बारे में की गयी भविष्यवाणी भी विश्वसनीय नहीं हो पायगी। अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक मनोविज्ञान ज्ञानवृद्धि में बहुत मदद करता है।

(७) **असामान्य मनोविज्ञान** (Abnormal psychology)—सामान्य मनोविज्ञान सामान्य प्रौढ़ (वयस्क) व्यक्तियों का अध्ययन करता है। सामान्य व्यक्ति उसे कहते हैं जिनका व्यवहार औसत व्यक्तियों के व्यवहार से मिलता-जुलता है पर असामान्य मनोविज्ञान असामान्य वयस्कों का अध्ययन करता है। असामान्य वयस्कों का अध्ययन सामान्य वयस्कों को अच्छी तरह समझने में सहायता पहुँचाता है।

पहले यह समझा जाता था कि सामान्य और असामान्य में गुण सम्बन्धी अन्तर है और जो असामान्य हो गया है वह सामान्य नहीं हो सकता है। पर शार्कों (Charcot), फ्रायड (Freud) आदि दूसरे मनोविश्लेपकों ने यह साबित कर दिया है कि यह धारणा बिलकुल गलत है चूँकि

दोनों में गुण-सम्बन्धी नहीं बल्कि सिर्फ परिमाण सम्बन्धी अन्तर है। असामान्य उसे ही हम कह सकते हैं जो कि सचमुच मे या तो सामान्य से कम है या अधिक है, उदाहरणार्थ—

घर बन्द करते वक्त ताला लगा चुकने के बाद सामान्य व्यक्ति ताले को एकाध बार हिला-डुलाकर देख लेता है कि ताला ठीक से बन्द हुआ या नहीं परन्तु यदि कोई व्यक्ति यह समझने के लिए कि ताला ठीक मे बन्द हो गया या नहीं, यदि उस ताले को सैकड़ो बार हिला-हिला कर देखता रहे, ताला लगाकर आगे बढ़े और फिर बार-बार लौटकर ताला झकझोर कर देखे कि ताला खुला तो नहीं रह गया तो इस प्रकार के व्यवहार को असामान्य व्यवहार कहेंगे।

इसी प्रकार इसके अन्य भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे—सोने के वक्त बार-बार बिछावन के नीचे झाँकना कि कोई छिपकर घुसा हुआ तो नहीं है, हाथ गन्दा होने पर पानी से उसे साफ करना स्वाभाविक है परन्तु यदि कोई व्यक्ति गन्दे हाथ को साफ करने के लिए दर्जनों बाल्टी पानी और अनेक साबुन घस डालता है और तब भी उसे यदि यह संतोष नहीं होता है कि उसका हाथ साफ हो गया है तो ऐसे व्यवहार को हम असामान्य की संज्ञा देंगे, क्योंकि ये व्यवहार सामान्य व्यक्तियों के व्यवहार से भिन्न हैं।

यह भ्रम हो जाना भी कि सभी हमारे विरुद्ध कुछ-न-कुछ षड्यन्त्र रच रहे हैं, असामान्यता का लक्षण है।

हँसना एक साधारण व्यवहार है परन्तु हरेक बात पर हँसते रहना यह आसामान्य व्यवहार है। प्रियजन की मृत्यु पर भी यदि कोई हँसता है तो हम कहेंगे कि उसका हँसना सामान्य अनुपात से अधिक है।

ताला लगाकर उसे बार-बार झकझोर कर, हाथ गन्दा होने पर दर्जनो बाल्टी से उसे घोना अथवा नहाना एवं प्रियजनों की मृत्यु पर भी हँसने की क्रिया से यह स्पष्ट है कि सामान्य व्यवहार यदि अपने प्रकटीकरण के समय सदा अपने उचित अनुपात को खो बैठता है तो उसे हम असामान्य व्यवहार कहते हैं।

अस्तु सामान्य और असामान्य व्यवहारों में इसी परिमाण (Degree) के अन्तर को दूर करके जो असामान्य हैं उनको सामान्य बनाया जा सकता है। यहाँ उनके गुण को नहीं बल्कि उनकी अभिव्यक्ति के परिमाण के अन्तर का महत्व है। हमारे इस तरह के असामान्य व्यवहार

मानसिक बीमारियों के कारण हुआ करती हैं। शारीरिक बीमारियों की तरह ही इस प्रकार का असामान्य व्यवहार भी एक मानसिक बीमारी है। जिस तरह शारीरिक बीमारियों की चिकित्सा हो सकती है उसी प्रकार मनोविश्लेषकों ने मानसिक बीमारियों की चिकित्सा को भी सम्भव बना दिया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि असामान्य मनोविज्ञान के तीन प्रमुख कार्य हैं—(१)असामान्य मानसिक व्यवहारों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना, (२) इनके कारणों (Causes) का पता लगाना तथा (३) इनकी चिकित्सा का प्रयास करना। इस सम्बन्ध मे फ्रायड महोदय (Freud) के विशिष्ट सिद्धान्तों (Basic Postulates), जैसे अचेतन (Unconscious), स्वप्न (Dream), दमन की क्रिया (Repression), मनोलैंगिक विकास (Psychosexual Development), काम-वृत्ति (Sex-instinct), 'लिबिडो' (Libido) आदि का अध्ययन मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के असामान्य व्यवहारों को ठीक-ठीक से समझने तथा उनके लक्षणों (Symptoms) और कारणों (Causes) का पता लगाने तथा उन्हें सामान्य बनाने की चेष्टा करने के लिए अनिवार्य है। आज जो हम विभिन्न प्रकार की मानसिक बीमारियों की चिकित्सा करने में सफल हो पाये हैं, वह असामान्य मनोविज्ञान की ही देन हैं। फ्रायड महोदय (Freud) के अतिरिक्त युंग (Jung), ऐडलर (Adler) आदि महोदयों ने भी अपने विशिष्ट सिद्धान्तों की मदद से असामान्य व्यवहारों को सही-सही समझने तथा उनमें सुधार लाने मे काफी सहायता पहुँचाई है जो चिरस्मरणीय है।

(२) 'व्यवहारिक मनोविज्ञान
(Applied Psychology)

व्यवहारिक मनोविज्ञान की संज्ञा उस मनोविज्ञान को दी जाती है जिसमें उपरोक्त एक या एक से अधिक सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की शाखाओं द्वारा अर्जित मनोवैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित, अनुभूतियों तथा व्यवहारों सम्बन्धी सामान्य नियमों के ज्ञान का उपयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया गया है।

जीवन के जिन विशिष्ट क्षेत्रों में उनका उपयोग किया गया है, उसी पर उनका नामकरण भी हुआ है। जैसे शिक्षा के क्षेत्र तथा उद्योग-

धन्धों के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक ज्ञान के व्यवहार के फलस्वरूप उन्हें क्रमशः शिक्षा तथा औद्योगिक मनोविज्ञान की संज्ञा दी गई है। इस तरह हम देखते हैं कि व्यवहारिक मनोविज्ञान की भी अपनी कई शाखाएँ हैं और हम अब एक-एक कर उनका विस्तार में वर्णन करेंगे।

(१) शिक्षा मनोविज्ञान—सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग शिक्षा के ही क्षेत्र मे हुआ। व्यवहारिक मनोविज्ञान की यह एक प्रमुख शाखा है। शिक्षा के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक नियमों के उपयोग होने के पूर्व इसमें अध्ययन की विधियाँ अवैज्ञानिक (Unscientific) थीं। पहले बालकों की योग्यता तथा उनमें वर्त्तमान मानसिक शक्तियों (Capacities) को मापने का कोई मनोवैज्ञानिक तरीका नहीं था। अतः उनकी शिक्षा उनकी योग्यता, झुकाव, तथा अभिरुचियो (Interests), से सम्बन्धित नहीं रहती थी। इसके फलस्वरूप बालकों की योग्यताएँ बहुत मात्रा में बर्बाद हो जाती थीं। अर्थात् उनकी योग्यताएँ उचित रूप से विकसित नहीं हो पाती थीं। पर अब मनोवैज्ञानिक ज्ञान के उपयोग से बालकों को शिक्षा, उनकी योग्यता, उनमें वर्त्तमान मानसिक शक्तियों, उनका झुकाव तथा उनकी अभिरुचियों के आधार पर दी जाने लगी है। फलतः उनकी योग्यता का पूर्ण विकास सम्भव हो पा रहा है।

शिक्षा का सदा से एकमात्र ध्येय मानव का उचित विकास (growth or development) तथा निर्देशन एवं उनकी उन्नति (Promotion) ही रही है। किसी दो बालकों में अन्तर न कि सिर्फ उनके वंशानुक्रम या वातावरण में रहनेवाली भिन्नता के कारण है, बल्कि वंशानुक्रम और वातावरण दोनों में भिन्नता के फलस्वरूप है। यह तो सही है कि दो व्यक्तियों में विभिन्नता बहुत हद तक उनके वंशानुक्रम मे भिन्नता के कारण हैं, पर इसमें शिक्षण का भी कोई कम स्थान नहीं है। अस्तु, वैयक्तिक भिन्नता दो कारणों से होती है—(१) वंशानुक्रम में भिन्नता तथा (२) शिक्षण में भिन्नता।

बालकों के उचित विकास के लिए शिक्षा-मनोविज्ञान नई-नई मनोवैज्ञानिक विधियाँ उपस्थित करता है, जिनके फलस्वरूप उनका शिक्षण उचित और स्थायी हो पाता है। शिक्षा-मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्तियों के लिए उचित शिक्षण-प्रणाली की व्यवस्थापना से है। परन्तु उचित शिक्षण-प्रणाली की व्यवस्थापना करने के लिए वंशानुक्रम के कारण बालकों की योग्यता तथा मानसिक शक्तियों में होनेवाली वैयक्तिक

भिन्नता (individual differences) के ऊपर भी विचार करना अत्यावश्यक है।

शिक्षण का प्रभाव वाल्यकाल के प्रारम्भ मे पड़ता है, इसलिए बाल मनोविज्ञान का अध्ययन शिक्षा मनोविज्ञान के लिए आवश्यक है।

किस हद तक मानव स्वभाव शिक्षण से प्रभावित हो सकता है; इसका पता लगाना शिक्षा मनोविज्ञान का एक मुख्य कार्य है। जीवन के हर क्षेत्र मे अधिक सुगमता तथा संतोष होने के लिए उचित प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र करीब-करीब मनोविज्ञान के ही क्षेत्र के इतना विस्तृत है। फिर भी सुविधा के लिए इसके पूरे क्षेत्र को कई अलग-अलग भागों में बाँट दिया गया है। जैसे, वे सब समस्याए जिनकी जानकारी शिक्षण-कला (art of teaching) के लिए प्रधान है; मनुष्य के कौन-कौन से विशिष्ट गुण अथवा विशेषताएँ उसके माता-पिता से प्राप्त होती हैं और उनमें से कितने उसके शिक्षण-प्रणाली से मिलते हैं, यहाँ इन सभी का पता लगाना होता है। मनुष्य के प्रत्येक गुण चाहे उसकी उत्पत्ति का स्वरूप कुछ भी हो, किसी-न-किसी रूप मे शिक्षण से परिमार्जित अवश्य होते है।

इसकी दूसरी समस्या शिक्षा को किस तरह सबसे ज्यादा लाभदायक बनाया जाय, से सम्बन्ध रखती है। शिक्षा मनोविज्ञान की उपरोक्त सामान्य समस्याओं (General problems) के अतिरिक्त इसकी अनेक विशिष्ट समस्याएँ (Specifed problems) भी हैं। जैसे, विशिष्ट प्रकार के बालकों के शिक्षण की समस्या। शिक्षा को अधिक उपयोगी सिद्ध करने के लिए शिक्षक के लिए शिक्षण-विधि का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है, अर्थात् विभिन्न प्रकार के बालकों के समक्ष विभिन्न प्रकार के तथ्यों को किस तरह रखा जाय, जिससे कि वे उनके लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हों, इसकी जानकारी रखना भी शिक्षा मनोविज्ञान की एक प्रमुख समस्या है। जैसे, मन्द बुद्धि (dull mind), तीव्रबुद्धि (bright), पिछड़े (Backward), तथा विशेष प्रकार की शारीरिक असुविधाओं से पीडित बालको को किस तरह शिक्षित किया जाय आदि। बालकों मे शारीरिक तथा मानसिक भिन्नता के कारण उनको उपयुक्त प्रकार की शिक्षा देने के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षण-विधियों का उपयोग करना आवश्यक है। यहाँ पर एक प्रकार के शिक्षण का दूसरे प्रकार के शिक्षण पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन भी किया जाता है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा मनोविज्ञान की मदद से बालकों के ज्ञानार्जन की मात्रा को सही-सही रूप में मापने के लिए वैज्ञानिक विधियों को प्रस्तुत किया गया है। बहुत से टेस्ट (Test) बालकों के ज्ञानार्जन की मात्रा को ठीक-ठीक से मापने के लिए बनाये गये हैं जिनकी सत्यता एवं विश्वसनीयता पर हम भरोसा कर सकते हैं। इसकी जानकारी इस बात को जानने के लिए भी आवश्यक है कि कहाँ तक विशेष प्रकार की शिक्षण विधि (Method of teaching) विशिष्ट क्षेत्रों मे ज्ञानार्जन के लिए सफल सिद्ध हो पाई है।

यहाँ पर न सिर्फ बालकों के ही व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है बल्कि शिक्षकों के भी व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा किये गये अध्ययनों से यह पता चला है कि किसी भी शिक्षा-प्रणाली की सफलता न सिर्फ बालकों के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है बल्कि बहुत अंशों मे शिक्षक के अपने व्यक्तित्व के ऊपर भी निर्भर करती हैं।

संक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा मनोविज्ञान व्यक्ति को शिक्षित करने में मनोवैज्ञानिक नियमों का उपयोग करता है। इस उपयोग के फलस्वरूप जीवन के विविध पहलुओं से व्यक्ति का उचित अभियोजन हो पाता है तथा वह एक सफल नागरिक भी बन पाता है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण है, चूँकि आजकल उपयोग मे लायी हुई शिक्षण-विधि बालकों के शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों पर आधारित नहीं है। फलतः वे उनके लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होती हैं। लेकिन इस क्षेत्र में अब शिक्षा मनोवैज्ञानिक के सफल प्रयास के कारण काफी सुधार होता जा रहा है।

यह शिक्षा मनोविज्ञान की ही देन है कि आज हम बालकों मे पढ़ना (Reading), लिखना (Writing) तथा तर्क शक्ति (Reasoning) की शिक्षा उनकी उम्र (Age), योग्यता (Ability) तथा झुकाव (Aptitude) के आधार पर देने का प्रयास करते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान की सहायता से उनके मस्तिष्क (Brain), हाथ (Hand) तथा हृदय (Heart) का एक साथ सर्वोचित सम्यक् एवं सन्तुलित विकास करने का प्रयास सफल हो रहा है।

एक सफल शिक्षा-प्रणाली हम उसे कहेंगे, जिसमें शिक्षा का कार्यक्रम बालकों में वर्त्तमान शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों, उनके झुकाव,

अभिरुचि मे विभिन्नता तथा उन सब बातों को ध्यान मे रखे जिस पर किसी भी शिक्षा-प्रणाली की सफलता निर्भर करती है। ऐसी शिक्षण-प्रणाली के लिए मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये विभिन्न अन्वेषणों एवं प्रयोगों पर आधारित निष्कर्षों की मदद से बने नियमों का उपयोग करना आवश्यक है।

(२) औद्योगिक तथा व्यावसायिक मनोविज्ञान
(Industrial and Vocational Psychology)

(क) **औद्योगिक मनोविज्ञान**—पहले जब मनोविज्ञान का उपयोग उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में नहीं किया गया था तो लोगों का यह विचार था कि जिस तरह एक मशीन से काम लिया जा सकता है, उसी तरह एक मजदूर से भी काम लिया जा सकता है तथा उनका यह भी विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति सभी कार्यों को सफलतापूर्वक कर सकता है। पर व्यावहारिक जीवन (Practical life) में ये दोनों धारणाएँ बिल्कुल गलत साबित हुईं। इसके फलस्वरूप काफी मात्रा मे श्रम-बर्बादी (Labour-wastage), कार्य मे अकुशलता (Inefficiency in work), दुर्घटनाएँ (Accidents) तथा मजदूरो मे हेर-फेर (Labour Turnover) आदि होते रहते थे। इन सभी का बहुत बुरा वैयक्तिक (Individual), आर्थिक (Economic) और सामाजिक (Social) असर पड़ता था। पर धीरे-धीरे लोगों मे जागृति हुई और सरकार भी इस ओर ध्यान देने लगी, जिसके फलस्वरूप कारखानों के मालिकों को एक ऐसे तरीके का पता लगाना आवश्यक हो गया, जिससे कि उनको अधिक-से-अधिक आर्थिक लाभ होने के साथ-साथ ज्यादा-से-ज्यादा श्रम-कल्याण (Labour welfare) भी हो। इसी समय मनोवैज्ञानिकों ने उनकी मदद की और यह पता लगाया कि उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे विभिन्न मनोवैज्ञानिक नियमों (Psychological Principles) का उपयोग कर हम कारखाना-सम्बन्धी सभी समस्याओं को हल कर सकते हैं, जिसके फलस्वरूप कारखानों के मालिक तथा मजदूर दोनों अधिक-से-अधिक लाभान्वित होगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक मनोविज्ञान का विशेष रूप से दो ध्येय हैं : (१) उद्योग-धन्धों के क्षेत्र मे मनोविज्ञान का उपयोग कर कारखानों के मालिकों को अधिक-से-अधिक आर्थिक लाभ पहुँचाना तथा (२) इसके साथ-साथ अधिक-से-अधिक श्रम-कल्याण

करना। जब उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में मनोविज्ञान का उपयोग नहीं किया गया था, तब इन दोनों बातों की कमी थी, पर विशेष कर दूसरी बात की कमी अधिक थी। उपरोक्त दोनों ध्येयों की प्राप्ति के लिए औद्योगिक कुशलता (Industrial Efficiency) का होना आवश्यक है। औद्योगिक कुशलता निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है— किसी भी काम के लिए उचित व्यक्ति का चुनाव करना (Selection of the right person for the job)। मनोविज्ञान ने वैयक्तिक भिन्नता (Individual Differences) को सिद्ध कर दिया है और यह भी पता लगाया है कि प्रत्येक व्यक्ति हर काम को सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है, इसलिए कार्य-कुशलता के लिए उन्हीं व्यक्तियो को चुनना चाहिए, जिनमे उस काम को सफलतापूर्वक करने के लिए आवश्यक शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ, गुण, झुकाव तथा अभिरुचि सभी उपयुक्त मात्रा मे वर्त्तमान हो। इसके लिए कार्य-विश्लेषण की बहुत-सी विधियाँ (Methods of Job-Analysis) प्रस्तुत की गई हैं, जिनकी मदद से कार्य की आवश्यकताओ (Requirements of the Job) का पता लगाया जाता है तथा नौकरी के लिए आवेदन-पत्र दिये हुए व्यक्तियों मे वर्त्तमान शारीरिक और मानसिक शक्तियो, गुणों, उनके झुकाव और अभिरुचियो का सही-सही तथा विश्वसनीय रूप मे पता लगाने के लिए वस्तुनिष्ठ विधियाँ जैसे साक्षात्कार का तरीका (Interview), सही और विश्वसनीय टेस्ट (Valid and Reliable Tests) आदि का निर्माण कर उनका उपयोग किया जाता है। कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकताएँ हैं यदि वे व्यक्ति में उपयुक्त मात्रा मे वर्त्तमान हैं, तो उसका चुनाव उस कार्य के लिए किया जाता है। फिर उचित चुनाव के बाद चुने हुए व्यक्तियो को उपयुक्त परिशिक्षण (Training) देना भी आवश्यक है जिससे कि वे उस कार्य-विशेष को ठीक से करने के तरीकों को जल्द-से-जल्द सीख लें। इस पर भी औद्योगिक कुशलता बहुत हद तक निर्भर करती है।

औद्योगिक कुशलता के लिए उपयुक्त भौतिक वातावरण (Physical Environment) का होना आवश्यक है। भौतिक वातावरण के अन्तर्गत रोशनी (Light); एवं वायु-मण्डल सम्बन्धी स्थितियों (Atmospheric Conditions) जैसे—तापक्रम (Temperature), हवा की गति (Air movement) और आर्द्रता (Humidity);

शोरगुल (Noise), कार्य करने की अवधि (Hours of work) तथा, विश्राम (Rest) आदि पर विचार किया जाता है। ये सब बहुत हद तक कार्य-कुशलता को प्रभावित करते हैं।

इधर प्रयोगात्मक अध्ययनों से पता लगा है कि कार्य-कुशलता के लिए न सिर्फ उपयुक्त भौतिक वातावरण का ही होना काफी है, बल्कि उपयुक्त मानसिक वातावरण का भी होना उतना ही आवश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का तो कहना है कि औद्योगिक कुशलता के लिए मानसिक वातावरण का महत्त्व, भौतिक वातावरण से कहीं अधिक है। इसमें उद्योग-धन्धों के सामाजिक पहलुओं (Social aspects) पर ध्यान दिया जाता है। जैसे—(i) एक मजदूर के साथ दूसरे मजदूर का सम्बन्ध, (ii) एक मजदूर समुदाय का दूसरे मजदूर समुदाय के साथ सम्बन्ध, (iii) मजदूरों का मालिकों के साथ और मालिकों का मजदूरो के साथ सम्बन्ध। इन विभिन्न सम्बन्धों की जानकारी मजदूरों और मालिकों के आपसी सम्बन्ध को सन्तोषजनक बनाने के लिए आवश्यक है। मजदूरों एवं मालिकों के आपसी सन्तोषजनक सम्बन्ध पर भी कार्य-कुशलता बहुत हद तक निर्भर करती है।

आरम्भ-काल में मजदूरों के आपसी सम्बन्ध तथा मजदूरों और मालिकों के बीच के सम्बन्ध पर ध्यान नहीं दिया जाता था जिससे मजदूर बहुत असन्तुष्ट रहते थे। इसके फलस्वरूप मजदूरों में हेर-फेर (Labour turn-over), हड़ताल (Strikes) आदि बहुत होते थे। यहाँ तक कि कारखानों में ताला (Lock-out) भी लग जाता था। इससे कारखाना के मालिकों की तो हानि होती ही थी, पर मजदूरों की भी कोई कम हानि नहीं होती थी। इसका समाज पर भी बहुत बुरा असर पड़ता था।

मानसिक वातावरण के अन्तर्गत हम विशेषकर दो चीजों का अध्ययन करते हैं—पहला मानसिक थकावट (Boredom) और दूसरा मालिकों एवं मजदूरों का आपसी सम्बन्ध जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त निम्नलिखित समस्याओं का भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उनको हल करने की यथासम्भव चेष्टा औद्योगिक मनोविज्ञान करता है—जैसे (१) कारखानों में दुर्घटनाएँ (Accidents) (२) थकावट (Fatigue) (शारीरिक), (३) पारिश्रमिक की विभिन्न पद्धतियों की उपयोगिता (Effectiveness of different methods

of payment), (४) मजदूरों की सन्तुष्टि से सम्बन्धित बातें (Facts related to job satisfaction.)

सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि औद्योगिक मनोविज्ञान उन सब समस्याओं का, जिनके ऊपर औद्योगिक कुशलता बहुत हद तक निर्भर करती है, एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन (वैज्ञानिक विधियों द्वारा) उनको हल करने के हेतु करता है। इसके अध्ययन की विधियाँ प्रयोगात्मक तथा क्षेत्रीय अध्ययन (Field study) है। उद्योग-धन्धों के क्षेत्र मे मनोविज्ञान के नियमों के उपयोग के फल-स्वरूप उत्पादन के परिमाण (quantity) तथा गुण (quality), दोनों मे काफी वृद्धि हुई और मजदूर भी प्राय: पहले से अधिक सन्तुष्ट हो गये।

अत: हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान का उपयोग उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे मजदूरों तथा मालिकों दोनों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।

(ख) व्यावसायिक मनोविज्ञान (Vocational Psychology)—व्यवसाय सम्बन्धी बातों मे भी मनोविज्ञान का उपयोग गत कुछ वर्षों से होने लगा है। इस क्षेत्र मे मनोविज्ञान का उपयोग होने के पहले लोगों का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति सभी काम को कुशलतापूर्वक कर सकता है। पर मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों द्वारा साबित कर दिया है कि यह एक बिल्कुल ही गलत धारणा है। उन्होंने बतलाया कि हम वैयक्तिक विभिन्नता को कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर निम्नलिखित दो बातों पर ध्यान देना चाहिए: पहली, किसी भी दो व्यक्तियों की शारीरिक, मानसिक, तथा संवेगात्मक बनावट समान नहीं होती है। दूसरी, प्रत्येक काम को भली-भाँति करने के लिए विभिन्न प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक बनावट की आवश्यकता है। इन दोनों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति सभी काम को नहीं कर सकता है और यदि कर भी सकता है तो उनकी कार्यकुशलता मे काफी वैयक्तिक विभिन्नता होगी। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यताओं, मानसिक शक्तियो, झुकाव, तथा अभिरुचियों के अनुकूल ही कार्य सौपा जाय, अन्यथा वह अपने व्यावसायिक अभियोजन (Vocational adjustment) मे असफल होगा तथा उसको अपने काम में मन नहीं लगेगा और इसका उसके सारे जीवन पर बहुत बुरा असर पड़ेगा जिसका प्रभाव समाज पर भी पड़े बिना नहीं रहेगा।

इसे एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—यदि कोई व्यक्ति जिसमें एक सफल टाइपिस्ट होने के गुण नहीं हैं—एक टाइपिस्ट के

पद पर बहाल हो जाता है तो इस काम को वह सफलतापूर्वक नहीं कर पायेगा। सम्भवतः वह कुछ समय के बाद अपने विषय में यह भी सोचने लग जा सकता है कि वह किसी भी काम के लायक नहीं है। वह जीवन से निराश हो जा सकता है। इस निराशा और असफलता की भावना के फलस्वरूप वह एक अपराधी अथवा पागल बन जा सकता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः आत्महत्या करते भी पाया गया है। इस तरह वह समाज के लिए भी हानिकारक सिद्ध होगा। अर्थात् व्यवसाय में असफल अभियोजन न सिर्फ व्यक्ति विशेष के लिए ही हानिकारक है बल्कि सारे समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से यह अत्यावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यताओं, मानसिक शक्तियों, झुकाव तथा अभिरुचियो के अनुसार ही काम दिया जाय।

व्यावसायिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यावसायिक निर्देशन (Vocational guidance) से सम्बन्धित है अर्थात् इसका ध्येय व्यक्ति के लिए एक सर्वोत्तम व्यवसाय का पता लगाना है जिसमें व्यक्ति अपना सफल अभियोजन कर सके। सफल अभियोजन के लिए दो बातों की आवश्यकता है—

(i) व्यक्ति की योग्यताओं, मानसिक शक्तियों, झुकाव तथा अभिरुचियों का सही-सही पता लगाया जाय।

(ii) प्रत्येक कार्य को सफलतापूर्वक करने के लिए उपरोक्त बातें किस मात्रा में व्यक्ति में होनी चाहिए—इसकी जानकारी की जाय। अर्थात्, व्यावसायिक निर्देशन में दो बातों की आवश्यकता पड़ती है : (i) व्यक्ति-विश्लेषण (Worker analysis) तथा (ii) कार्य-विश्लेषण (Work analysis). इन दोनों कार्यों को ठीक-ठीक करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तियों की योग्यताओं, मानसिक शक्तियों, झुकाव और अभिरुचियों की सही-सही जाँच करने के लिए बहुत से वैज्ञानिक मापन-विधियों का निर्माण किया है। कार्य-विश्लेषण की बहुत सी विधियों का उपयोग मनोवैज्ञानिकों ने कार्य की आवश्यकताओं की एक सूची तैयार करने के लिए किया है। इस तरह व्यावसायिक मनोविज्ञान द्वारा व्यक्तियों के लिए सर्वोत्तम व्यवसाय का पता लगाकर उन्हें उचित व्यवसाय-सम्बन्धी निर्देशन दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

व्यावसायिक मनोविज्ञान का ध्येय व्यवसाय के लिए सर्वोचित व्यक्ति का चुनाव करना, (Vocational Selection) जो औद्योगिक मनोविज्ञान की एक प्रमुख समस्या है, से भिन्न है। जहाँ औद्योगिक मनोविज्ञान किसी व्यवसाय के लिए सर्वोचित व्यक्ति का चुनाव करता है वहाँ व्यावसायिक मनोविज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम व्यवसाय का पता लगाता है। अर्थात् व्यावसायिक मनोविज्ञान का उद्देश्य केवल व्यवसाय-निर्देशन है (Vocational guidance).

यहाँ पर ध्यान देने योग्य एक बहुत ही मुख्य बात यह है कि बालकों के वयस्क हो जाने पर व्यावसायिक निर्देशन करना अधिकांश रूप मे लाभदायक सिद्ध नहीं होता है—जैसे यदि किसी व्यक्ति में एक अभिनेता होने की जितनी भी आवश्यक विशेषताएँ हैं सभी वर्त्तमान हों पर उसे कला (Art) की शिक्षा दी गई हों तो उसे अब यह कहना कि वह एक सफल अभिनेता हो सकता है, सर्वदा निरर्थक ही नहीं बल्कि हानिकारक भी होगा। अस्तु बाल्यावस्था मे ही बालकों के झुकाव, योग्यता तथा अभिरुचि का पता लगाना आवश्यक है। इससे उन्हें उचित दिशा में प्रारम्भ से ही शिक्षा दी जा सकेगी। फल यह होगा कि वे अपने जीवन मे अपनी योग्यता के अनुसार उपयुक्त धन्धा प्राप्तकर सुखी हो सकेंगे। पाश्चात्य देशों मे तो इस दिशा में काफी प्रगति हुई है। पर अब हमारा देश भी इस ओर ध्यान दे रहा है।

(३) औपचारिक मनोविज्ञान (Clinical Psychology)—शार्को (Charcot), मेसमर (Mesmer), फ्रायड (Freud) आदि मनोविश्लेषकों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह साबित कर दिया है कि सामान्य और असामान्य व्यवहारों में सिर्फ परिमाण-सम्बन्धी अन्तर है। साथ ही साथ जो असामान्य हैं उन्हें सुधारकर सामान्य भी बनाया जा सकता है।

औपचारिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध निम्नलिखित विभिन्न प्रकार की मानसिक असामान्यताओं जैसे—(क) मानसिक बीमारियाँ (Mental diseases) (ख) लैंगिक विकृतियाँ (Sexual perversions), चारित्रिक व्याधि (Character disorder) आदि से है। इन सब असामान्यताओं को दूर करने के हेतु यह सामान्य तथा असामान्य मनोविज्ञान के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त तथ्यों का उपयोग करता है। इन असामान्यताओं को दूर करने के लिए निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक विधियों का उपयोग करता है; सजेशन (Suggestion), सम्मोहन (Hypnosis),

मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis), अनियन्त्रित साहचर्य (Uncontrolled Association), स्वप्न-विश्लेषण (Dream-Analysis), पुनः शिक्षण (Re-education), विश्राम-विधि (Relaxation) आघात चिकित्सा (Shock therapy), शल्य चिकित्सा (Surgical therapy), सामूहिक चिकित्सा (Group therapy), व्यावसायिक चिकित्सा (Occupational therapy), जल-चिकित्सा (Hydrotherapy), मनो-अभिनय (Psycho-drama) आदि।

इसका एकमात्र ध्येय सभी व्यक्तियों को एक सफलतापूर्वक अभियोजित व्यक्ति बनाना है। इसलिए यह केवल असामान्य व्यक्तियों की चिकित्सा पर ही ध्यान नहीं देता है बल्कि सभी की पूरी-पूरी जाँच (शारीरिक तथा मानसिक) कर उनके मानसिक स्वास्थ्य (Mental hygiene) को ठीक रखने के हेतु निर्देशन करता है। यह मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए लोगों को उचित आदेश भी देता है जिससे कि उनमें मानसिक असामान्यता की शिकायत हो ही नहीं।

इसका ध्येय यह भी है कि चिकित्सा से संयम उत्तम है। (Prevention is always better than cure)। संयम तथा चिकित्सा दोनों कार्यों के लिए पाश्चात्य देशों में जगह-जगह औपचार-गृह (Clinics) भी खोले गये हैं। पर दुर्भाग्यवश इस ओर हमारा देश बिलकुल ही पिछड़ा हुआ है।

(४) **चिकित्सा मनोविज्ञान** (Medical Psychology)—डाक्टरों के पास शारीरिक रोगों से पीडित जानेवाले अधिकांश लोग सचमुच में किसी-न-किसी मानसिक बीमारियों से पीडित पाये जाते हैं, अर्थात् उनकी शारीरिक बीमारियों का मानसिक आधार पाया जाता है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। शारीरिक रोगों में भी मन (Mind) का प्रभाव रहता है। जैसे—पेट की बीमारियाँ (Gastric trouble), पाचन-क्रिया सम्बन्धी बीमारियाँ, अँतड़ी में घाव (Peptic ulcer), रक्तचाप का काफी अधिक हो जाना (Increase in blood pressure) आदि रोग बहुत हद तक शक की बीमारियाँ हैं जो मानसिक चिन्ता रहने के कारण होती हैं, अर्थात् उनका मानसिक आधार रहता है। ये बीमारियाँ संवेगात्मक असन्तुलन (Emotional unbalance) के कारण भी होती हैं। यहाँ तक देखा गया है कि प्रत्येक बीमारी जिसका उद्गम शारीरिक आधार (organic

origin) है, वे सब मानसिक चिन्ता (Mental anxiely) होने से वढ़ जाती हैं और यदि मनुष्य खुश रहे, चिन्ता कम करे, तो ये बीमारियाँ जल्द अच्छी हो जाती हैं।

अतः मनोविज्ञान की सहायता से इन बीमारियों की चिकित्सा करने का प्रयास किया गया है और इसमें बहुत हद तक सफलता भी मिली है। इस तरह शारीरिक बीमारियों की चिकित्सा में भी मनोविज्ञान बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(५) **अपराध-सम्बन्धी मनोविज्ञान** (Criminal Psychology)— इस क्षेत्र मे मनोविज्ञान के उपयोग के पूर्व लोगों की धारणा थी कि जो अपराध करता है वह कभी भी अपने को समाज में अभियोजित नहीं कर सकता है चूँकि ऐसे व्यक्ति जन्म से ही अपराधी होते हैं। उनका विचार था कि समाज के लिए ये लोग खतरनाक होते हैं। अतः उन्हें समाज से अलग ही रखना उचित है। इसी धारणा के अनुसार जितने भी लोग अपराध करते हैं, उन्हें प्रायः जेल जाने की सजा दी जाती है। पर इस क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनो से प्राप्त तथ्यों ने यह साबित कर दिया है कि शारीरिक बीमारियों की तरह अपराध करना भी एक प्रकार की असामान्यता (Abnormality) है, जिसका सर्वदा एक मानसिक आधार होता है। अपने जन्मकाल से ही कोई अपराधी नहीं रहता है बल्कि आगे चलकर वह वैसा हो जाता है। उसे अपराधी बनाने में उसके वंशानुक्रम की अपेक्षा वातावरण का अधिक हाथ रहता है। कोई एक दिन में समाज-विरुद्ध (Anti-social) नहीं हो जाता है बल्कि धीरे-धीरे निम्नलिखित कारणों से वह अपराधी हो जाता है—(क) बुरे माता-पिता (Bad Parents), (ख) खराब आर्थिक स्थिति (Bad economic condition), (ग) दूषित वातावरण (Bad environment), (घ) संवेगात्मक (Emotional) तथा मानसिक (Mental) असन्तुलन आदि। अर्थात् असन्तुलित व्यक्तित्व (Unbalanced personality) के कारण ही कोई अपराधी बन जाता है। अस्तु, सिर्फ अपराधियों का पता लगाकर उनको यथोचित सजा देने से अपराधियों का कल्याण सम्भव नहीं है, बल्कि अपराधों के सही-सही कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर करना आवश्यक है।

आजकल अपराधों का पाश्चात्य देशों मे मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उनके निवारण का प्रयास किया जा रहा है। अपराध न हो, इसके लिए

यह आवश्यक है कि अपराध-सम्बन्धी सभी कारणों का सही-सही वैज्ञानिक रूप से पता लगाकर उन्हें दूर किया जाय। किसी को अपराध करने पर, जेल जाने से उसमें अपराध करने के कारण को दूर नहीं किया जा सकता है बल्कि कुछ समय तक उसे वैसा करने से रोका जाता है। उन्हें स्थायी रूप से सुधारने के लिए तो मनोविज्ञान की सहायता लेनी ही आवश्यक है। हमारा देश भी इस दिशा में प्रगति कर रहा है। इसके फलस्वरूप बाल-अपराध योजना-सम्बन्धी न्यायालय (Juvenile courts) तथा बाल-अपराध सुधार केन्द्र (Reformatory Centres) की स्थापना हुई है जहाँ मनोवैज्ञानिक अध्ययन द्वारा प्राप्त तथ्यों का उपयोग कर बाल्य अपराधियों को दण्ड दिया जाता है अथवा उनकी चिकित्सा की जाती है। इस प्रकार उन्हे एक सफल अभियोजित व्यक्ति बनाने की चेष्टा की जाती है।

हमारे बिहार राज्य में भी हजारीबाग में स्थित (Reformatory Centre) इसका एक जीता-जागता उदाहरण है।

(६) कानून-सम्बन्धी मनोविज्ञान (Legal Psychology)—आज मनोविज्ञान का उपयोग कानून एवं न्याय-सम्बन्धी क्षेत्रो में भी किया जाने लगा है। मनोवैज्ञानिक ज्ञान के उपयोग के फलस्वरूप अपराधियों का सही-सही पता लगाने मे बहुत ही सहायता मिली है। जैसे—झूठ का पता लगाने की मापन-विधि और यन्त्र आदि का उपयोग अपराधियों का सही-सही पता लगाने में किया जाता है जैसे—Lie Detection Test, Psycho-galvanometre आदि।

इन मनोवैज्ञानिक नियमों एवं अपराधों का पता लगाने की विधि के उपयोग के कारण कानून-सम्बन्धी बातों मे भी काफी परिवर्त्तन हुआ है। आज अपराधियों को भी अन्य मानसिक असामान्यताओं की तरह एक असामान्यता (Abnormality) से पीड़ित व्यक्ति समझा जाता है। इसलिए उसे जेल की सजा न देकर उसकी चिकित्सा मनोवैज्ञानिक रूप से करने की कोशिश की जा रही है।

मनोविज्ञान की उपयोगिताएँ (Uses of Psychology)—

अन्य विज्ञानों की तरह मनोविज्ञान का भी अपना एक ध्येय है। मनोविज्ञान का ध्येय मनुष्यों की अनुभूतियों तथा व्यवहारों का उचित अध्ययन कर उनको सही रूप मे समझना तथा उनको नियंत्रित करना है। इस तरह यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान की सहायता से हमें मनुष्यों के बारे में सही-सही ज्ञान

मिल जाता है। हम इसकी मदद से न सिर्फ दूसरों को ही समझ पाते हैं बल्कि अपने आपको भी समझने में समर्थ होते हैं। अपने तथा दूसरों के अन्दर के गुण एवं दोष दोनों का ज्ञान हमें इसकी मदद से मिल पाता है। अर्थात् आत्म-ज्ञान (self-knowledge) तथा दूसरों के बारे में ज्ञान इसके द्वारा मिलता है, जिससे कि हम अपने तथा दूसरों के व्यवहारों को आवश्यकतानुसार नियंत्रित कर सकने में समर्थ हो पाते हैं। इस आत्म-ज्ञान तथा दूसरे के बारे में ज्ञान प्राप्त होने के फलस्वरूप व्यक्ति अपने वातावरण से सफलतापूर्वक अभियोजन करने में समर्थ हो पाता है। फलतः न सिर्फ व्यक्ति का ही जीवन सुखी हो पाता है बल्कि सम्पूर्ण समाज का जीवन सुखमय होता है। समाज मनोविज्ञान का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार मनोवैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से केवल व्यक्तिगत जीवन ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन (social life) भी सुखी हो पाता है।

असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal psychology) की मदद से अब असामान्य व्यक्तियों का इलाज हो रहा है। मनोविज्ञान की इस शाखा के प्रादुर्भाव के पूर्व लोगों का यह विचार था कि जो एक बार असामान्य हो गया है वह आजीवन सामान्य नहीं हो सकता है। परन्तु अब यह धारणा बिल्कुल ही गलत साबित हो चुकी है और बहुत हद तक असामान्य व्यक्तियों का सुधार हो पाया है।

बाल-मनोविज्ञान (Child Psychology) की सहायता से बालकों के सही-सही विकास होने में मदद मिलती है। इसकी मदद से बालकों के गुण एवं दोष दोनों का पता चल जाता है और जब बालकों का उचित विकास नहीं होता है तो उसके कारणों (Causes) का पता लगाकर यह विज्ञान उनके उचित विकास में सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार यह बालकों को एक सफल नागरिक बनने में मदद पहुँचाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology) द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक ज्ञान (Psychological knowledge) का उपयोग होने के कारण अब बालकों को उनकी योग्यताएँ तथा अभिरुचियों के अनुकूल शिक्षा दी जाती है। फलतः अब उनकी योग्यताओं का सदुपयोग हो पा रहा है। मनोविज्ञान की मदद से अब मनोवैज्ञानिक विभिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक त्रुटियों से पीड़ित बालकों (Education of Mentally and Physically handicapped Children) को उचित शिक्षा दे पा रहे हैं, जिससे कि उनका जीवन भी सफल हो पाया है।

आज मनोविज्ञान की ही देन है कि उद्योग-धन्धों (Industries) के क्षेत्र में भी काफी उन्नति हो पायी है। कारखानों के मालिक तथा मजदूर दोनों इससे लाभान्वित हुए हैं। मनोविज्ञान की मदद से ही व्यक्तियों को उनकी योग्यताएँ तथा अभिरुचियों के अनुकूल उचित कार्य-निर्देशन (Vocational guidance) मिल पा रहा है जिसके फलस्वरूप उनका जीवन सुखी हो पाया है।

व्यापार (Trade) के क्षेत्र मे भी प्रतिदिन हम मनोविज्ञान का उपयोग होते देखते हैं। सफल विज्ञापन (Advertisement) तथा प्रचार (Propaganda) व्यापार की उन्नति के लिए आवश्यक है। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक ज्ञान के अभाव मे सम्भव नहीं है। अतः व्यापार की उन्नति मे भी मनोविज्ञान की उपयोगिता काफी है।

न्यायालयों (Courts) में भी मनोविज्ञान की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है। आज इसकी मदद से अपराधियों का सही-सही पता लगाने में काफी मदद मिल रही है। मनोविज्ञान की सहायता से न सिर्फ अपराधियों का सही-सही पता लगता है बल्कि इसकी मदद से उनके अपराध करने के कारण का भी समुचित ज्ञान मिल पाया है। इसकी मदद से इस बात का पता चलता है कि अन्य बीमारियों की तरह अपराधी लोग (criminals) भी एक प्रकार की मानसिक बीमारी से पीडित व्यक्ति हैं। अतः उनका सुधार सिर्फ उनको जेल की सजा देने से नहीं हो सकता वलिक उनके अपराध करने क कारणों का सही-सही पता लगाकर उनको दूर करने की चेष्टा करने से ही हो सकता है। यह कार्य मनोविज्ञान की मदद के विना असम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह अपराधियों का उचित सुधार करने मे भी सहायक सिद्ध हो रहा है। इसकी मदद से समाज में शान्ति स्थापित होने की वहुत ही अधिक सम्भावना दीख पड रही है।

युद्ध के समय भी मनोविज्ञान की मदद लोगों ने ली है। (War Psychology)

यदि हम मनोविज्ञान की शाखाओं पर दृष्टिपात करें, जिनका वर्णन पहले हो चुका है, तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो मनोविज्ञान के प्रसाद से वचित है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसकी उपयोगिता पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है।

तीसरा अध्याय

मनोविज्ञान की विधियाँ

(Methods of Psychology)

मनोविज्ञान की विधियाँ—भूमिका—आत्मनिष्ठ विधियाँ—विप्रयोग कल्पना—इसकी आलोचना—अन्तर्निरीक्षण—अन्तर्निरीक्षण के दोष एवं गुण—वस्तुनिष्ठ विधियाँ—वाह्य निरीक्षण की विधि—वाह्य निरीक्षण के गुण और दोष—अन्तर्निरीक्षण तथा वाह्य निरीक्षण—

प्रयोगात्मक विधि—प्रयोग कैसे किया जाता है ?—प्रयोगात्मक विधि के गुण या विशेषताएँ तथा दोष—परिगणनात्मक या स्टैटिस्टीकल विधि—मनोविज्ञान की विधियों सम्बन्धी निष्कर्ष—

अन्य विज्ञानों की तरह, मनोविज्ञान का भी अपना अध्ययन-विषय (Subject matter) है, और जिसके अध्ययन के हेतु यह विशिष्ट विधियों का उपयोग करता है। प्रत्येक ध्येय की प्राप्ति के लिए कुछ-न-कुछ विधियों का उपयोग किया जाता है (means to an and). साधारणतः मनोविज्ञान द्वारा उपयोग की गयी विधियों की आलोचना यह कहकर की गई है कि वे भौतिक विज्ञानों की विधियों (Methods of Physical Sciences) के समान निश्चित तथा यथार्थ (Definite and accurate) नहीं हैं। पर यह विचारधारा बिलकुल ही गलत है, चूँकि मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय ही ऐसा है कि इसकी विधियाँ भौतिक विज्ञान की विधियों के समान निश्चित तथा यथार्थ नहीं हो सकती हैं। किसी भी विधि का स्वरूप (Nature) उसके अध्ययन विषय के स्वरूप पर ही निर्भर करता है। यहाँ पर मानवों पर अध्ययन किया जाता है जिनको

भौतिक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र (Physics and Chemistry) मे अणु तथा तत्त्वों (Atoms and elements) की तरह नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। हमलोगों ने पहले अध्याय में ही स्पष्ट कर दिया है कि मनोविज्ञान अपनी विधियों के वैज्ञानिक होने के कारण ही एक विज्ञान है। इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान की कुछ विधियों की आलोचना उन्हें अवैज्ञानिक तथा आत्मनिष्ठ (Unscientific and Subjective) बतलाकर की गई है।

यह आलोचना उस समय ठीक थी जब आरम्भ में मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत था और इसे काल्पनिक दर्शन (Speculative philosophy) की संज्ञा दी जाती थी तथा इसके अध्ययन की विधि भी वि-प्रयोग-कल्पना (Arm-chair speculation) थी, जिनकी सत्यता की जाँच नहीं हो सकती थी। पर यह एक बहुत ही पुरानीं बात है। अब मनोविज्ञान के क्षेत्र मे बहुत ही प्रगति हो गई है। हमने पहले अध्याय में ही मनोविज्ञान की परिभाषा देते समय कहा है कि ज्यों-ज्यों मनोविज्ञान की परिभाषा में परिवर्त्तन हुआ त्यों-त्यों इसके अध्ययन की विधियाँ भी बदलती गयीं और आज वे पूर्णतः वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक (Objective and Scientific) हो गई हैं। प्रारम्भ में जब मनोविज्ञान को आत्मा और मन का विज्ञान समझा जाता था तो इसके अध्ययन की विधि कल्पना ही थी (Speculation) पर आगे चलकर ऊँट, टीचेनर आदि मनोवैज्ञानिको ने इसे चेतन अनुभूति का विज्ञान (Science of conscious experience) माना तो इसकी विधि अन्तर्निरीक्षण (Introspection) थी और जब व्यवहारवादियो ने (Behaviourists) इसे व्यवहार का विज्ञान (Science of Behaviour) कहकर पुकारा तो उन्होने वाह्य निरीक्षण (Objective observation) को ही उसके अध्ययन की एकमात्र विधि बतलायी। १८७६ म ऊँट (Wundt) द्वारा लिपजिग में मनोविज्ञान की सर्वप्रथम प्रयोगशाला की स्थापना के उपरान्त मनोविज्ञान में प्रयोग भी होने लगा और इस प्रकार प्रयोगात्मक विधि (Experimental Method) का प्रादुर्भाव हुआ। पर चूँकि मनोविज्ञान चेतन अनुभूति तथा व्यवहार दोनों का अध्ययन करता है इसलिए इसके अध्ययन की विधियाँ अन्तर्निरीक्षण तथा वाह्य निरीक्षण दोनों ही हैं। पर अब तो प्रयोगात्मक विधि का भी उपयोग किया जा रहा है। प्रयोगात्मक विधि में अन्तर्निरीक्षण

तथा वाह्य निरीक्षण दोनो विधियों का उपयोग किया गया है। प्रत्येक विधि की अपनी-अपनी विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ (Merits and Demerits) होती हैं जिन पर अब हम एक-एककर विस्तार में प्रकाश डालेंगे।

साधारणतः हम मनोविज्ञान की विधियों को दो भागों में बाँट सकते हैं। पर उन दोनों को फिर अलग-अलग भागों मे बाँटा जा सकता है जो नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा—
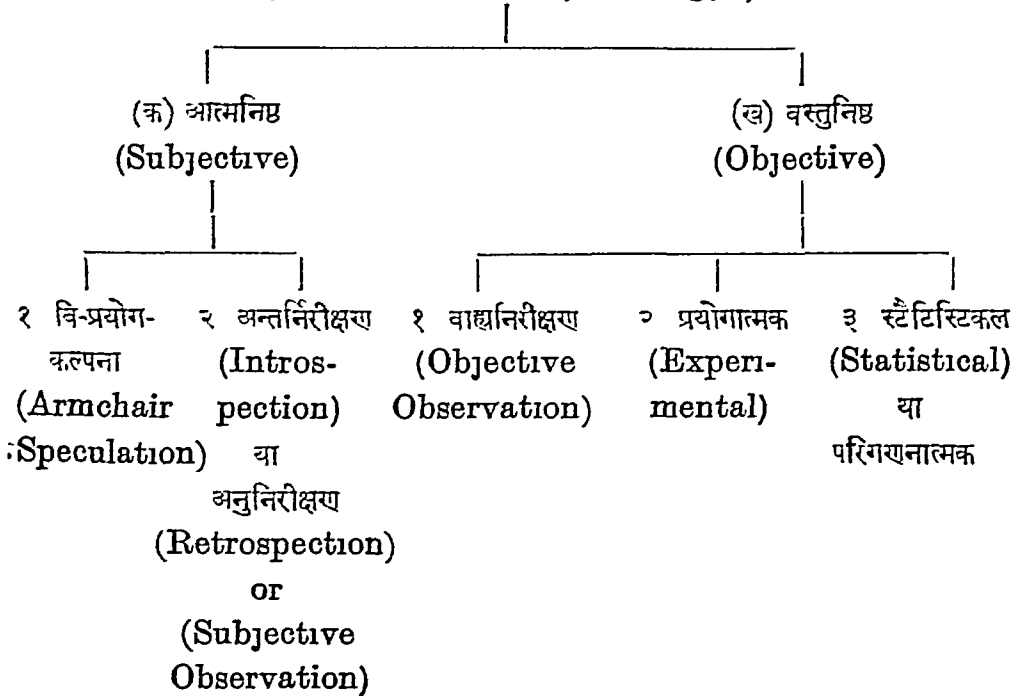
(१) आत्मनिष्ठ विधियाँ (Subjective Methods) :—

(क) वि-प्रयोग-कल्पना की विधि (Arm Chair Speculation Method)—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि प्रारम्भ मे मनोविज्ञान-दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत था और इसे काल्पनिक-दर्शन (Speculative Philosophy) की संज्ञा दी जाती थी। इसे आत्मा तथा मन का विज्ञान माना जाता था। अस्तु, इसके अध्ययन की विधि भी वि-प्रयोग-कल्पना ही थी। बैठे-बैठे किसी विषय के बारे में सोचना तथा सोचकर उस पर प्रकाश डालने की विधि को वि-प्रयोग-कल्पना विधि कहते हैं। इससे प्राप्त सामग्रियों (Data) की सत्यता की जाँच सम्भव

नहीं थी, तथा यह पूर्णतः आत्मनिष्ठ (Subjective) थी। अतः, इस विधि को आत्मनिष्ठ तथा अवैज्ञानिक (Subjective and un-scientific) कहा गया है।

(ख) अन्तर्निरीक्षण (Introspection) की विधि—आगे चलकर स्ट्रक्चरलिस्ट (Structuratist) लोगों ने मनोविज्ञान को चेतन अनुभूति का विज्ञान (Science of conscious experience) कहकर परिभाषित किया और अन्तर्निरीक्षण को ही इसके अध्ययन की एक मात्र विधि माना। 'Introspection' शब्द 'to introspect' क्रिया से बना है। 'To introspect' का अर्थ होता है 'to look within' अर्थात् 'अपने अन्दर स्वयं झाकना।' यह आन्तरिक निरीक्षण (Internal observation) की क्रिया है अर्थात् अपनी ही मानसिक क्रियाओं को स्वयं अध्ययन करने तथा उनके बारे में रिपोर्ट देने की विधि को अन्तर्निरीक्षण की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दर फूल को देखने के पश्चात् अपने अन्दर होनेवाली मानसिक प्रक्रियाओं का स्वयं अध्ययन कर उसके बारे मे बतलाता है तो इस विधि को हम अन्तर्निरीक्षण विधि कहेंगे। अस्तित्ववादियों (Structuralist) का कहना था कि मन (mind) की पूरी जानकारी के लिए इस विधि का उपयोग अत्यन्त ही आवश्यक है (Indispensible) उनका तर्क यह था कि चूँकि हम सभी के पास मन है, हम सभी की पहुँच उपयुक्त तथ्यों तक है। इन तथ्यों का क्रमबद्ध अन्तर्निरीक्षण (Systematic Introspection) कर उनसे निष्कर्ष निकालने मात्र की ही आवश्यकता है। लेकिन व्यवहार में उससे मनोवैज्ञानिकों को बहुत-सी बाधाओं का सामना करना पड़ा और यह साबित हो गया कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान (Scientific Psychology) को पूर्णतः सिर्फ अन्तर्निरीक्षण की विधि पर आधारित नहीं किया जा सकता है। पर इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए अन्तर्निरीक्षण की विधि की उपयोगिता बिल्कुल ही नहीं है। इसमें गुण तथा दोष दोनों हैं।

अन्तर्निरीक्षण की विधि के दोष (Demerits of Introspection Method)—अन्तर्निरीक्षण की विधि में निम्नलिखित दोषों को बतलाकर इनकी आलोचना की गई है:—

(१) अन्तर्निरीक्षण निरीक्षित क्रिया को ही बदल देता है। उदाहरण के लिए हम क्रोधित हो गये हैं। क्रोध की अवस्था में यदि हम अपने

अन्दर होनेवाली सारी प्रक्रियाओं का अन्तनिरीक्षण करने लगें तो इसका परिणाम होगा कि हमारा क्रोध समाप्त हो जायेगा और हम क्रोध करना भूलकर कोई दूसरा ही भिन्न व्यवहार करने लगेंगे। ठीक उसी प्रकार भय अथवा प्रेम की अवस्था में यदि व्यक्ति अन्तर्निरीक्षण करने लगे तो भय या प्रेम के संवेग का उसमें उस समय सर्वथा लोप हो जायगा। इसलिए कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अन्तर्निरीक्षण करने के समय मन (mind) दो भागों में विभाजित रहता है—(क) जिस वस्तु या क्रिया का अन्तर्निरीक्षण किया जा रहा है उसकी जानकारी प्राप्त करना तथा (ख) उस क्रिया की जानकारी की जानकारी हासिल करना (knowing the knowing of a thing)। इन दोनों क्रियाओं को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। चूँकि मन एक इकाई की तरह कार्य करता है (mind acts as one unit). अतः इसे उपरोक्त दो विभिन्न भागों में बाँटा नहीं जा सकता है। अस्तु उनका कहना है कि अन्तर्निरीक्षण सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ अपनी क्रोधावस्था का अन्तर्निरीक्षण करना तथा उसी समय उसके बारे में रिपोर्ट देना कदापि सम्भव नहीं है चूँकि ऐसा करने से क्रोध का संवेग ही लुप्त हो जायगा। पर अनुनिरीक्षण (Retrospection) सम्भव है। इसलिए इसे अन्तर्निरीक्षण की विधि न कहकर अनुनिरीक्षण की विधि कहना अधिक उपयुक्त होगा। अनुनिरीक्षण की विधि में व्यक्ति अपनी मानसिक क्रिया का वर्णन जब वे क्रियाशील रहती हैं तब नहीं करता है, बल्कि उसके समाप्त हो जाने के बाद ही उसका निरीक्षण कर उसके बारे में रिपोर्ट देता है। इसे ही अनुनिरीक्षण की संज्ञा दी जाती है। जैसे, क्रोध की अवस्था में अन्तर्निरीक्षण न कर क्रोध समाप्त हो जाने के बाद अनुनिरीक्षण करना। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अनुनिरीक्षण में भी निम्नलिखित कठिनाइयाँ हैं—

(क) यहाँ पर व्यक्ति द्वारा उसकी एक विशेष अवस्था में होनेवाली मानसिक क्रियाओं के बारे मे दिये हुए रिपोर्ट की सत्यता पर विश्वास करने के लिए उसकी स्मरण-क्रिया की विश्वस्तता (reliability) पर भरोसा करना होगा। मानसिक क्रियाओं का हू-ब-हू वर्णन सर्वदा सम्भव नहीं है। अतः हो सकता है कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं का रूप कुछ और ही हो और वह उसका वर्णन उसी ढंग से प्रस्तुत न कर किसी दूसरे ढंग से ही करे। अस्तु मानसिक प्रक्रियाओं का यथार्थ वर्णन

मिलना कठिन हो जाता है। इस तरह इनसे प्राप्त सामग्रियों पर आधारित निष्कर्ष सर्वदा सही एवं विश्वसनीय (valid & reliable) नहीं होता है। परन्तु यदि व्यक्ति अनुनिरीक्षण का काफी अभ्यास करे तो उसकी अपनी मानसिक अवस्थाओं के रिपोर्ट की सार्थकता बढ़ जायगी।

(ख) हमारी कुछ मानसिक क्रियाएँ तो अपेक्षाकृत चंचल हैं तथा बहुत ही कम समय तक प्राणी में ठहरनेवाली होती हैं। उतने कम समय के अन्दर उनका ठीक-ठीक ढंग से अन्तर्निरीक्षण कर सकना एक बहुत ही कठिन समस्या हो जाती है। साधारण व्यक्ति इनका अन्तर्निरीक्षण नहीं कर सकता है। परन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि व्यक्ति अन्तनिरीक्षण का अभ्यास करे तो उसे बहुत कुछ सफलता मिल सकती है।

(ग) हमारी कुछ मानसिक क्रियाएँ जैसे प्रेरणा का पक्षपात रहित अन्तर्निरीक्षण भी सम्भव नहीं है। कुछ प्रेरणाएँ जो अर्धचेतनावस्था में रहती हैं उनका अन्तर्निरीक्षण तो बिलकुल ही सम्भव नहीं है।

उपरोक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि अन्तर्निरीक्षण की विधि बिलकुल ही उपयोगी नहीं है। इसके द्वारा अनेक मानसिक क्रियाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त हो पाया है। मनोविज्ञान के आलोच्य विषय का अध्ययन करने में इसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(२) अन्तर्निरीक्षण विधि पर आरोपित दूसरी आपत्ति यह है कि यह आत्मनिष्ठ (Subjective) तथा व्यक्तिगत (Personal) होती है। अन्तर्निरीक्षण द्वारा संग्रह की गई सामग्रियो में असुविधा यह है कि इनका निरीक्षण अन्तर्निरीक्षक के अतिरिक्त दूसरा नहीं कर सकता है (It is private to the observer)। उदाहरणार्थ—हमलोग अपनी सवेदना या प्रतिमा के सिवा दूसरों की संवेदना तथा प्रतिमा का निरीक्षण नहीं कर सकते हैं। अस्तु, कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इसपर आधारित निष्कर्प सही (Valid) तथा विश्वसनीय (Reliable) नहीं होंगे और इनसे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर मनोविज्ञान के सामान्य नियमों की रचना करना भ्रामक सिद्ध होगा। अतः इस विधि को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि अन्तर्निरीक्षण पर आरोपित यह आपत्ति ठीक नहीं है। चूँकि हम दूसरों की मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण नहीं कर सकते, इसलिए स्वयं अन्तर्निरीक्षक द्वारा उसकी अपनी मानसिक क्रियाओं के बारे में दी हुई रिपोर्ट बिल्कुल

अविश्वसनीय तथा असत्य होगा मानना युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है। यदि एक से अधिक अन्तर्निरीक्षक एक ही तरह की स्थिति में एक ही प्रकार की मानसिक क्रियाओं का वर्णन करें तो उनपर आधारित निष्कर्षों को हम निस्सन्देह विश्वसनीय तथा सही (Reliable and Valid) मान सकते हैं। इन निष्कर्षों को हम वैज्ञानिक भी कह सकते हैं। उदाहरणार्थ—यदि भय की अवस्था में अनेक सामान्य अन्तर्निरीक्षक प्रायः दुःख, तनाव, हतोत्साह आदि का अनुभव करने का वर्णन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भय की अवस्था में प्रायः व्यक्ति एक प्रकार के दुःख, तनाव, हतोत्साह आदि का अनुभव करता है तथा इस सामान्य नियम की सत्यता एवं विश्वसनीयता को हम निस्सन्देह स्वीकार कर सकते हैं।

(३) अन्तर्निरीक्षण पर आरोपित तीसरी आपत्ति यह है कि यहाँ एक ही व्यक्ति अनुभवकर्त्ता तथा निरीक्षक (Explainer and Observer) दोनों ही का कार्य करता है, जो परस्पर विरोधी कार्य हैं। अर्थात् अन्तर्निरीक्षण की अवस्था में एक ही व्यक्ति ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हो जाता है जो कुछ मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में प्रायः तर्क रहित मालूम पड़ता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ये दोनों बातें प्रायः एक साथ होती दिखलाई पड़ती हैं। इमें ठीक-ठीक रूप मे करने के लिए सिर्फ अभ्यास की आवश्यकता है। अस्तु, इसे अन्तर्निरीक्षण की एक ऐसी त्रुटि नहीं कहेंगे जिसके आधार पर अन्तर्निरीक्षण की विधि का तिरस्कार किया जाय।

(४) इसके द्वारा प्रस्तुत सामग्रियाँ (Data) निश्चित (Definite) नहीं हैं तथा इनको ठीक-ठीक मापा (measure) भी नहीं जा सकता है। जैसे, संवेदना की शक्ति (Strength of Sensation) का परिमाण-सम्बन्धित मापन (Quantitative Measurement) सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि दृष्टि-प्रतिमा (Visual Image), श्रवण-प्रतिमा (Auditory Image) तथा घ्राण-प्रतिमा (Olfactory Image) से साधारणतः अधिक स्पष्ट (Clear) है पर इसका परिगणनात्मक अभिव्यक्ति (Statistical Description) सम्भव नहीं है। अस्तु, यह परिमाण-सम्बन्धी नहीं बल्कि गुण-सम्बन्धी सामग्रियों (qualitative data) को प्रस्तुत करता है। पर, इस पर आरोपित यह आपत्ति गलत है। अब तो अन्तर्निरीक्षण की सहायता से संवेदना, प्रतिमा आदि का भी मनोदैहिक

विधियों द्वारा (Psycho-Physical methods) परिगणनात्मक वर्णन किया जाने लगा है।

(५) इसपर आरोपित पाँचवीं आपत्ति यह है कि इसका व्यवहार (Application) सभी प्रकार के अध्ययनों मे सम्भव नहीं है। यह सिर्फ प्रौढ़ व्यक्तियों के अध्ययन (Study of adult beings) तक ही सीमित है। बालकों या पशुओं का अध्ययन (Study of the children and animals) इस विधि द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि वे अन्तर्निरीक्षण नहीं कर सकते हैं।

(६) अन्तर्निरीक्षण पर आरोपित सबसे अन्तिम आपत्ति यह है कि बहुत-सी अनुभूतियाँ ऐसी हैं जिनकी अभिव्यक्ति उपयुक्त शब्दों के अभाव (for want of appropriate words) के कारण ठीक-ठीक नहीं कर सकते हैं। परन्तु इसे हम अन्तर्निरीक्षण विधि का दोष न कहकर भाषा का दोष कहेंगे।

हालाँकि इस विधि के उपयोग के विरुद्ध उपरोक्त आपत्तियाँ आरोपित की गई हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए अन्तर्निरीक्षण विधि बिलकुल ही उपयोगी नहीं है। किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिको का यह विचार बहुत हद तक उपयुक्त है कि सिर्फ अन्तर्निरीक्षण पर आधारित विज्ञान की असफलता निश्चित ही थी। इससे यह स्पष्ट है कि उपरोक्त कारणों से अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान की एकमात्र विधि नहीं मानी जा सकती है। फिर भी इसका उपयोग अत्यावश्यक है, चूँकि इसके द्वारा मनोविज्ञान के अनेक समस्याओं के अध्ययन में सहायता पहुँचता है। मानसिक प्रक्रियाएँ जैसे संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, चिन्तन, कल्पना, संवेग तथा भाव आदि का समुचित अध्ययन अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्रियों (Introspective Data) के अभाव में सम्भव नहीं है। उपरोक्त मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के समय व्यक्ति द्वारा दिये गये रिपोर्ट की समानता ने इन मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की रचना करने में बहुत ही मदद पहुँचाई है।—रिपोर्टों मे वास्तविकता के अभाव (Possible Distortion) को भी अन्तर्निरीक्षक अपने अभ्यास द्वारा दूर कर सकता है। कभी-कभी तो अन्तर्निरीक्षण, व्यक्ति के व्यवहारों का सही-सही स्वरूप (Nature) तथा उनकी उत्पत्ति के कारणों का पता लगाने में अत्यन्त ही लाभदायक सिद्ध हुआ है। जैसे, हँसने की क्रिया को ही

ले लिया जाय। यह कई कारणों से हो सकती है। सही कारण का पता व्यक्ति के अन्तर्निरीक्षण पर आधारित वर्णनों द्वारा ही लगाया जा सकता है।

सामान्यतः व्यक्ति की मानसिक अनुभूतियों तथा उसके प्रकट व्यवहारों में परस्पर सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। अस्तु प्रकट व्यवहारों को देखकर उनसे सम्बन्धित मानसिक अवस्थाओं का समुचित अध्ययन सम्भव है। इसलिए अन्तर्निरीक्षण की शेषपूर्त्ति (Supplement) वस्तुनिष्ठ निरीक्षण द्वारा भी सम्भव है। इस विधि के द्वारा मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के व्यवहारों का निष्पक्ष अध्ययन (Unbiased study) करते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ ऐसी हैं जहाँ अन्तर्निरीक्षण से अधिक लाभदायक वस्तुनिष्ठ निरीक्षण (Objective observation) की विधि ही प्रमाणित हुई है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान के समुचित अध्ययन के लिए अन्तर्निरीक्षण की विधि की शेषपूर्त्ति वस्तुनिष्ठ विधियों द्वारा की जानी चाहिए। फिर भी दूसरों के व्यवहारों को सही-सही रूप में समझने तथा इनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने के लिए अपनी अनुभूतियों का अन्तर्निरीक्षण करना भी परम आवश्यक है। इसके अभाव में तो हम दूसरों के व्यवहार को ठीक-ठीक से समझ ही नहीं सकते हैं। इस बात का स्पष्टीकरण तो मनोविज्ञान की परिभाषा देते समय पहले अध्याय में भी कर दिया गया है।

(ख) वस्तुनिष्ठ विधियाँ (Objective Methods) :—

१. **वस्तुनिष्ठ वाह्य निरीक्षण (Method of objective observation) की विधि**—यहाँ पर विशेष रूप से निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) वाह्यनिरीक्षण किसे कहते हैं? (२) मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए यह क्यों आवश्यक है अर्थात् वाह्यनिरीक्षण विधि के गुण। (३) इसके दोष और (४) किस प्रकार यह अन्तर्निरीक्षण की शेषपूर्ति करता है। अर्थात्, वाह्य-निरीक्षण एवं अन्तर्निरीक्षण विधियों में सम्बन्ध।

(१) वाह्य-निरीक्षण किसे कहते हैं? (What is objective observation?)—यह आधुनिक मनोविज्ञान की दूसरी प्रमुख विधि है। इसमें प्राणी के व्यवहारों का वास्तविक निरीक्षण एक नियन्त्रित परिस्थिति

(controlled conditions) मे किया जाता है। व्यवहारवादियों (Behaviourists) के कथनानुसार यह मनोविज्ञान की एकमात्र उपयुक्त विधि थी, क्योंकि उनके अनुसार मनोविज्ञान 'व्यवहार के अध्ययन का ही विज्ञान' था और किसी के व्यवहार के अध्ययन की विधि वस्तुनिष्ठ निरीक्षण के अतिरिक्त दूसरी नही हो सकती थी।

व्यवहार दो प्रकार के होते हैं (Two kinds of behaviour)—आन्तरिक (Internal) और वाह्य (External)।

आन्तरिक-व्यवहार (Internal behaviour) उसे कहते हैं जिनका निरीक्षण नग्न आँखों (naked eyes) द्वारा सम्भव नहीं है। वे यवहार जो शरीर के अन्दर होते हैं तथा जिनका अध्ययन विशिष्ट यन्त्रों की सहायता से सम्भव हैं उन्हें ही आन्तरिक व्यवहार की संज्ञा दी गई है। जैसे, हृदय की गति में परिवर्तन, श्वास की गति में परिवर्तन, रक्त-संचालन, रक्त मे रासायनिक परिवर्तन, नाड़ी की गति में वृद्धि या कमी आदि।

वाह्य-व्यवहार (External behaviour) उसे कहते हैं जो शरीर के वाहर होते हैं और जिनका निरीक्षण हम नग्न आँखों से कर सकते हैं, जैसे मुखाकृति मे परिवर्तन (changes in facial expression), शरीर की स्थिति में (Postural changes) परिवर्तन आदि।

चूँकि मन और शरीर मे एक निकट सम्बन्ध है, इसलिए प्रत्येक मानसिक प्रक्रियाओं से सवद्ध कोई-न-कोई शारीरिक व्यवहार अवश्य ही होता है। अस्तु, मानसिक क्रियाओं के समुचित ज्ञान के लिए उनसे सम्बन्धित व्यवहारों का अध्ययन भी अनिवार्य है। व्यवहारों के निरीक्षण के फल-स्वरूप प्राप्त ज्ञान, अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान की पुष्टिकरण तथा शेषपूर्त्ति करता है, और जब दोनों विधियाँ समान निष्कर्ष पर पहुँचती हैं तो हम अपने तथ्यों (fact) की यथार्थता (accuracy) की स्थापना करते हैं। अतः वस्तुनिष्ठ निरीक्षण की विधि अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा प्राप्त तथ्यों की सत्यता की जाँच स्वरूप है। (Objective observation is a check against facts obtained by the introspection method)।

अस्तु, वस्तुनिष्ठ निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्रियों पर आधारित निष्कर्षों की सहायता से विभिन्न मानसिक क्रियाओं के वारे में स्थापित किये गये सामान्य नियमों को हम सही तथा विश्वसनीय एवं वैज्ञानिक मान सकते हैं (Reliable, valid and scientific)।

(२) **वाह्यनिरीक्षण विधि के गुण** (Merits of the method of objective observation)—(१) यह वस्तुनिष्ठ (objective) तथा अवैयक्तिक (Impersonal) है, चूँकि किसी के व्यवहार का निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। यह निरीक्षण दो प्रकार से सम्भव है (क) आत्मनिष्ठ निरीक्षण तथा (ख) वस्तुनिष्ठ निरीक्षण द्वारा। आत्मनिष्ठ निरीक्षण के निष्कर्षों में निरीक्षक की अपनी मनोवृत्ति (Attitude) तथा अभिरुचि (Interest) एवं पक्षपात (Bias) का प्रभाव पड़ जाता है। परन्तु वस्तुनिष्ठ निरीक्षण में मनोवैज्ञानिक अपने निष्कर्षों पर अपनी अभिरुचि, मनोवृत्ति एवं किसी प्रकार के पक्षपातपूर्ण दृष्टि का प्रभाव नहीं पड़ने देता है। पक्षपात रहित होने के कारण वस्तुनिष्ठ विधि से विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों में अधिक समानता देखी जाती है। अस्तु, इस विधि से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर बनाये सामान्य नियमों की सत्यता तथा विश्वसनीयता पर शक (doubt) नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए संवेग की अवस्था में श्वांस की गति (Respiration) में होनेवाले परिवर्त्तन को ही ले लिया जाय। एक प्रकार के विशिष्ट यन्त्र 'निमोग्राफ' (Pneumograph) के द्वारा इसका अध्ययन सम्भव है। इसमें निरीक्षक द्वारा व्यक्तिगत व्याख्या की गुञ्जाइश ही नहीं है, चूँकि सभी कोई इसका निरीक्षण वाह्य रूप से ही कर सकता है।

(२) यहाँ पर परिमाण-सम्बन्धी अध्ययन भी सम्भव है। (Quantitative study is also possible). जैसे कि हम संवेग की अवस्था में होनेवाले विभिन्न शारीरिक परिवर्त्तनों को परिमाण-रूप (quantitatively) से माप सकते हैं, अथवा यह कहा जाय कि उनकी परिगणनात्मक अभिव्यक्ति (Statistical expression) सम्भव है।

(३) अन्तर्निरीक्षण की तरह इसका क्षेत्र सीमित न होकर बहुत ही विस्तृत है। जहाँ कि अन्तर्निरीक्षण सिर्फ मनुष्यों (वयस्क) पर ही सम्भव है, वाह्य निरीक्षण, बालकों, पशुओं, पागलों (असामान्य) आदि सबों पर सम्भव है। हम न सिर्फ सामान्य मनुष्यों के ही व्यवहारों का अध्ययन कर सकते हैं बल्कि बालक, पशु, असामान्य व्यक्ति सभी के व्यवहारों का अध्ययन इस विधि द्वारा कर सकते हैं, जो कि अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

(४) इस विधि के द्वारा कम ही समय में एक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन सम्भव है। जैसे हम सामूहिक व्यवहार (Group behaviour)

का भी अध्ययन इस विधि द्वारा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक साथ एक से अधिक निरीक्षक एक ही प्राणी अथवा परिस्थिति का अध्ययन एक ही समय में कर सकते हैं।

वाह्य निरीक्षण के उपरोक्त गुणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होगा कि अन्तनिरीक्षण पर आरोपित सभी आपत्तियों से यह वंचित है। फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसमें निम्नलिखित दोषों के होने की सम्भावना बतलायी है।

३. **वाह्य निरीक्षण की विधि के दोष** (Demerits of the method of objective observation)—(१) कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि निरीक्षक की पूर्वधारणा (Prejudice) उसके निरीक्षण के निष्कर्षों को प्रभावित करता है। फलतः इनसे प्राप्त सामग्रियों पर आधारित निष्कर्ष गलत तथा अविश्वसनीय होंगे। स्थापित निष्कर्षों की सत्यता तथा विश्वसनीयता के लिए आवश्यक है कि अध्ययन-विषय का निरीक्षण वस्तुनिष्ठ (objective) एवं पक्षपात रहित (Unbiased) हो अर्थात् वे जैसा हों ठीक वैसा ही उनका वर्णन उनके अध्ययन के उपरान्त करना चाहिए, न कि जैसी निरीक्षक की इच्छा हो। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राणी के व्यवहारों का वस्तुनिष्ठ तथा पक्षपात रहित अध्ययन करना अनिवार्य है।

(२) इस विधि पर आरोपित दूसरी आपत्ति यह है कि साधारणतः यह देखा जाता है कि निरीक्षक, बालक, पशुओं तथा असामान्यों के व्यवहारों का अध्ययन अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से करते हैं जिसके फलस्वरूप उनके सम्बन्ध में किये गये अध्ययन गलत होते हैं और उनपर आधारित निष्कर्षों की सत्यता तथा विश्वसनीयता भी नहीं के बराबर ही रहती है। उदाहरणार्थ, यदि बच्चों के व्यवहारों का निरीक्षण यह समझकर नहीं किया जाय कि वह बच्चा है, वरन् वयस्कों के दृष्टिकोण से किया जाय तो उसके व्यवहार असामान्य मालूम पड़ेंगे।

उपरोक्त दोनों दोष वाह्य-निरीक्षण की विधि में नहीं है, बल्कि उस विधि के गलत उपयोग के कारण हैं। यदि उनका उपयोग ध्यानपूर्वक किया जाय तो दोनों दोषों से इसे बिलकुल वंचित रखा जा सकता है।

(३) इसपर आरोपित तीसरी आपत्ति यह है कि सिर्फ किसी के व्यवहार के अध्ययन के उपरान्त ही उसके व्यवहारों से सम्बन्धित मानसिक स्थिति का सही-सही पता नहीं लगाया जा सकता है, चूँकि एक ही

शारीरिक क्रिया (Bodily activity), विभिन्न मानसिक स्थितियों की सूचक होती है। जैसे मनुष्य क्रोध तथा हर्ष दोनों ही अवस्थाओं में विशेष प्रकार से उत्तेजित पाया जाता है। सिर्फ उसके उत्तेजित अवस्था का वाह्य निरीक्षण कर यह सही-सही रूप मे नहीं जाना जा सकता है कि उसकी यह उत्तेजित अवस्था उसके क्रोध अथवा हर्ष की स्थिति का सूचक है। अस्तु, उसकी मानसिक स्थिति का सही-सही पता लगाने के लिए यह सदा आवश्यक है निरीक्षक निरीक्षित व्यक्ति के वातावरण से पूर्णतः भिज्ञ रहे। अतः यह आवश्यक है कि वाह्य निरीक्षण सविस्तार (Detailed) हो।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वाह्य निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्रियों पर आधारित निष्कर्षों को सही तथा विश्वसनीय होने के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है : वे पक्षपात रहित (Unbiased), क्रमबद्ध (Systematic), धैर्यपूर्ण (Patient) तथा सविस्तार (Detailed) हों। ऐसा करने से इनकी उपरोक्त तीनों दोषों को दूर किया जा सकता है। वस्तुतः इस विधि पर आरोपित सभी दोष इस विधि विशेष में नहीं हैं बल्कि इसके गलत उपयोग के कारण हैं। अस्तु, वाह्य निरीक्षण की विधि मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए बहुत ही उपयोगी है।

४. अन्तर्निरीक्षण तथा वाह्य निरीक्षण की विधियों में सम्बन्ध (Relation between methods of Introspection and objective observation)—ऊपर अन्तर्निरीक्षण तथा वाह्य निरीक्षण दोनों विधियों के गुण तथा दोष पर ध्यान दिया गया है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि ये दोनों विधियाँ एक दूसरे के विरुद्ध नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। मनोविज्ञान के आलोच्य विषय (Subject-matter) के अध्ययन के लिए ये दोनों विधियाँ समान रूप से आवश्यक हैं। दूसरों के व्यवहारों का निरीक्षण एवं उनकी समुचित व्याख्या निरीक्षक के निजी अनुभूति के बिना सम्भव नहीं। यह अन्तर्निरीक्षण की विधि द्वारा ही की जाती है।

एक ही प्रकार के व्यवहार का अर्थ एक संस्कृति (Culture) से दूसरी संस्कृति में भिन्न होता है तथा एक ही संस्कृति में समय-समय पर यह बदलता भी रहता है। अर्थात् व्यवहार की सही व्याख्या के लिए उस व्यवहार का निरीक्षण संस्कृति तथा समय को ध्यान में रखकर

करना चाहिए। फिर व्यवहार सदा हृदय के भावों अथवा ठीक मानसिक स्थिति का सही-सही सूचक नहीं रहता है। जैसे आदमी अन्दर से बहुत दुःखी होकर भी बाहर-बाहर दूसरों के सामने मुस्कुराता रह सकता है। अतः वाह्य-निरीक्षण की शेषपूर्ति (Supplement), अन्तर्निरीक्षण द्वारा आवश्यक है। उसी तरह अन्तर्निरीक्षक द्वारा दिया हुआ रिपोर्ट सदा उसके वास्तविक मानसिक स्थिति का परिचायक (Index) नहीं रहता हैं, इसलिए उसकी मानसिक स्थिति की वास्तविकता की जानकारी के हेतु वाह्य-निरीक्षण की विधि का उपयोग अन्तर्निरीक्षण के पूरक के समान करना चाहिए। दोनों विधियों में सम्भव होनेवाली त्रुटियों को हम एक दूसरे के उपयोग से दूर कर सकते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान के आलोच्य विषय के उचित अध्ययन तथा उनसे प्राप्त निष्कर्षों पर विश्वास करने के लिए अन्तर्निरीक्षण तथा वाह्य-निरीक्षण दोनों विधियों का उपयोग करना अत्यावश्यक है।

(२) प्रयोगात्मक विधि (Experimental Method)—जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में ही बतला दिया गया है कि मनोविज्ञान के अध्ययन की विधियाँ अन्तर्निरीक्षण तथा वाह्य निरीक्षण तक ही सीमित नहीं रहीं, वरन् वुँट (Wundt) नामक मनोवैज्ञानिक द्वारा लिपजिग नामक स्थान में सन् १८७९ में मनोविज्ञान की सर्वप्रथम प्रयोगशाला की स्थापना के फलस्वरूप मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए प्रयोगात्मक विधि का भी प्रादुर्भाव हुआ।

प्रयोग विधि में कई अन्य विधियों की सहायता ली जाती है। इसमें निम्नलिखित अन्य तीन विधियों का भी समावेश रहता है: (क) अन्तर्निरीक्षण, (ख) वाह्यनिरीक्षण, (ग) स्ट्रैटिस्टीकल या परिगणनात्मक विधि।

इस विधि के गुण तथा दोष के ऊपर प्रकाश डालने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि प्रयोग किसे कहते हैं, और यह कैसे किया जाता है? ('What is an experiment ?' and 'How it is conducted ?') :—

प्रयोगशाला में पूर्व निश्चित एवं पूर्व निर्धारित स्थिति में किसी विशेष स्वतन्त्र परिवर्त्य (Independent variable) का प्रयोज्य (Subject) की अनुभूतियों एवं व्यवहारों के ऊपर पड़नेवाले प्रभावों का वस्तुनिष्ठ तथा

अवैयक्तिक निरीक्षण विशिष्ट यन्त्रों तथा सामग्रियों (Apparatus and materials) की सहायता से प्रयोगकर्त्ता (Experimenter) करता है और उनमें वह निष्कर्ष निकलता है। जो प्रयोग करता है उसे प्रयोगकर्त्ता तथा जिस पर प्रयोग किया जाता है उसे प्रयोज्य कहते हैं।

वातावरण की स्थिति प्रतिक्षण बदलती रहती है, जैसे प्रकाश, ताप, आर्द्रता आदि। जो क्षण-क्षण बदलता जाय उसे हम परिवर्त्य कहते हैं।

कुछ परिवर्त्य प्राणी के अन्दर रहते हैं, तो कुछ बाहर। इन्हें क्रमशः आन्तरिक एवं बाह्य परिवर्त्य कहते हैं। प्राणी के अन्दर होनेवाले परिवर्त्यों में प्राणी की मानसिक स्थिति जैसे पीड़ा, शोक, आनन्द आदि का उल्लेख किया जा सकता है। प्राणी के बाहर वातावरण में होनेवाले परिवर्त्तन बाह्य परिवर्त्य के कारण ही होते हैं। एक समय वातावरण में जितनी गर्मी है, दूसरे क्षण में वह कम हो जा सकती है। इसी प्रकार आर्द्रता, प्रकाश आदि में भी परिवर्त्तन होते रहते हैं। आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के परिवर्त्य प्राणी के व्यवहार पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में हम इन परिवर्त्यों का वर्गीकरण निम्नलिखित तीन भागों में करते हैं—

(१) स्वतन्त्र परिवर्त्य (Independent Variable)—जिस परिवर्त्य का प्रभाव हम किसी क्रिया-विशेष पर देखते हैं, उसे स्वतन्त्र परिवर्त्य कहा जाता है।

(२) आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable)—स्वतन्त्र परिवर्त्य द्वारा किसी क्रिया-विशेष पर पड़े प्रभावों को आश्रित परिवर्त्य की संज्ञा दी गई है।

(३) नियन्त्रित परिवर्त्य (Controlled Variable)—प्रयोग करने के समय स्वतन्त्र परिवर्त्य के अतिरिक्त एक क्रिया-विशेष को प्रभावित करनेवाले अन्य परिवर्त्यों को जिन्हें उस समय नियन्त्रित किया जाता है जिससे कि उनका उस क्रिया पर कोई प्रभाव न पड़ सके, उन्हें नियन्त्रित परिवर्त्यों के नाम से पुकारते हैं।

इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। मान लीजिये कि हमें प्रयोग द्वारा यह जानना है कि 'अभ्यास का मनुष्य के सीखने की क्रिया पर

क्या प्रभाव पड़ता है'। 'क्या अभ्यास के द्वारा सीखने की क्रिया सचमुच में अधिक शीघ्रता से सम्पादित होती है ?'

यह प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होगा। सबसे पहले यह सोचना होगा कि अभ्यास के अतिरिक्त सीखने की क्रिया पर किन-किन परिवर्त्यों का प्रभाव पड़ता है। ध्यान देने पर मालूम होगा कि अभ्यास के अतिरिक्त 'थकावट', 'स्वास्थ्य' 'किये हुए कार्यों में फल का ज्ञान', 'पुरस्कार' अथवा 'दण्ड' आदि का भी प्रभाव सीखने की क्रिया पर पड़ता है।

इस प्रयोग में हम चूँकि सिर्फ अभ्यास नामक परिवर्त्य का ही प्रभाव सीखने की क्रिया पर जानना चाहते हैं, अस्तु अभ्यास के अतिरिक्त उपरोक्त लिखे गये अन्य परिवर्त्यों को नियन्त्रित कर देंगे ताकि उन परिवर्त्यों का यथासम्भव प्रभाव सीखने की क्रिया पर न पड़े। यहाँ हमें सिर्फ अभ्यास का प्रभाव देखना है, इसके हेतु हम किसी एक कार्य-विशेष को ही बार-बार प्रयोज्य को करने को देंगे। जिस परिवर्त्य के प्रभाव को हमें जानना है उसे हम स्वतन्त्र परिवर्त्य (Independent Variable) कहते हैं। अस्तु यहाँ 'अभ्यास' एक स्वतन्त्र परिवर्त्य है जिसका प्रभाव हम सीखने की क्रिया पर देखना है। इसके अतिरिक्त अन्य परिवर्त्यों को जिनका प्रभाव हम यहाँ नहीं देखना चाहते हैं उन्हें हम नियन्त्रित रखते हैं। इस प्रकार के परिवर्त्यों को हम नियन्त्रित परिवर्त्य (Controlled Variable) कहते हैं। ये नियन्त्रित परिवर्त्य प्रयोगात्मक परिस्थितियों में स्थिर रखे जाते हैं। अस्तु उन्हें स्थिर परिवर्त्य (Constant Variable) की संज्ञा भी दी जाती है।

स्वतन्त्र परिवर्त्य से उत्पन्न प्रभावों को हम आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable) कहते हैं। यदि हम अपने प्रयोग के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभ्यास के फलस्वरूप सीखने में अत्यधिक निपुणता आ जाती है, तो हम कहेंगे कि सीखने में निपुणता का आना अभ्यास पर निर्भर करता है। अर्थात् सीखने की निपुणता व्यक्ति द्वारा किये गये अभ्यास पर आश्रित है। अस्तु, यहाँ सीखने में प्राप्त निपुणता को आश्रित परिवर्त्य कहेंगे।

'अभ्यास का सीखने की क्रिया पर प्रभाव' वाले प्रयोग का संक्षिप्त विवरण :—प्रयोग की क्रिया का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। अभ्यास

(Practice) के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन को स्थिर एवं नियन्त्रित किया जायगा। प्रयोज्य को एक कार्य (Task) जो उसके लिये न्यूनतम (New) होगा करने को दिया जायगा। अभ्यास के हेतु उसी काम को उसे बार-बार करने को दिया जायगा (मान लिया जाय १२ बार)। थकावट (Fatigue) के असर को दूर करने के लिए कुछ प्रयासों (Trials) के बाद उसे थोड़ा आराम दिया जायगा। हर प्रयास (Trial) के बाद उसके द्वारा लिये गये समय, की गई भूल तथा उसके व्यवहारों का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण कर इन सबों को 'नोट' किया जायगा। निश्चित प्रयासों के पश्चात् उसके अन्तर्निरीक्षण का रिपोर्ट (Introspective report) लिया जायगा।

इस तरह दो प्रकार की सामग्रियाँ प्राप्त होंगी—(१) वस्तुनिष्ठ (Objective data) तथा (२) आत्मनिष्ठ (Subjective data) सामग्रियाँ।

वस्तुनिष्ठ सामग्री उस सामग्री को कहते हैं जिसका हम बाह्य रूप से निरीक्षण कर सकते हैं, जैसे यहाँ पर प्रत्येक प्रयास में प्रयोज्य द्वारा लिये गये समय, की गई भूल एवं उसके निरीक्षित व्यवहार (Observed behaviours) आदि।

पर आत्मनिष्ठ सामग्री उसे कहते हैं जिसका निरीक्षण सिर्फ प्रयोज्य तक ही सीमित है, जैसे उसके अन्तर्निरीक्षण का रिपोर्ट। अर्थात् प्रयोग के समय प्रयोज्य की मानसिक स्थिति (Mental condition) किस प्रकार की थी, उसके बारे में अन्तर्निरीक्षण पर आधारित रिपोर्ट को ही आत्मनिष्ठ सामग्री कहते हैं।

इन प्राप्त सामग्रियों की सहायता से सीखने की क्रिया पर अभ्यास का क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि इन सामग्रियों का निरूपण (Treatment of the data) किया जाय। निरूपण भी दो प्रकार से होता है—(१) गुण सम्बन्धी (Qualitative) तथा (२) परिमाण सम्बन्धी (Quantitative)। गुण-सम्बन्धी निरूपण विशेषकर अन्तर्निरीक्षण की रिपोर्ट पर आधारित रहता है। परन्तु परिमाण-सम्बन्धी निरूपण वस्तुनिष्ठ (Objective) सामग्रियों पर परिगणनात्मक निरूपण (Statistical treatment) कर, किया जाता है। यहाँ पर परिगणनात्मक विधि (Statistical method)

का उपयोग किया जाता जिन पर हम विस्तार में प्रकाश आगे डालेंगे। इन दो प्रकार के निरूपण के पश्चात् ही हम किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि अभ्यास से सीखने की क्रिया में मदद मिलती है अथवा नहीं। पर सही-सही तथा विश्वसनीय निष्कर्ष सिर्फ एक ही प्रयोज्य पर किये गये प्रयोग से प्राप्त परिणामों (Result) पर आधारित नहीं हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि उसी प्रयोग को अनेक प्रयोज्यों पर किया जाय और यदि सबों मे प्राप्त परिणाम समान हों तब ही हम अपने निष्कर्ष की सत्यता तथा विश्वसनीयता पर भरोसा कर सकते हैं।

प्रयोगात्मक विधि को एक दूसरे उदाहरण से हम और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। मान लिया कि हमें प्रयोग द्वारा यह जानना है कि 'किसी कार्य के कुशल सम्पादन पर शोरगुल (Noise) का क्या प्रभाव पड़ता है।' यहाँ शोरगुल स्वतन्त्र परिवर्त्य है। यहाँ पर भी हमें ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि कार्यकुशलता पर शोरगुल के अतिरिक्त अन्य परिवर्त्यों का भी प्रभाव पड़ता है जैसे, कार्य की अवधि, कार्य का स्वरूप, कार्यकर्त्ता की बुद्धि, कार्य करने की सुविधा, प्रयोगशाला में प्रकाश का प्रबन्ध, थकावट आदि। परन्तु चूँकि हमें सिर्फ शोरगुल का ही प्रभाव कार्यकुशलता पर जानना है, इसलिए हम शोरगुल के परिवर्त्य के अतिरिक्त अन्य परिवर्त्यों को यहाँ इस प्रयोग मे नियन्त्रित कर देंगे।

'अभ्यास के प्रभाव' वाली समस्या में तो प्रयोग एक ही अवस्था में किया गया था चूँकि यहाँ दूसरी अवस्था की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु यहाँ 'शोरगुल की समस्या' मे निम्नलिखित दो परिस्थितियों की आवश्यकता हो जाती है।

(१) पहली अवस्था, 'सामान्य अवस्था मे कार्य सम्पादन' (अर्थात् जब शोरगुल नहीं हो रहा हो)। (२) दूसरी अवस्था—'शोरगुल के बीच कार्य सम्पादन'।

इन दोनों अवस्थाओं को क्रमशः हम नियन्त्रित तथा प्रयोगात्मक अवस्था (Controlled and Experimental condition) की संज्ञा देते हैं। दूसरी अवस्था को हम प्रयोगात्मक अवस्था इसलिए कहते हैं कि यहाँ हम स्वतन्त्र परिवर्त्य का प्रभाव उस परिस्थिति विशेष में देखते हैं।

इस प्रयोग की डिजाईन (Design) नीचे की तालिका (Table) से स्पष्ट होगी।

१	पहली एवं नियंत्रित या सामान्य अवस्था (Controlled condition)	१५ मिनटों तक सामान्य (शान्ति की) अवस्था के कार्य सम्पादन (15 minutes work under quiet condition)
	विश्राम आधा घंटा (Rest half an hour)	
२	दूसरी एवं प्रयोगात्मक अवस्था (Experimental condition)	१५ मिनटों तक पहली अवस्था के समान कार्य का शोरगुल की अवस्था में सम्पादन (15 minutes work under noisy condition)

चूँकि यहाँ सिर्फ शोरगुल का ही प्रभाव कार्य पर जानना था, निम्नलिखित परिवर्त्य उपरोक्त दोनों ही अवस्थाओं में नियन्त्रित किये गये—

(१) दोनों अवस्थाओं में समान कार्य।

(२) दोनों ही अवस्थाओं मे कार्य की समान अवधि।

(३) दोनों ही अवस्थाओं में एक ही व्यक्ति पर प्रयोग का होना।

तथा (४) दोनों अवस्थाओं में प्रयोगशाला के प्रकाश, तापमान, कार्य की सुविधा आदि सभी परिवर्त्यों को यथासम्भव समान एवं स्थिर रखा गया।

अतः इन्हें हम स्थिर परिवर्त्य (Constant variable) भी कहते हैं।

आजकल इसी प्रयोगात्मक विधि के कारण ही मनोविज्ञान अपने को एक पूर्ण विज्ञान बना सका है।

प्रयोगात्मक विधि के गुण (Merits of Experimental Method)—

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रयोगात्मक विधि के निम्नलिखित लक्षण या गुण हैं—

(१) प्रयोगशाला में ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न करना कि एक विशेष प्रकार का व्यवहार हो तब उन व्यवहारों का वस्तुनिष्ठ एवं अवैयक्तिक निरीक्षण कर उनसे निष्कर्ष निकालना।

(२) प्रयोग विशेष की सभी नियन्त्रित अवस्थाओं से भलीभाँति परिचित रहना, जिससे कि उस प्रयोग को इच्छानुसार ज्यों का त्यों दुहराया जा सके तथा पूर्व निष्कर्षों की सत्यता की जाँच हो सके। इतना ही नहीं वल्कि प्रयोग की इन सारी नियन्त्रित अवस्थाओं को कोई दूसरा प्रयोगकर्त्ता भी ज्यों का त्यों दुहरा सकता है।

(३) किसी एक ही परिवर्त्य को क्रमबद्ध रूप से परिवर्त्तित कर प्रयोज्य पर होनेवाले उसके प्रभावों की जाँच करना तथा उस क्रियाविशेष को प्रभावित करनेवाली अन्य परिवर्त्यों को सामान्य एवं स्थिर रखना। इससे एक परिवर्त्य विशेष का प्रयोज्य पर पड़नेवाले प्रभावों का निश्चित तथा यथार्थ ज्ञान सम्भव है। उपरोक्त दो प्रकार के परिवर्त्यों को क्रमशः स्वतन्त्र परिवर्त्य तथा नियन्त्रित या स्थिर परिवर्त्य (Controlled or constant variable) कहा जाता है। स्वतन्त्र परिवर्त्य (Independent variable) को परिवर्त्तित करने के फलस्वरूप उसका जो प्रभाव प्रयोज्य पर पडता है उसे आश्रित परिवर्त्य (Dependent variable) की संज्ञा दी जाती है।

(४) प्रयोग से प्राप्त सामग्रियों (Data) का गुण एवं परिमाण-सम्बन्धी निरूपण कर (Qualitative and Quantitative treatment) एक निष्कर्ष पर पहुँचना और उनके सम्बन्ध मे सामान्य नियमों को बनाना।

(५) निष्कर्ष को सही तथा विश्वसनीय (Valid and Reliable) होने के लिए एक ही प्रयोज्य पर किये गये प्रयोग से प्राप्त सामग्रियों पर ही आधारित नहीं रहना वल्कि अनेक प्रयोज्यों पर किये गये उसी प्रयोगों के फलस्वरूप प्राप्त सामान्य सामग्रियों (Common data) पर विश्वास करना।

फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि में भी निम्नलिखित दोष बतलाया है।

प्रयोगात्मक विधि के दोष (Defects or Demerits of Experimental method)—

(१) प्रयोगशाला में उत्पन्न की गयीं अवस्थाएँ अस्वाभाविक (Unnatural) रहती हैं। अस्तु प्रयोग द्वारा किये गये व्यवहार भी बनावटी रहते

है। चूँकि प्रयोगशाला की परिस्थितियो तथा उनमें की गई क्रियाओं का वास्तविक जीवन से यथेष्ट सम्बन्ध नहीं रहता है इसीलिए इन्हें कृत्रिम (Artificial) कहा जाता है। परन्तु इसपर कृत्रिमता का दोष लगाना उचित नहीं, क्योंकि प्रयोग इस प्रकार से किया जाता है कि प्रयोज्य को इस बात का पता तक नहीं लगता है कि प्रयोगशाला की अवस्थाएँ कृत्रिम अर्थात् बनावटी हैं। यदि प्रयोगकर्त्ता प्रयोग करने की कला मे बहुत ही दक्ष (Expert) हो, तो इस त्रुटि को आसानी से दूर कर सकता है। अतः इस प्रकार के प्रयोगों पर आधारित निष्कर्षों की सत्यता, विश्वसनीयता तथा वैज्ञानिकता में शंका न कर हम इनपर भरोसा कर सकते हैं।

(२) इस विधि पर आरोपित दूसरी आपत्ति यह है कि सभी प्रकार के प्रयोग मनुष्यों पर सम्भव नहीं, अतः इसकी उपयोगिता सीमित (Limited value) है। पर ऐसा कहना उचित नहीं है, चूँकि पशुओं पर किये गये विभिन्न प्रकार के प्रयोगों ने मनुष्यों के बारे में समुचित ज्ञान प्राप्त करने मे बहुत ही मदद पहुँचाया है। जैसे, 'सीखने की क्रिया पर मस्तिष्क के विभिन्न भागों के प्रभाव' को, 'मानसिक क्रियाओं का मस्तिष्क मे स्थान निरूपण' तथा 'संवेग में स्नायुमण्डल के विभिन्न अंगों का क्या प्रभाव पड़ता है' आदि की जानकारी के लिए किये गये अधिकांश प्रयोग चूहे, बिल्ली, बन्दर आदि पशुओं पर ही प्रसिद्ध शरीर शास्त्रज्ञों (Physiologists), फ्रैंज (Franz) तथा लैशले (Lashley) द्वारा किये गये हैं, चूँकि इस प्रकार के प्रयोग प्रायः मनुष्य पर सम्भव नहीं हैं। फिर भी उनसे प्राप्त निष्कर्षों को मनुष्य पर लागूकर मनुष्य के सम्बन्ध में इन बातो से सम्बन्धित सामान्य नियमों की रचना की गई है जो सही सिद्ध हुई हैं। कारण यह है कि विकासवाद (Evolution) के दृष्टिकोण से उपरोक्त सभी पशुओं तथा मनुष्यों मे एक अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इन पशुओं तथा मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट और उनकी कार्यवाही करीब-करीब समान होती है। सिर्फ उनके परिमाण (Degree) में अन्तर है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रयोगात्मक विधि का क्षेत्र सिर्फ पशुओं तक ही सीमित नहीं है। अतः इसपर आरोपित इस दोष को हम युक्तिसंगत नहीं मान सकते हैं।

(३) कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तो यह अविश्वास भी प्रकट किया है कि प्रत्येक प्रकार की मानसिक क्रियाओं का प्रयोगात्मक अध्ययन सम्भव नहीं है। इस प्रकार की क्रियाओं में अचेतन मानसिक प्रक्रियाओं (Unconscious mental activities) का उदाहरण दिया जाता

है। आरम्भ में सिर्फ संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण आदि मानसिक प्रक्रियाओं का ही प्रयोगात्मक अध्ययन हो पाता था पर अब तो मनोवैज्ञानिकों ने करीब-करीब सभी मानसिक प्रक्रियाओं पर प्रयोग कर दिखाया है। चेतन प्रक्रियाओं को कौन कहे अब तो अचेतन प्रक्रियाओं का भी प्रयोगात्मक अध्ययन किया गया है।

(४) हर प्रकार की अवस्थाओं को प्रयोगशाला में सृजन (Create) नहीं किया जा सकता है। अस्तु, उनका प्रयोगात्मक अध्ययन सम्भव नहीं है। खासकर यह बात सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology) तथा औद्योगिक मनोविज्ञान (Industrial Psychology) के क्षेत्र में लागू है। उदाहरणार्थ, हम भीड़-भाड़ में व्यक्तियों द्वारा किये व्यवहार (Crowd behaviour), 'सामाजिक द्वन्द्व' (Social Conflicts), 'औद्योगिक द्वन्द' (Industrial Conflicts), आदि समस्याओं का प्रयोगात्मक अध्ययन नहीं कर सकते, चूँकि इन परिस्थितियों को प्रयोगशाला में सृजन करना असम्भव-सा है। अतः इस प्रकार की अवस्थाओं के अध्ययन के लिए एक दूसरी विधि का प्रादुर्भाव हुआ है जिसे 'क्षेत्रीय अध्ययन' (Field Study) की संज्ञा दी गयी है। इस विधि को स्वाभाविक परिस्थिति में निरीक्षण करने की विधि (Method of Naturalistic observation) भी कहा जाता है। इस विधि द्वारा प्रयोगशाला से बाहर घटना-स्थल पर ही जाकर उपरोक्त समस्याओं का वस्तुनिष्ठ एवं क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार इसके द्वारा वास्तविक जीवन की समस्याओं (Problems of practical life) का उनकी स्वाभाविक अवस्था (Natural condition) में अध्ययन किया जाता है। यदि हमें 'दल' (Group) अथवा गिरोह (Gang) के व्यवहारों का अध्ययन करना होता है तो हम प्रयोगशाला से बाहर जाकर वास्तविक दलों के बीच रहकर उनके व्यवहारों का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करते हैं।

आज का मनोवैज्ञानिक अब अपना अध्ययन प्रयोगशाला के अन्दर तथा उसके बाहर के वास्तविक जन-जीवन में करने में समर्थ हो पा रहा है। अस्तु, हम पाते हैं कि इसके कुछ तथाकथित दोषो से कहीं अधिक इस विधि की वैज्ञानिक उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है।

स्टैटिस्टीकल या परिगणनात्मक विधि (Statistical Method)—परिगणनात्मक विधि गणित का ही एक प्रयोग (Application) है जो मनोविज्ञान के अनुसन्धानों (Researches) को एक क्रम

देने में सहायता करता है। यह विधि उसके विशिष्ट (Significant) झुकाव (Trend) तथा इसके विभिन्न तथ्यों के आपसी सम्बन्ध की खोज करने में मदद पहुँचाती है। प्रयोगात्मक सामग्रियों (Experimental data) की व्याख्या करने में यह बहुत सहायक सिद्ध हुई है। यह विधि सिर्फ प्रयोगात्मक विधि का ही पूरक है। प्रयोगात्मक विधि के बारे मे वर्णन करते समय यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रयोगात्मक विधि द्वारा प्राप्त सामग्रियों के आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना उनके परिगणनात्मक निरूपणों के बिना पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है। इसके अतिरिक्त, किसी भी निष्कर्ष को सही तथा विश्वसनीय होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में किये गये प्रयोग एक से अधिक व्यक्तियो पर किये जायँ। तथा उनसे प्राप्त सामग्रियों के परिगणनात्मक निरूपण के आधार पर ही किसी सामान्य नियम का प्रतिपादन किया जाय। जैसे, बुद्धि की जाँच (Measurement of intelligence) के लिए बनाये गये 'टेस्ट' (Test) यदि बहुत से व्यक्तियों पर नहीं दिये जाते, तो आज हम वैज्ञानिक रूप मे यह कह सकने में समर्थ नहीं होते कि जन-संख्या के अधिक लोग सामान्य या औसत बुद्धि (Average Intelligence) के होते हैं।

किसी भी 'टेस्ट' (Test) का निर्माण (Construction) परिगणनात्मक विधि के बिना सम्भव नहीं है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में कोई भी अन्वेषण (Research) का होना परिगणनात्मक विधि क उपयोग के बिना असम्भव है। अतः यह विधि मनोवैज्ञानिक ज्ञान (Psychological knowledge) की वृद्धि में बहुत ही लाभप्रद है।

इसके अतिरिक्त उपरोक्त मनोविज्ञान की विधियों द्वारा प्राप्त सामग्रियों (Data) का विश्लेषण (Analysis) कर उनसे प्राप्त निष्कर्षों के महत्त्व का पता लगाने का भी यह एक महत्त्वपूर्ण साधन है। अतः हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक अध्ययनों (Psychological studies) के लिए परिगणनात्मक विधि, मनोविज्ञान की अन्य विधियों से कोई कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखती। यह अन्य विधियो के पूरक के समान है (As a supplement to other methods).

मनोविज्ञान की विधियों के सम्बन्ध में निष्कर्ष
(Conclusion regarding the methods of Psychology)

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि मनोविज्ञान की विधियाँ वस्तुनिष्ठ (Objective), पक्षपात रहित (Unbiased), तथा क्रमबद्ध

(Systematic) होती गयीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वे अधिक वैज्ञानिक (Scientific) होती गई हैं। पहले सिर्फ आत्मनिष्ठ विधियों (Subjective methods) जैसे विप्रयोग कल्पना (Armchair speculation) तथा अन्तर्निरीक्षण (Introspection) का ही सिर्फ उपयोग किया जाता था पर आगे चलकर अन्तर्निरीक्षण की विधि में बहुत सुधार लाया गया और उनके दोषों को दूर करने की चेष्टा भी की गई। तथा वस्तुनिष्ठ विधियाँ जैसे, वाह्य निरीक्षण की विधि (Method of objective observation), प्रयोगात्मक (Experimental) एवं परिगणनात्मक (Statistical) विधियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। फलस्वरूप, मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये अध्ययन अधिक वैज्ञानिक (Scientific) होते गये। अस्तु, इनसे प्राप्त निष्कर्षों की सत्यता, विश्वसनीयता तथा वैज्ञानिकता पर अब हम निस्सन्देह भरोसा कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक विधि के अपने-अपने गुण (Merits) एवं दोष (Demerits) दोनों हैं, पर यदि उनको ध्यानपूर्वक (Carefully) उपयोग में लाया जाय, तो उनके दोषों को भी बहुत हद तक दूर किया जा सकता है, चूँकि उनपर आरोपित अधिकांश आपत्तियाँ किसी विधि विशेष में नहीं हैं, वरन् उनके दोषपूर्ण उपयोग में ही हैं, (Defects donot lie with the method themselves, rather in their defective use).

वस्तुतः आज मनोविज्ञान की एकमात्र विधि प्रयोगात्मक विधि (Experimental method) ही है, चूँकि इस विधि में अन्तर्निरीक्षण (Introspection), वाह्य निरीक्षण (Objective observation), एवं परिगणनात्मक (Statistical) सभी विधियों का उपयोग किया जाता है। आज मनोविज्ञान का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो प्रयोगात्मक विधि के उपयोग से वंचित हो।

अस्तु, आज हम 'मनोविज्ञान' (Psychology) की जगह प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) का अधिक उपयोग करते हैं। आज के वर्त्तमान युग में प्रयोगात्मक पहलू से रहित मनोविज्ञान का अपना कोई अस्तित्व (Existence) ही नहीं रह जाता। (Psychology without its experimental part to-day is an anachronism).

चौथा अध्याय

प्राणी और वातावरण

(Organism and Environment)

भूमिका—प्राणी क्या करता है—वातावरण—अभियोजन—प्राणी किस प्रकार करता है—उत्तेजनाएँ—प्रतिक्रियाएँ : उत्तेजना—प्रतिक्रिया-सूत्र तथा इसकी आलोचना—'उत्तेजना—प्राणी—प्रतिक्रिया' सूत्र—

मनुष्य किसी कार्य को क्यों करता है—प्रेरक—प्रेरकों का स्वरूप एवं उनका वर्गीकरण—प्रेरक शक्तियों में परिमार्जन तथा परिवर्त्तन—

वंशानुक्रम एवं वातावरण—भूमिका—वंशानुक्रम किसे कहते हैं तथा व्यक्तित्व-विकास पर इसका प्रभाव—वंशानुक्रम सम्बन्धी अध्ययन—वातावरण—वातावरण किसे कहते हैं तथा व्यक्तित्व विकास पर इसका प्रभाव—वातावरण सम्बन्धी अध्ययन—व्यक्तित्व = वंशानुक्रम × वातावरण × समय—

मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय प्राणियों का व्यवहार एवं उनकी अनुभूति है। निर्जीव पदार्थों से मनोविज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं।

प्राणी (Organism) भी तो अनेक हैं। एक एमीबा (Amoeba) से लेकर मनुष्य तक लाखों प्राणी हैं। परन्तु मनोविज्ञान का सम्बन्ध सबसे अधिक मनुष्यों से है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह पशु-पक्षियों अथवा कीड़ों, मकोड़ों जैसे प्राणियों के व्यवहारों के अध्ययन में रुचि नहीं रखता हो।

प्राणी शब्द आज अपने में एक बहुत विस्तृत अर्थ रखता है। विज्ञान के नये आविष्कारों ने तो यह भी सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधे भी एक प्रकार के प्राणी ही हैं। उनमें भी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे भी दुःख-सुख

का अनुभव करते हैं। परन्तु अभी तक मनोविज्ञान पेड़-पौधों के व्यवहारों एवं उनकी अनुभूतियों को वस्तुतः अपने अध्ययन का विषय नहीं बना सका है। प्राणी उसे कहते हैं जिसमें प्राण हो। प्राणी का जन्म होता है, विकास होता है, अन्त मे मृत्यु हो जाती है।

प्राणी जबतक जीवित है तबतक साधारणतः उसमें कोई-न-कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न होती ही रहती है। वह कोई न कोई व्यवहार करता ही रहता है। प्रतिक्रियाशीलता प्राणी का सर्वप्रमुख लक्षण है।

इन प्रतिक्रियाओं के सम्यक् अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिकों के सामने निम्नलिखित प्रश्न उठ खड़े होते हैं—

(१) प्राणी क्या (What) करता है ?

(२) प्राणी किस प्रकार या कैसे (How) करता है ?

(३) प्राणी क्यों (Why) करता है ?

(१) प्राणी क्या करता है?—प्राणी अपने वातावरण से अपना समुचित अभियोजन करने का प्रयास करता है। कभी यह प्रयास सफल होता है तो कभी असफल भी। जो प्राणी अपने विकास की सीढ़ी (Ladder of evolution) पर जितना ही ऊपर पहुँचा रहता है उसमें अपने वातावरण से सफल अभियोजन करने की शक्ति उतनी ही अधिक रहती है। अभियोजनशीलता का अभाव प्राणी के लिए घातक सिद्ध होता है।

मनुष्यों में अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक अभियोजनशीलता वर्त्तमान है क्योंकि यह संसार का सबसे उच्चस्तर का विकसित प्राणी है।

वातावरण के प्रति अभियोजन करने की शक्ति का अर्थ होता है वातावरण में होनेवाले भिन्न-भिन्न परिवर्तनों के मुताबिक अपने व्यवहारों एवं अनुभूतियों में भी परिवर्तन या परिमार्जन लाने की क्षमता। यह परिवर्तन प्राणी के विकास में सहायक होता है।

प्राणी को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि जैसा उसका वातावरण हो उसी के मुताबिक अपने व्यवहारों में भी वह तब्दीली ला सके। यह तब्दीली वातावरण के प्रति किये गये उसकी समुचित प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होगी।

मान लीजिए कि पानी बरस रहा हो, इस समय सड़क पर चलनेवाले राही के पास यदि छाता है तो वह छाता तान लेगा और अपने को पानी से भींगने से बचा लेगा। अगर वह छाता नहीं तानता है तो वह भींग

जायगा, जिसके कारण उसे सर्दी हो जा सकती है अथवा और कोई क्षति पहुँच सकती है। यहाँ पानी से बचने के लिए छाता को तान लेने की क्रिया वातावरण से अपने को अभियोजित करने की क्रिया हुई। साँप को देखकर उससे डर कर भाग जाना, ठढक मे गर्म कपड़े पहन लेना, गर्मी में गर्म कपड़े नहीं पहनना आदि ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं जिसके द्वारा अभियोजन की क्रियाएँ एवं उसके महत्व को समझा जा सकता है।

ठीक इसी प्रकार मित्र-मण्डली मे अपने को अभियोजित करने के लिए मनुष्यों को जिस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करनी पड़ती हैं वैसी ही प्रतिक्रियाएँ अपने पिता के सामने बैठे रहने पर वे नहीं करते। कहने का अभिप्राय यह है कि वातारण की बदलती हुई भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के साथ अपने को अभियोजित करने के लिए प्राणियों को अपनी प्रतिक्रियाओं के प्रकटीकरण के रूप में भी परिवर्तन लाना पड़ता है।

पेड-पौधों मे भी पतझड़ का होना तथा फिर से पत्तों का निकलना आदि ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं जो वातावरण से अभियोजन के कारण ही होती हैं। यदि ऐसा अभियोजन न हो तो अन्य प्राणियों की तरह पेड-पौधे भी कुछ दिनों में मर जायेंगे।

वातावरण (Environment) को एक मनोवैज्ञानिक ने निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है—"जिन परिस्थितियों का आविर्भाव जीव के गर्भ धारण (Conception) के समय से आरम्भ होकर उसके चारों ओर जीवन पर्यन्त बना रहता है और जो उसकी क्रियाओं को प्रभावित करता है, उन्हीं परिस्थितियों को हम वातावरण कहते हैं।"

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितियाँ गर्भ के अन्दर भी हैं और बाहर के जगत में तो हैं ही। इसीलिए वातावरण को हम मूलतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) आन्तरिक वातावरण (Internal environment) एवं (२) बाह्य वातावरण (External environment)।

आन्तरिक वातावरण के अन्दर गर्भवती माँ के शरीर के अन्दर का तापमान (Temperature), रासायनिक सन्तुलन (Chemical balance), रक्त-संचार (Blood circulation) आदि को शामिल करते हैं। बाह्य वातावरण में जलवायु, परिवार, स्कूल, समाज आदि की गणना होती है। बाह्य वातावरण भी दो भागों मे बाँटा जा सकता है।

(i) भौतिक वातावरण (Physical Environment) जैसे—जगल, जलवायु आदि।

(ii) सामाजिक वातावरण (Social Environment) जैसे—परिवार, पड़ोस, स्कूल, समुदाय आदि।

प्राणी जब तक जीवित है तब तक उसे किसी-न-किसी प्रकार के वातावरण मे रहना ही पड़ता है, चाहे वह वातावरण आन्तरिक हो अथवा वाह्य। प्राणी का जीवन बहुत कुछ उसकी अभियोजन-शीलता की क्षमता पर आधारित है।

अब तक हमलोगों ने तीन प्रमुख बातों की चर्चा की है—'प्राणी', 'अभियोजन' और 'वातावरण'। हमने देखा है कि प्राणी किस प्रकार अपने में वातावरण के अनुकूल परिवर्तन लाकर अपना अभियोजन करता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सिर्फ वातावरण ही प्राणी को प्रभावित करता है। ऐसे भी अवसर देखे जाते हैं, जब प्राणी ही वातावरण को प्रभावित कर लेता है और वातावरण मे अपने अनुरूप परिवर्तन ला देता है, ताकि वातावरण और प्राणी का सम्यक् अभियोजन सम्भव हो सके। गर्मी मे पंखे का चलना अथवा 'एयर कण्डीशन' कमरे का निर्माण, रात्रि में बिजली की रोशनी का जलना आदि ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य वातावरण में ही अपने अनुकूल परिवर्तन ला देता है। फलस्वरूप उसे गर्मी मे भी गर्मी नहीं लगती अथवा रात्रि में भी अत्यधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब तक जीवित है, तब तक उसमें और वातावरण मे क्रिया-प्रतिक्रिया (Action-reaction) का सम्बन्ध बना रहता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

अभियोजन की इस क्रिया को मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित सूत्र के द्वारा अभिव्यक्त किया है—

वातावरण ——→ व्यक्ति ——→ वातावरण

अथवा

वातावरण ⇄ व्यक्ति

मनुष्य की कोई प्रतिक्रिया वातावरण से पृथक् नहीं हो सकती है। ध्यान से देखा जाय तो मनुष्यों की सारी प्रतिक्रियाएँ, जैसे—सीखना, हँसना, रोना, भागना, क्रोधित होना, प्यार करना, ध्यान देना आदि सभी किसी-न-किसी रूप मे वातावरण से अभियोजन के ही परिणाम हैं। अस्तु, प्रश्न यह उठता है कि 'मनुष्य क्या करता है'—तो इसके उत्तर में

अलग-अलग बहुत-सी प्रतिक्रियाओं का नाम न लेकर मनोवैज्ञानिक हमें सिर्फ एक शब्द में कहता है कि मनुष्य अपने वातावरण से अपना अभियोजन करता है।

(२) प्राणी किस प्रकार करता है? :—अब तक हमने सिर्फ इतना देखा है कि प्राणी अपने वातावरण से अपना अभियोजन करता है। परन्तु अब प्रश्न है कि प्राणी अभियोजन किस प्रकार करता है?

प्राणी अपना अभियोजन अपनी प्रतिक्रियाओं (Reaction) के द्वारा करता है। वातावरण में उत्पन्न कोई उत्तेजना जब प्राणी को प्रभावित करती है, तो प्राणी म उस उत्तेजना के फलस्वरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो उसके अभियोजन में सहायक होती है।

उत्तेजना (Stimulus)—उत्तेजना (Stimulus) वातावरण में उत्पन्न एक ऐसी भौतिक शक्ति (Physical Energy) है जो प्राणी के किसी ज्ञानेन्द्रिय को प्रभावित करती है तथा उसे क्रियाशील बनाती है।

आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा इत्यादि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। प्रकाश आँखों के लिए, गन्ध नाक के लिए, ध्वनि कान के लिए, स्वाद जीभ के लिए तथा स्पर्श त्वचा के लिए उत्तेजना है।

जब प्रकाश तरंगे (Light waves) आँखों को उत्तेजित करती हैं तो प्राणी की आँखों के भिन्न-भिन्न अवयव क्रियाशील हो उठते हैं। फलस्वरूप प्राणी उस वस्तु को देखता है जिससे प्रकाश तरंगें निकलकर उसकी आँखों को उत्तेजित करती हैं।

ठीक इसी प्रकार जब किसी आवाज (संगीत, शोर-गुल आदि) से उत्पन्न ध्वनि तरंगें हमारे कानों के अवयवों को उत्तेजित करती हैं तो वे क्रियाशील हो उठते हैं। परिणाम यह है कि हमें वह आवाज सुनाई पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक उत्तेजना विशेष हमारी ज्ञानेन्द्रिय-विशेष को प्रभावित ही नहीं करती, वरन् उन्हें क्रियाशील भी बनाती है।

इन्हीं उत्तेजनाओं के फलस्वरूप प्राणी में हम प्रतिक्रियाएँ देखते हैं। मान लीजिये कि आप शिकार खेलने गये हैं। शिकार के दिखाई पड़ते ही झट आप निशाना लेकर गोली चला देते हैं। यहाँ शिकार का सामने चला आना आपकी आँखों के लिए एक उत्तेजना हुई। यह उत्तेजना प्रकाश तरंगों के रूप मे शिकार से निकलकर आपकी आँखों तक पहुँची।

फिर सतर्क होना, निशाना लेना तथा गोली चला देना आदि आपके ऐसे व्यवहार हुए, जिन्हें हम शिकार सामने आने की उत्तेजना से उत्पन्न आपकी प्रतिक्रिया (Response) कह सकते हैं।

उत्तेजनाएँ (Stimuli)—सच पूछिये तो सदा वातावरण मे सैकड़ों उत्तेजनाएँ वर्तमान रहती हैं। हर समय प्राणी की ज्ञानेन्द्रियों पर कई एक उत्तेजनाएँ अलग-अलग प्रभाव डालती रहती हैं। व्यक्ति सदा उत्तेजनाओं के बीच घिरा होता है। भिन्न-भिन्न वातावरण इन्हीं उत्तेजनाओं का समूहमात्र है।

जो उत्तेजना प्राणी में प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में समर्थ है, उसे समर्थ उत्तेजना (Adequate Stimulus) कहते हैं तथा जो उत्तेजनाएँ प्राणी मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें असमर्थ उत्तेजना (Inadequate Stimulus) कहते हैं।

उत्तेजनाएँ वातावरण में ही उत्पन्न होती हैं। अस्तु, उत्तेजनाओं को भी हम मूलतः दो भागों मे बाँट सकते हैं—

(i) आन्तरिक उत्तेजनाएँ (Internal Stimuli)

(ii) वाह्य उत्तेजनाएँ (External Stimuli)

आमाशय की दीवारों में जब आपसी संघर्ष होता है तो उससे हमे भूख की उत्तेजना मिलती है तथा हम भोजन ढूँढने अथवा खाने की प्रतिक्रिया करते हैं। इसी प्रकार प्यास, थकावट आदि आन्तरिक उत्तेजनाएँ हैं। इसके विपरीत प्रकाश, ध्वनि, गन्ध आदि वाह्य उत्तेजनाओं के उदाहरण हैं।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की है कि एक ही उत्तेजना भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में एक ही समय भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती है तथा एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर सकती हैं। मान लीजिये कि कॉलेज की तीसरी घण्टी समाप्त होने की घण्टी बज उठी। घण्टी से उत्पन्न ध्वनि तरंगों की उत्तेजना, छात्रों एवं अध्यापकों के कान ग्रहण करते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें घण्टी सुनाई पड़ती है। घण्टी का बजना एक उत्तेजना हुई।

परन्तु घण्टी के बजते ही वे छात्र क्लास (Class) से बाहर निकल आते हैं, जिनको अब इस नये घण्टे में दूसरे कमरे में जाना है। जिन अध्यापकों को इस नये घण्टे में अवकाश है, उनमें इस उत्तेजना के फलस्वरूप उठकर क्लास की ओर जाने के बजाय आराम से बैठने की

प्रतिक्रिया होती है तथा जिनको उस घण्टी (Period) मे क्लास लेना है वे अध्यापक शीघ्रता से उठकर रजिस्टर (Register), खड़ी (Chalk) आदि लेकर क्लास की ओर जाते हैं।

अस्तु, घण्टी तो एक ही बजी थी, परन्तु एक ही समय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ देखी गईं।

इसी प्रकार एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न अवसरों पर एक ही प्रकार की उत्तेजनाओं के उपस्थित होने पर भी अपनी मानसिक स्थिति के अनुरूप प्रायः भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ करते देखे जा सकते हैं।

प्रतिक्रियाएँ (Respones)—उत्तेजना जीव को प्रभावित करती हैं। फलस्वरूप जीव मे कुछ क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। इन क्रियाओ को उस उत्तेजना की प्रतिक्रिया कहते हैं।

खूब गर्म लोहे से हाथ छू जाने पर व्यक्ति हाथ तुरत खींच लेता है। अगर आपकी जीभ पर अचार डाल दिया जाय तो लार निकलने लगती है। यहाँ लार का निकलना अथवा हाथ का पीछे खींच लेना आदि अपनी-अपनी उत्तेजना के प्रति की गई प्रतिक्रियाएँ हैं।

कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्तेजना के उपस्थित होने पर आप से आप उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें सहज क्रियाएँ (Reflex-actions) कहते हैं, जैसे—आँखों पर तीव्र प्रकाश पड़ने पर आँखों की पुतलियों का आकार स्वतः अपेक्षाकृत अत्यधिक छोटा हो जाता है। ऊपर दिये गये दो उदाहरण, लार का गिरना तथा जलने पर हाथ का तुरत पीछे खींच लिया जाना इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

परन्तु कुछ प्रतिक्रियाएँ सहज रूप मे सहसा नहीं होतीं। मनुष्य उन प्रतिक्रियाओं को सोच-समझकर करता है।

प्रतिक्रियाएँ हमारे 'चेतन मन' (Conscious mind) से ही नहीं वरन् 'अचेतन मन' (Unconscious mind) से भी नियन्त्रित होती हैं। यही कारण है कि मनुष्य जब सोया रहता है तो भी स्वप्न आदि मे उत्तेजना के प्रति कुछ न कुछ प्रतिक्रियाएँ करता रहता है।

हमारी प्रतिक्रियाओं पर हमारी मानसिक स्थिति का विशेष प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि एक ही उत्तेजना एक समय हममें क्रोध की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है तो दूसरे समय प्रेम की प्रतिक्रिया। रोते हुए बच्चे को देखकर एक ही व्यक्ति मे कभी क्रोध उत्पन्न हो जा सकता है तो कभी उसमे बच्चे के प्रति स्नेह की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है।

उत्तेजनाएँ प्रायः हममें नयी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न ही नहीं करती वरन् पुरानी प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन अथवा परिमार्जन भी लाती पायी जाती है।

पहले से व्यक्ति में कोई प्रतिक्रिया हो रही हो और इसी बीच यदि कोई नई उत्तेजना उपस्थित हो जाय तो अक्सर ऐसा देखा जाता है कि पहले से होती हुई प्रतिक्रिया सर्वथा रुक-सी जाती है। ऐसा भी होता है कि या तो उस प्रतिक्रिया मे कोई परिवर्तन हो जाता है या कोई उसी से सम्बन्धित अथवा नयी प्रतिक्रिया होनी शुरू हो जाती है।

मान लीजिए कि मैं किसी पत्र का उत्तर लिख रहा हूँ। इसी समय बगल के कमरे मे अगर घर का कोई लड़का गिर जाने के कारण चीखने-चिल्लाने लगे तो मुझमे लिखने की प्रतिक्रिया छोडकर उस बच्चे के कमरे में जाने की प्रतिक्रिया देखी जायगी। इसी समय मुझसे मिलने अगर मेरा कोई मित्र दरवाजे पर आ जाय तो यदि मैं देखूँगा कि बच्चे को काफी चोट आई है और मेरा उसको छोडकर जाना ठीक नहीं होगा तब मैं बच्चे को छोड़कर मित्र के पास जाने की प्रतिक्रिया नहीं करूँगा। अगर कोई दूसरा सामान्य अवसर होता तो मुझमें मित्र से मिलने के हेतु जाने की प्रतिक्रिया अविलम्ब देखी जाती।

अस्तु, यह परिस्थिति विशेष एवं व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है कि किस उत्तेजना के फलस्वरूप कब व्यक्ति में कौन-सी प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी अथवा नहीं होगी। अत्यन्त दुःखद संवाद पाकर प्रायः मनुष्य रो देता है और कभी-कभी सुखद-संवाद के कारण भी मनुष्य की आँखों मे आँसू आने की प्रतिक्रिया देखी जाती है। ऐसा भी देखा जाता है कि किसी प्रियजन की मृत्यु की खबर पाकर भी कोई-कोई भयंकर किन्तु दर्दनाक हँसी हँस पड़ता है।

अस्तु, यह कहना कि एक खास उत्तेजना के सम्पर्क मे आने पर व्यक्ति मे एक खास प्रतिक्रिया ही देखी जायगी यह सर्वथा सत्य नहीं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों (व्यवहारवादी) ने मनुष्यों के व्यवहारों की व्याख्या उत्तेजना-प्रतिकिया सूत्र (S—R—Formula) के द्वारा करने का प्रयास किया है।

इस सूत्र के अनुसार किसी विशिष्ट उत्तजना के सम्पर्क में आने पर व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया देखी जायगी। दूसरे शब्दों में

हम ऐसा कह सकते हैं कि किसी विशिष्ट प्रतिक्रिया के लिए उससे सम्बन्धित एक विशिष्ट उत्तेजना की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से भी बहुत कुछ स्पष्ट है कि यह सूत्र ठीक नहीं कहा जा सकता। पहली बात तो यह है कि इस सूत्र के अनुसार उत्तेजना एवं प्रतिक्रिया का सम्बन्ध पूर्णतः यान्त्रिक (Mechanical) है।

दूसरी बात यह है कि सदा एक ही प्रकार की उत्तेजना के प्रति एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती है। एक छोटा बच्चा जलती लालटेन के शीशे अथवा गर्म लोहा की उत्तेजना से प्रभावित होकर उसे छूने की प्रतिक्रिया करता है। परन्तु आगे चलकर अपने विकास के फलस्वरूप जलती लालटेन की उत्तेजना से प्रभावित होने पर भी वह उसे छूने का प्रयास नहीं करता। वह अब उसे चुपचाप देखने की प्रतिक्रिया करता है। साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि जीवन से निराश एवं हताश व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ भी शिथिलतर होती हैं। परन्तु जो व्यक्ति आशावादी है, जिसमे उमंग है, उसके द्वारा प्रकट की गई प्रतिक्रियाएँ जोरदार होती हैं।

इस सूत्र मे उत्तेजनाओं को ग्रहण करनेवाले एवं प्रतिक्रियाओं को प्रकट करनेवाले 'व्यक्ति' की महत्ता स्वीकार नहीं की गई है परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है किसी उत्तेजना को ग्रहण करने के बाद व्यक्ति मे कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी, यह व्यक्ति की मानसिक स्थिति, स्वभाव, मनोवृत्ति, बुद्धि आदि पर निर्भर करता है।

'उत्तेजना-प्रतिक्रिया सूत्र' (S-R-Formula) के अनुसार दुःखद उत्तेजनाएँ व्यक्ति में दुःख की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करेंगी। परन्तु ऐसा अक्सर देखा जाता है कि यदि व्यक्ति साहसी एवं प्रसन्न चित्त रहनेवाला होता है, तो दुःखद उत्तेजनाएँ भी उसमें शोक की प्रतिक्रियाएँ नहीं उत्पन्न कर पाती हैं। दुःख की उत्तेजना पाकर भी व्यक्ति अपने दुःख को दबाकर मुस्कुराता ही पाया जाता है। यह मुस्कुराने की प्रतिक्रिया तथा दुःखद उत्तेजना, दोनों के सम्बन्ध की व्याख्या 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया सूत्र' द्वारा नहीं हो पाती है।

जिस पुरुष अथवा महिला की कामवृत्ति बहुत अंशों मे सन्तुष्ट हो चुकी है, उसमें क्रमशः दूसरी युवती अथवा युवक के प्रति कामवासना उत्पन्न होने की प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती है। यदि वासना उत्पन्न होने की प्रतिक्रिया के लिए सिर्फ विपरीत योनि (Opposite Sex) के व्यक्ति

का दर्शन (उत्तेजना) ही यथेष्ट होता तो सभी वयस्कों में वासना की प्रतिक्रियाएँ समान रूप से पायी जातीं, परन्तु ऐसा हम नहीं पाते हैं।

एक प्रेमिका अपने प्रेमी को अपने घर आया देखकर, अपने माता-पिता को धोखा देने के उद्देश्य से अपने प्रेमी के प्रति अन्यमनस्कता अथवा परिस्थिति-विशेष में क्रोध की प्रतिक्रिया भी प्रकट करती पायी जाती है।

अगर हम प्रेमिका के मानसिक उद्देश्य को ध्यान में न रक्खें तो उत्तेजना-प्रतिक्रिया सूत्र के अनुसार प्रेमी का आगमन (उत्तेजना) प्रेमिका में सदा प्रसन्नता की प्रतिक्रिया ही (वाह्य रूप से भी) उत्पन्न करनी चाहिए थी।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच व्यक्ति का बहुत ही प्रमुख स्थान है। किस उत्तेजना के प्रति कौन-सी प्रतिक्रिया होगी, यह व्यक्ति पर निर्भर करती है।

अस्तु, 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया सूत्र' (S-R-Formula) की जगह मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित सूत्र का प्रतिपादन किया है—

'उत्तेजना—प्राणी—प्रतिक्रिया—सूत्र'

(Stimulus—organism—response formula)

अर्थात्, उत्तेजनाएँ व्यक्ति को प्रभावित करती हैं तथा व्यक्ति अपनी प्रतिक्रियाओं को। इन तीनों में व्यक्ति को पृथक् कर देना भूल है। इस सूत्र को उत्तेजना—प्राणी—प्रतिक्रिया (S-O-R. Formula) कहते हैं।

परन्तु यहाँ पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राणी अपने को प्रभावित करनेवाली उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं के द्वारा ही वातावरण से अपना समुचित अभियोजन कर पाता है।

(३) मनुष्य किसी कार्य को क्यों करता है ?

('Why', Aspect of Human Behaviour)

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हमारे सामने तीन प्रश्न आये थे— (१) मनुष्य क्या करता है ? (२) मनुष्य कैसे करता है ? (३) मनुष्य क्यों करता है ? इस 'क्या' के उत्तर में हमने देखा है कि मनुष्य अपने वातावरण से अपना अभियोजन करता है। इस 'कैसे' के उत्तर में हमने देखा कि व्यक्ति अपने वातावरण में प्रभावित करनेवाली उत्तेजनाओं की प्रतिक्रियाओं के द्वारा अपना अभियोजन करता है।

अब हमारे सामने प्रश्न है कि वह क्यों किसी परिस्थिति-विशेष में किसी खास ढङ्ग की ही क्रिया करता है और दूसरे ढंग की नहीं। मनुष्य वैसा क्यों करता है, जैसा कि वह करता हुआ पाया जाता है ('Why a man does as he behaves ?') उसकी क्रियाओं के पीछे कौन-सी शक्ति काम करती है ?

प्रातःकाल घड़ी के अलार्म (Alarm) के बजते ही हम क्यों अपना बिछावन छोड़ देते हैं ! क्यों हम अपनी शौचादि दैनिक क्रियाओं से शीघ्र निवृत हो जाते हैं ? क्यों हम किसी खास रंग की ही कमीज, साड़ी अथवा टाई अपने पहनावा के लिए चुनते हैं ! हम क्यों अखबार पढ़ते हैं, चाय पीते हैं अथवा किसी को पत्र लिखने बैठ जाते हैं।

ऊपर दिये गये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके पीछे एक 'क्यों ?' लगा है तथा जिस 'क्यों' का हमें उत्तर देना है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के व्यवहारों के पीछे छिपे इसी 'क्यों ?' का उत्तर देने का प्रयास किया है।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य के द्वारा किये जानेवाले व्यवहारों के पीछे एक प्रेरक शक्ति (Motivating force) काम करती है। ये प्रेरक शक्तियाँ भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न रूप से तथा भिन्न-भिन्न प्रकार से क्रियाशील पायी जाती हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन में अलग-अलग अवसरों पर किये गये व्यवहारों के पीछे अलग-अलग प्रेरक शक्तियाँ काम करती रहती हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही आधार पर कई एक प्रेरक शक्तियाँ मनुष्य को अपने-अपने अनुसार व्यवहार करने के लिए बाध्य करने लगती हैं और मनुष्य के मस्तिष्क में यह संघर्ष (Conflict) उत्पन्न हो जाता है कि वह करे तो क्या करे ? इस बात की व्याख्या आगे हम 'क्रिया' नामक अध्याय में करेंगे। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य के हर एक व्यवहार (जैसे दैनिक शौचादि क्रिया से लेकर, गम्भीर चिन्तन तक के व्यवहार) के पीछे कोई-न-कोई प्रेरणा अथवा प्रेरणा देनेवाली प्रेरक शक्ति काम करती रहती है।

हम किसी व्यवहार को किसी समय विशेष में खास ढंग से इसलिए करते हैं कि उन व्यवहारों के उत्पन्न करने तथा उन्हें घटित करने एवं उनके द्वारा किसी लक्ष्य की प्राप्ति कराने के पीछे कोई प्रेरक शक्ति अवश्य काम करती रहती है।

अस्तु, किसी परिस्थिति मे हमारा व्यवहार कैसा होगा, इस बात को निर्धारित करने का प्रमुख श्रेय—प्रेरक शक्तियों को है।

अगर हमे मनुष्यों के व्यवहारों के पीछे छिपी हुई प्रेरक शक्तियों का सम्यक् ज्ञान हो जाय तो हम मनुष्यों के व्यवहार से सम्बन्धित हरेक 'क्यों ?' का उत्तर देने में समर्थ हो सकते हैं। प्रेरकों (Motives) की चर्चा मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न शब्दों मे की है जैसे आवश्यकताएं (Needs), प्रणोदन (Drives), इच्छा (Desire) आदि।

प्रेरकों की तीन प्रमुख क्रियाएँ मानी गई हैं—

(१) हमारी क्रियाओं की उत्पत्ति करना, (२) उत्पन्न करने के बाद उन्हें जारी रखना, (३) और अन्त में तब तक जारी रखना जब तक कि उनसे सम्बन्धित उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय। प्रेरक शक्तियाँ उद्देश्य की पूर्ति होने तक हमारे व्यवहारों को एक खास ढंग से नियन्त्रित करने का प्रयास करती हैं।

प्रेरक (Motives) व्यक्ति की एक आन्तरिक अवस्था (Internal condition) है जिसके द्वारा उपर्युक्त तीनों कार्यों का सम्पादन होता है। इस आन्तरिक स्थिति को हम प्रत्यक्ष रूप से देख नहीं पाते हैं। हमें इनका ज्ञान तभी प्राप्त होता है, जब इन प्रेरको का प्रगटीकरण व्यवहारों के रूप में होता है। फिर उन व्यवहारों के निरीक्षण के आधार पर उनसे सम्बन्धित प्रेरकों का अध्ययन कर पाते हैं।

भूख को हम प्रत्यक्ष रूप से देख नहीं पाते। परन्तु भूख की दशा मे किये किये व्यवहारों का अध्ययनकर हम समझ लेते हैं कि अमुक व्यक्ति इस प्रकार का व्यवहार भूख लगने के कारण कर रहा है। ठीक इसी प्रकार प्यास की अवस्था में किये गये व्यवहार को देखकर हम यह समझ पाते हैं कि उस व्यक्ति विशेष के व्यवहारों के पीछे प्यास की प्रेरक शक्ति काम कर रही है। इसी तरह भूख (Hunger) और प्यास (Thirst) की तरह कई अन्य प्रेरक शक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं—जैसे 'काम' (Sex सेक्स), नींद, यश, मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा आदि।

भूख और प्यास की प्रेरक शक्तियों के प्रभाव से हमारे शरीर के अन्दर कुछ आन्तरिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। फिर इनके फलस्वरूप हममे भोजन अथवा पानी खोजने की इच्छा एवं व्यवहार देखे जाते हैं। ये व्यवहार किसी-न-किसी रूप में प्रायः तब तक चलते रहते हैं जब तक कि

उन प्रेरकों की सन्तुष्टि न हो जाती है। भोजन अथवा पानी प्राप्त करने के बाद उनसे सम्बन्धित व्यवहारों का उस समय अन्त हो जाता है।

भूख और प्यास की अवस्थाओं मे उत्पन्न भोजन अथवा पानी की आवश्यकताओं के फलस्वरूप प्राणी में एक प्रकार के तनाव (Tension) का अनुभव होता है। प्राणी इस तनाव की अवस्था में बहुत अधिक समय तक नहीं रह सकता। अस्तु, वह इस प्रकार का व्यवहार करता है जिससे इस तनाव (Tension) का अन्त हो सके। भोजन ढूँढने की क्रिया से भोजन मिलता है और उसे खाकर व्यक्ति भूख के द्वारा उत्पन्न मानसिक और शारीरिक तनाव (Tension) को दूर कर पाता है। इस प्रकार हम देखते हं कि प्रेरित व्यवहार (Motivated behaviour) लक्ष्य निर्देशित (Goal Directed) व्यवहार होते हैं।

अस्तु 'मनुष्य क्यों किसी कार्य को करता है?' इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने प्रेरकों की सन्तुष्टि के लिए किसी व्यवहार को करता पाया जाता है।

प्रेरकों का वर्गीकरण (Classification of Motives)—ये प्रेरक शक्तियाँ कई एक प्रकार की होती हैं। मनोवैज्ञानिकों ने मूलतः इन्हें दो भागों में विभक्त किया है।
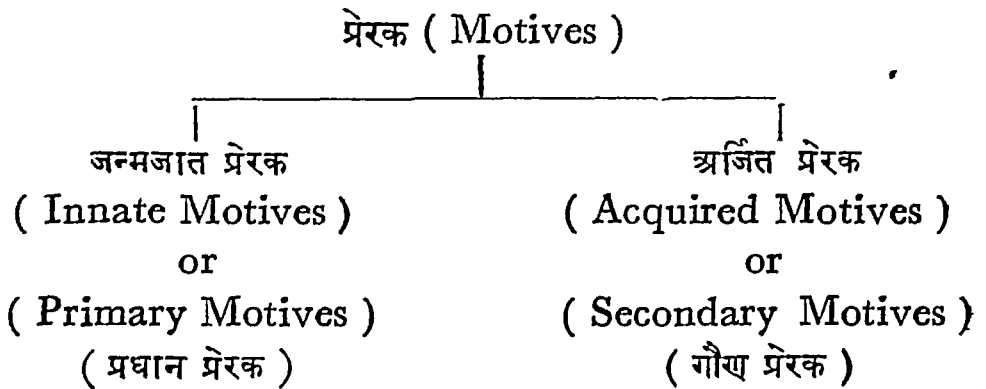
जन्मजात प्रेरकों के अन्दर हम प्यास, भूख, नींद, भय, घृणा, प्रेम, क्रोध, काम आदि को गिनते हैं। ये प्रेरक शक्तियाँ हमारे जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। अस्तु, कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इन्हें प्रधान प्रेरकों (Primary Motives) की संज्ञा दी है।

साथ-साथ हममें कुछ अजित प्रेरक शक्तियाँ भी हैं, जिन्हें हम अपने जीवन में अनुभवों के आधार पर धीरे-धीरे अपनाते जाते हैं। उदाहरण के

स्वरूप, मान-प्रतिष्ठा, आत्म-स्थापन (Self assertion), धनाजन आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

समाज मे आदर तथा सम्मान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति बहुत से कार्य करता पाया जाता है, जैसे—दान देना, धर्मशाला बनवाना, अस्पताल खोलवाना आदि। इन व्यवहारों के पीछे अधिक-से-अधिक आदर एवं सम्मान प्राप्त करने की भावना ही प्रेरक-शक्ति बनकर काम करती रहती है। व्यक्ति चाहता है कि समाज मे अधिक-से-अधिक अथवा हो सके तो सभी लोग उसकी सराहना करें। उसे समाज में सर्वत्र मानप्रतिष्ठा प्राप्त हो। यद्यपि ये गौण प्रेरकों के उदाहरण हैं, परन्तु ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं जिनमे ये गौण प्रेरक इतने प्रमुख एवं बलशाली हो जाते हैं कि ये प्रायः प्रधान प्रेरकों के समान ही जीवन में स्थान प्राप्त कर लेते हैं। समाज मे ऐसे भी लोगों की कमी नहीं है, जो समाज मे अपनी इज्जत बनाये रखने के लिए अपनी जान की बाजी तक खेल जा सकते हैं।

कुछ ऐसे भी मनोवैज्ञानिक हैं जिन्होंने प्रेरकों को दो और भागों मे बाँटने की चेष्टा की है—

(i) व्यक्तिगत प्रेरक (Personal Motives)

(ii) सामाजिक प्रेरक (Social Motives)

व्यक्तिगत प्रेरकों के अन्दर हम व्यक्ति के जीवन लक्ष्य (Aim of life), आकांक्षाएँ (Aspiration), अभिरुचियाँ (Interests), मनोवृत्तियाँ (Attitudes) आदि को शामिल करते हैं।

अगर किसी व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य एक राजनैतिक नेता बनना है तो उसके व्यवहार एक दूसरे व्यक्ति के व्यवहार से भिन्न देखे जायँगे, जो अपने भावी जीवन मे एक कलाकार बनना चाहता है। दोनों के व्यवहारों में यह अन्तर इन दोनों के अन्दर क्रियाशील दो प्रेरक शक्तियों के कारण है जो दो भिन्न जीवन-लक्ष्यों की प्राप्ति से अपना सम्बन्ध रखती हैं। ठीक इसी प्रकार हमारी आकांक्षाएँ, अभिरुचियाँ आदि भी हमारी बहुत-सी क्रियाओं के पीछे प्रेरक का काम करती रहती हैं।

हमारी आदतें भी प्रेरक का कार्य करती हैं। यदि किसी को प्रतिदिन सुबह में चाय अथवा रात्रि में शराब पीने की आदत हो और समय हो जाने पर भी यदि उसे चाय अथवा शराब नहीं प्राप्त हो ,तो वह व्यग्र हो चाय अथवा शराब पाने के लिए चेष्टाएँ करने लगेगा। जब तक उसे शराब मिल नहीं जायेगी, तब तक वह इस प्रकार के व्यवहार करता

रहेगा। अपनी आदत की आवश्यकता (Need) की पूर्त्ति नहीं कर पाने के कारण उसमें शारीरिक एवं मानसिक असन्तुलन (Disequili brium) की अनुभूति होगी।

इस असन्तुलन के कारण उसमें एक तनाव (Tension) उत्पन्न होगा, जो तब तक दूर नहीं होगा, जब तक वह अपनी क्रियाओं के फलस्वरूप शराब प्राप्त नहीं कर लेता है।

अस्तु, यहाँ अगर हमसे कोई पूछे कि अमुक मनुष्य में व्यग्रतापूर्वक कुछ खोजने का व्यवहार क्यों हो रहा है, तो हम कह सकते हैं कि वह ऐसा व्यवहार अपनी आदत से प्रेरित होकर कर रहा है।

कुछ वैयक्तिक प्रेरक शक्तियाँ चेतन न होकर अचेतन रूप से कार्य करती रहती हैं और हमारे व्यवहारों को एक निश्चित दिशा में निरन्तर जारी रखती हैं। इन अचेतन प्रेरकों का ज्ञान प्राणी को स्वयं भी नहीं रहता। इसके उदाहरण सामान्य व्यक्तियों के निरीक्षण में अनेक मिलेंगे। प्रतिदिन की बोल-चाल अथवा लिखने आदि में की गई भूलों (Psychopathology of Every day life) से भी हमें अचेतन प्रेरकों का महत्व परिलक्षित होता है। हम प्रायः उन लोगों को पत्र लिखकर भी उसे पत्र-मंजूषा (Letter Box, लेटर बॉक्स) में गिराना भूल जाते हैं, जिन लोगों के प्रति हमारे अचेतन में सुप्त घृणा अथवा विकर्षण (Hatred or aversion) वर्तमान है। यहाँ लिखा हुआ पत्र नहीं गिराने का व्यवहार अथवा यों कहें कि उसे गिराना भूल जाने का व्यवहार व्यक्ति में हम इसलिए पाते हैं कि उसके अचेतन प्रेरक शक्तियाँ (जैसे सुप्त घृणा आदि) उसे ऐसा ही करने को वाध्य कर देती हैं। फल यह होता है कि उन अचेतन प्रेरकों की सन्तुष्टि हो पाती है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रेरक शक्तियों में सामुदायिकता (Gragariousness), आत्म-स्थापना (Self assertion), अर्जनात्मकता (Acquisitiveness) एवं कलह प्रवृत्ति (Pugnacity) आदि उल्लेखनीय हैं।

आपस में समुदाय बनाकर रहने की प्रवृत्ति प्रायः प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। यही सामुदायिकता हमारे बहुत से सामाजिक व्यवहारों को प्रेरित करती है। जैसे, एक दूसरे से मिलकर रहना, एक दूसरे की सहायता करना, दूसरे की बातों की इज्जत करना आदि।

प्रायः हरेक व्यक्ति चाहता है कि उसके अहम् (Ego) के प्रभुत्व को सभी स्वीकार करें। इसी प्रेरक शक्ति के वशीभूत होकर व्यक्ति कभी-कभी बिना किसी खास वैमनस्य के भी दूसरों को सताता हुआ अथवा उस पर रोब जमाता हुआ पाया जाता है। शक्ति प्राप्त करने (Will to power or dominate) की इच्छा सभी के अन्दर वर्तमान है। एक दयालु व्यक्ति जब किसी भिखारी अथवा दुःखी पर दया दिखाता है, तो कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस दया दिखाने के व्यवहारों के पीछे उस व्यक्ति में दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की इच्छा (Desire) अथवा प्रेरक-वृत्ति (Motive) की ही सन्तुष्टि होती है। अस्तु, आत्म-स्थापन (Self-assertion) एक प्रमुख प्रेरक-वृत्ति है।

मैक्डूगल (Mc Dougall) ने स्पष्ट कहा था कि हरेक व्यक्ति उन चीजों को हासिल करना एवं उन्हें सुरक्षित रखना चाहता है जो उसके लिए फायदेमन्द अथवा आकर्षक है। अगर कोई वस्तु फायदेमन्द भी है और सुन्दर भी तो व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए अवश्य व्यवहार करेगा। हासिल करने और हासिल की हुई वस्तुओं को सुरक्षित रखने में एक प्रवृत्ति प्रेरक के रूप में मनुष्य के व्यवहारों में कार्य करती रहती है। इस प्रेरक शक्ति को अर्जनात्मकता (Acquisitiveness) की संज्ञा दी गई है।

जब हम दो अथवा कुछ व्यक्तियों को आपस में झगड़ा करते देखें तो हमें समझना चाहिए कि उन लोगों के इस व्यवहार के द्वारा उन लोगों के अन्दर अवस्थित कलह-प्रवृत्ति की प्रेरक शक्ति अपनी सन्तुष्टि प्राप्त कर रही है।

अस्तु, हमलोगों ने बहुत संक्षेप में यह देखा कि हमारे व्यवहारों के पीछे प्रेरक शक्तियाँ (Motivating forces) किस प्रकार अपनी संतुष्टि के लिए क्रियाशील रहती हैं।

इस प्रकार हमने यह भी देखा कि बहुत-सी प्रेरक शक्तियाँ मनुष्यों में सामाजिक जीवन के कारण भी उत्पन्न हो जाती हैं। इनका श्रेय व्यक्ति के अपने अनुभव एवं उनके सीखने (Learning) की क्रिया को है।

व्यक्ति के अनुभवों और सीखने का प्रभाव व्यक्ति के जन्मजात प्रेरकों पर भी पड़ता है। इसके प्रभाव के कारण व्यक्ति के जन्मजात (Innate) प्रेरक जैसे, भय (Fear), क्रोध (Anger), प्रेम (Love), काम (Sex), भूख (Hunger) आदि की व्यवहारिक अभिव्यक्ति

(Behavioural manifestation) के रूप (Manner) में भी परिवर्तन एवं परिमार्जन हो जाता है।

बालकों के व्यवहारों के पीछे छिपे हुए भय, प्रेम, क्रोध आदि की प्रेरक शक्तियों का पता लगाना आसान है परन्तु वयस्कों में इनका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। प्रौढ़ों के व्यवहार में इतनी जटिलता आ जाती है कि बिना किसी वैज्ञानिक अध्ययन के यह पता करना बहुत कठिन हो जाता है कि आखिर उनके अमुक व्यवहार के पीछे उनकी कौन-सी प्रेरक शक्ति काम कर रही है।

बढ़ते हुए अनुभवों के साथ-साथ व्यवहारों मे सिर्फ जटिलता ही नहीं आती, वरन् उनके प्रकटीकरण के स्वरूप मे परिवर्तन (Change) एव परिमार्जन (Modification) भी होता जाता है। एक किशोर बालक अपने काम (Sex) की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर जिस प्रकार के व्यवहार दिखलाता है, उसी प्रकार के व्यवहार वयस्क एवं प्रौढ़ व्यक्ति नहीं प्रदर्शित करते।

व्यवहारों मे परिवर्तन एवं परिमार्जन के साथ-साथ प्रेरक वृत्तियों में बहुत कुछ परिमार्जन एवं परिवर्तन होता देखा जाता है। यही कारण है कि विवाह के पूर्व बहुत से पुरुषों की ओर काम-वृत्ति (Sex-instinct) से प्रेरित होकर आकृष्ट होनेवाली स्त्री भी अपने विवाह के बाद अधिकतर अपने पति की ओर ही अपने काम (Sex) की तृप्ति (Satisfaction) के लिए आकर्षित होती है। प्रायः ऐसी ही बातें पुरुषों मे भी पाई जाती हैं। वृद्धावस्था आते-आते यह काम-वृत्ति तो इतनी परिमार्जित हो जाती है कि इसका स्वरूप ही बदलकर वात्सल्य, भक्ति आँदि के व्यवहारों का रूप धारण कर लेता है।

परन्तु फिर भी मनुष्य कोई भी कार्य इसीलिए करता रहता है कि उसके करने से उसकी प्रेरकों (Motive) की किसी-न-किसी रूप में अवश्य सन्तुष्टि होती रहती है।

वंशानुक्रम एवं वातावरण
(Heredity and Environment)

अब तक हमलोगों ने प्राणी (विशेष कर मनुष्य) के व्यवहारों के क्या, कैसे तथा क्यों (What, How & Why) की चर्चा की है। इस 'क्यों' के अध्ययन में हमलोगों ने देखा है कि मनुष्यों की प्रतिक्रियाओं

के पीछे कुछ प्रेरक शक्तियाँ (Motives) काम करती होती हैं। उन्हीं प्रेरक शक्तियों की भिन्नता के कारण एक मनुष्य का व्यवहार दूसरे मनुष्य के व्यवहारों से भिन्न होता देखा जाता है।

सच पूछिए तो सिर्फ व्यवहार ही नहीं, वरन् स्वयं मनुष्यों के व्यक्तित्व ही एक दूसरे मे वैयक्तिक भिन्नताएँ (Individual differences) रखते हैं। हरेक मनुष्य का व्यक्तित्व अपने ढंग का अकेला (Unique) होता है।

वैयक्तिक भिन्नता का कारण वंशानुक्रम एव वातावरण दोनों है। इन्हीं दोनों के प्रभावों के ही कारण हरेक मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है तथा एक मनुष्य का व्यक्तित्व दूसरे मनुष्य के व्यक्तित्व के जैसा ठीक हू-ब-हू नहीं हो पाता है।

वंशानुक्रम एक ऐसी शारीरिक प्रक्रिया (Biological process) है जिसके द्वारा आनेवाली सन्तानें अपने माँ-बाप तथा पूर्वजों के जन्मजात एवं जातीय गुणों को अपने आपमे स्वतः ग्रहण कर लेती हैं। इस शारीरिक प्रक्रिया का सम्बन्ध प्रायः एक ही जाति (Same species) के दो विपरीत योनि (Opposite sex) के प्राणियों के आपसी यौन-समागम (Sexual intercourse) से होता है।

शरीर की बनावट, स्नायु मण्डल (Nervous system), बुद्धि, ग्रन्थि मण्डल (Glandular system), आँखों का रंग, शारीरिक रंग, हमारी मूल प्रवृत्तियाँ (Basic urges), कुछ सहज क्रियाएँ आदि हमें वंशानुक्रम के द्वारा ही प्राप्त होती है। इन सभी का हमारे व्यक्तित्व के विकास में प्रमुख हाथ है।

व्यक्तित्व के विकास से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के वाह्य गुणों जैसे रहन-सहन, भेष-भूषा, बोलचाल आदि एवं आन्तरिक गुण जैसे धैर्य, सहिष्णुता, आत्मचिन्तन, जीवन-दर्शन आदि दोनों प्रकार के विकासों से होता है। कहना न होगा कि शारीरिक विकास का उपर्युक्त गुणों के विकास से बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है। अस्तु, शारीरिक विकास को भी व्यक्तित्व विकास का एक अंग ही समझना चाहिए। वंशानुक्रमवादी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्तित्व के विकास के लिए वंशानुक्रम ही सब कुछ (All in all) है।

गाल्टन, कार्ल पियरसन आदि मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि "मानसिक एवं शारीरिक शील

गुण" भी बहुत अंशों में हमें अपने वंशानुक्रम से ही प्राप्त होते हैं। गाल्टन ने ६७७ उच्च स्तर के परिवारों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला था।

गेडार्ड (Goddard) नामक मनोवैज्ञानिक ने वंशानुक्रम सम्बन्धी अपने अनुसन्धानों में यह पाया कि मन्द बुद्धि स्त्री की सन्तानें भी मन्द बुद्धि की ही होती हैं तथा तीक्ष्ण बुद्धि के माता से उत्पन्न सन्तानें तीक्ष्ण बुद्धि की ही होती हैं। उन्होंने कई एक प्रयोग किये जिनमे कालिक्क नामक सैनिक की दो पत्नियों (एक मन्द बुद्धि, एक तीक्ष्ण बुद्धि) से उत्पन्न बाल-बच्चों का अध्ययन प्रमुख है जिसके आधार पर उन्होंने उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला। तीव्र बुद्धि रखनेवाली पत्नी से जितने भी पुत्र हुए वे भी अपेक्षाकृत तीव्र बुद्धि के हुए और जिसके कारण जीवन में प्रोफेसर, जज, बैरिस्टर, इञ्जीनियर आदि हो पाये। परन्तु दूसरी पत्नी जो मन्द बुद्धि की थी उससे उत्पन्न सभी सन्तानें मन्द बुद्धि की हुई। फलस्वरूप वे जीवन में कोई खास तरक्की भी नहीं कर सकीं। विंशिप (Binship) ने भी एक एडवर्ड नामक व्यक्ति के परिवार में वंशानुक्रम का ऐसा ही महत्त्व पाया। बुद्धि वंशानुक्रम की देन है, इस बात को टरमन (Terman) ने भी स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया है। एस्टाब्रुक्स (Estabrooks) एवं डग्डोल (Dugdale) ने ज्यूक वंश (अमेरिका-निवासी) में उत्पन्न लगभग एक हजार व्यक्तियों के जीवन-इतिहास (Case history) का अध्ययन किया और उन लोगों ने भी पाया कि एक मन्द बुद्धि एवं भ्रष्ट वंशानुक्रम रखनेवाले माता-पिता से उत्पन्न भिन्न कोटि के परिवार के लगभग एक हजार व्यक्तियों में लगभग नौ सौ अस्सी व्यक्ति चोर, डाकू, खूनी, जेलभोगी, आवारा, शराबी, भिखारी आदि निकले। एक हजार में सिर्फ २० व्यक्ति ही ऐसे निकले जो किसी प्रकार अपना जीवन समाज में सामान्य रूप से बिता पाये। इन एक हजार व्यक्तियों का जीवन प्रायः इस प्रकार बीता :—

२०	व्यक्ति	सामान्य जीवन
२४०	,,	जीवन भर किसी-न-किसी बीमारी से पीड़ित रहे
१३०	,,	बार-बार जेल गये (चोरी, जुआ, अवारागर्दी आदि के अपराधी)
३१०	,,	अन्त में भीख माँगने लगे
३००	,,	अपनी बाल्यावस्था में ही मर गये।
जोड़ १०००		

यह वंशानुक्रम का ही प्रभाव है कि समान जुड़वा (Identical twins) बच्चों में मानसिक योग्यताएँ तथा शारीरिक बनावट आदि में अत्यधिक समानता होती हैं। इस क्षेत्र मे भी गाल्टन का अस्सी जुड़वे बच्चों पर किया गया प्रयोग स्मरणीय है जिन्हें यहाँ विस्तार में लिखना अभीष्ट नहीं।

वंशानुक्रम के द्वारा हमें अपने शरीर में कुछ ग्रन्थियाँ (Glands) भी प्राप्त होती हैं जिनकी क्रियाओं (Functions) द्वारा हमारे व्यक्तित्व का विकास एक खास प्रकार से होता है। यदि उनकी क्रियाओं में कोई असन्तुलन अथवा उनके रस-स्राव (Secretion of hormones) मे कोई कमी-वेसी हो जाती है तो उसका प्रभाव सिर्फ हमारे शारीरिक विकास पर ही नहीं पड़ता वरन् हमारे स्वभाव तथा अन्य मानसिक अवस्थाओं पर भी पड़ता है। इन ग्रन्थियो की क्रियाओं (Functions) मे कमी अथवा अधिकता होने के कारण कोई व्यक्ति क्रमशः शान्त अथवा चिड़चिड़ा हो जाता है, तो कोई अत्यधिक नाटा अथवा खूब लम्बा हो जाता है। उसमें यौन समागम की इच्छा (Desire for sexual inter-course) एवं व्यवहार, प्रौढता प्राप्त करने के बहुत बाद भी नहीं दिखाई पड़ सकते हैं अथवा बहुत बचपन से यौन समागम के व्यवहार (Precocious Sexuality) दिखाई पड़ने लग सकते हैं। उदाहरण के लिए थाइरॉड (Thyroid), पिट्युट्री (Pituitary), गोनाड्स (Gonads) आदि ग्रन्थियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

ग्रन्थियों अथवा पिण्डों की क्रियाओं में गड़बड़ी उत्पन्न होने के कारण जो शारीरिक बनावट अथवा व्यवहारों में परिवर्तन होते हैं उनका व्यक्ति के विकास पर काफी असर पड़ता है। यह ग्रन्थियों का ही प्रभाव है कि व्यक्ति बौना हो जाता है। एक अत्यधिक बौना व्यक्ति जब यह पाता है कि वह दूसरों से एकदम छोटा है तो उसके अन्दर हीनता की भावना (Feeling of inferiority) पैदा हो जाती है जिसका उसके व्यक्तित्व के विकास पर बुरा असर पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि किसी किशोर अथवा किशोरी में ही परिपक्व व्यक्तियों की तरह यौन समागम की तीव्र इच्छा एवं उनका प्रकटीकरण देखा जाय तो निश्चय ही उनका व्यक्तित्व सभ्य समाज के दृष्टिकोण से घृणित एव हास्यपद हो जायगा। इस विषय की विषद व्याख्या हम व्यक्तित्व के अध्याय (Chapter) मे करेंगे। यहाँ कम-से-कम पाठकों को इतना स्पष्ट जरूर हो गया होगा कि

ग्रन्थियों की क्रियाओं (Functions) अर्थात् उनके रस-स्राव के (Secretion of Hormones) उचित अनुपात में कमी अथवा वेसी होने से उस व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है।

परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्यों के व्यक्तित्व का विकास पूर्णतः वंशानुक्रम द्वारा ही नियन्त्रित होता हो। व्यक्तित्व का विकास वातावरण पर भी निर्भर करता है। वंशानुक्रम किसी शून्यता (Vacuum) में ही अकेला प्रभाव नहीं डालता।

वातावरण किसे कहते हैं तथा वातावरण कितने प्रकार का होता है इन बातों की चर्चा संक्षेप में पहले की जा चुकी है। यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि वातावरण चाहे आन्तरिक (Internal environment) हो अथवा वाह्य (External) इसका प्रभाव व्यक्ति पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य पड़ता है। भौतिक वातावरण तथा सामाजिक वातावरण के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिकों ने एक मानसिक वातावरण (Psychological environment) की चर्चा की है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इस मानसिक वातावरण का भी व्यक्तित्व के विकास पर कम महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है।

मानसिक वातावरण के अन्दर हम मानसिक प्रतिमाओं (Mental images) एवं अन्य अव्यक्त मानसिक प्रक्रियाओं (Mental contents) को शामिल करते हैं। मानसिक वातावरण प्रायः व्यक्ति के तात्कालिक वातावरण से सर्वथा भिन्न देखा जाता है। मान लीजिए कि वर्ग में अध्यापक पढा रहे हैं परन्तु एक लड़के के मस्तिष्क में अपने घर पर बीमार वृद्ध पिता, दुखी माता, चिन्तित परिवार आदि की मानसिक प्रतिमाएँ आ रही हैं तो हम कहेंगे कि यद्यपि उस लड़के के तत्कालिन वाह्य वातावरण में अध्यापक, पाठ्य-विषय, अन्य लड़के, पंखे, डेस्क, बेंच, वायुमण्डल, तापमान, आर्द्रता आदि है फिर भी उसके मानसिक वातावरण में, वाह्य वातावरण के इन भिन्न-भिन्न पदार्थों से सर्वथा भिन्न की बातें हैं। व्यक्ति जिस प्रकार अपने वाह्य वातावरण में प्रतिक्रियाएँ करता है, उसी प्रकार मानसिक वातावरण में भी प्रतिक्रिया करता पाया जाता है। इस मानसिक वातावरण का उद्‌गम प्रायः आन्तरिक या वाह्य वातावरण से ही होता है। परन्तु यदि किसी व्यक्ति में उसका मानसिक वातावरण ही अधिक प्रमुख एवं प्रभुत्वशाली

हो जाता है तो वह व्यक्ति जीवन की वास्तविकता से क्रमशः तटस्थ होता जाता है। और धीरे-धीरे ख्यालों की दुनिया, मानसिक वातावरणों में ही अपना अभियोजन करने लगता है इससे वह अधिकतर आत्म-केन्द्रित एवं अन्तर्मुखी हो जाता है जिसका उसपर तथा उसके समाज पर कभी-कभी बुरा असर भी पड़ता है।

जो वातावरणवादी मनोवैज्ञानिक हैं वे वातावरण को ही व्यक्तित्व के विकास के लिए सब कुछ मानते हैं। वाट्सन (Watson) नामक मनोवैज्ञानिक ने तो यहाँ तक दावे के साथ कहा कि यदि उन्हें एक औसत स्वास्थ्य एवं बुद्धि का एक सामान्य बच्चा दिया जाय तो वे उसे वातावरण के समुचित नियन्त्रण के द्वारा अपनी इच्छानुसार वकील, डाक्टर, प्रोफेसर, इञ्जीनियर, कलाकार आदि कुछ भी निश्चित रूप से बना दे सकते हैं। उन्होंने वंशानुक्रम के महत्त्व को एकदम नहीं स्वीकार किया। अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए, वातावरणवादियों ने वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के वातावरणों का व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात का पता लगाया है।

एक ऐसा प्रयोग किया गया जिसमे गर्भ के अन्दर के बच्चे पर आन्तरिक वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात का पता चल सके। ऐसे प्रयोग जानवरों पर ही अधिक हो पाये हैं। यह देखा गया है कि गर्भ के अन्दर के बच्चे पर माँ के शरीर के अन्दर की ग्रन्थियों का रस-स्राव, गर्भ के अन्दर का तापमान, रक्त-सञ्चार, शारीरिक पाक क्रिया (Basal metabolism) का भी प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रमवादियो का विश्वास था कि बुद्धि वंशानुक्रम की देन है तथा वातावरण के प्रभाव मे यह अछूता रहता है। जिस व्यक्ति में बुद्धि की यथेष्ट मात्रा वर्त्तमान है उसका व्यक्तित्व आगे चलकर जरूर प्रतिभाशाली होगा परन्तु प्रयोगों के आधार पर तथा दैनिक जीवन में भी ऐसा देखा गया है कि तीव्र बुद्धि के बालक को भी यदि कुछ वर्षों तक मन्द बुद्धि के लोगों के बीच एवं पिछड़े समाज में रख दिया जाए तो उनपर वातावरण का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ने लगता है कि उनका व्यवहार भी मन्द बुद्धि के बालकों के व्यवहारों के जैसा ही होने लगता है। बुद्धि मापने की जाँच-पद्धति (Test) के आधार पर यह भी पता चला है कि बालकों की बुद्धि ऐसी अवस्था मे बहुत कुछ घट भी जाती है। ऐसी तीव्र बुद्धि के बच्चों को जो अपने अनुचित वातावरण के कारण मन्द बुद्धि जैसे हो जाते हैं, उन्हें टरमन (Terman)

ने 'एनभिरॉन-मेंटल ईडियट' (Environmental Idiot) कहकर पुकारा है।

ठीक इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि औसत से भी कम बुद्धि रखनेवाले (Below the average intelligence) बच्चे बुद्धिमान व्यक्तियों के बीच अथवा योग्य समाज में रहकर औसत से उच्च बुद्धि रखनेवाले (Above the average intelligence) लड़कों जैसा व्यवहार करने लगता है। अर्थात्, अच्छे अथवा बुरे वातावरण के प्रभाव से बालकों की बुद्धि के अनुपात में भी वृद्धि या कमी देखी गई है।

यही कारण है कि एक अच्छे परिवार, स्कूल तथा समाज मे पला साधारण बुद्धि का बालक भी अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति हो पाता है। वातावरण अगर अच्छा है तो एक बुरे वंशानुक्रम के बालक का भी व्यक्तित्व अच्छा हो जा सकता है। आज रूस और अमेरिका के बालक इसलिए अपना इतना अधिक विकास नहीं कर पाते हैं कि वे भारतीय बालकों से मूलतः अधिक बुद्धि रखते हैं वरन् सिर्फ इसलिए कि रूस और अमेरिका के बालकों को अपने व्यक्तित्व का सम्यक् विकास करने के लिए जैसा उपयुक्त वातावरण मिलता है वैसा भारतवासी बालकों को नहीं मिल पाता है।

यह वातावरण का ही प्रभाव है कि एक गरीब माँ-बाप का तीव्र से तीव्र बुद्धि का लड़का भी अपना यथेष्ट विकास नहीं कर पाता है। साधारणतः गरीब तथा अमीर के बच्चों मे बुद्धि का वास्तविक अन्तर (Significant differences) एकदम नहीं होता है। परन्तु आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि वातावरणों की यथेष्ट सहायता के अभाव में गरीब के बच्चों का यथोचित विकास कभी नहीं हो पाता।

मनोवैज्ञानिकों ने तो कितने ही ऐसे प्रयोग किये हैं जिनमें समान उम्र एवं बुद्धि के बालकों को भिन्न-भिन्न वातावरणों में कुछ वर्षों तक रखा गया। परिणाम यह हुआ कि जो बालक, चोर, अवारा आदि के सम्पर्क में पला वह चोर, अवारा हो गया तथा जो बालक पढ़े-लिखे परिवार एवं सभ्य समाज में रहा वह अपेक्षाकृत कहीं अधिक पढ़ा-लिखा एवं सभ्य बन पाया। ब्लाज (Blatz), न्यूमैन (Newman) आदि मनोवैज्ञानिकों ने दो जुड़वे बच्चों को दो प्रकार के वातावरणों में अलग-अलग रख दिया। फलस्वरूप, कुछ वर्षों बाद दोनों बालकों के व्यक्तित्व में अलग-अलग गुण पाये गये। अस्तु, वातावरणवादियों का कहना है कि

ज्यूक वंश (Juke-family : Dugdale's experiment) के अधिक-तर लोग चोर, वदमाश, भिखारी, खूनी आदि सिर्फ इसलिए हो गये कि उनलोगों का सम्पूर्ण वातावरण ही चोर, वदमाश, अवारों आदि से भरा वातावरण था। अगर उन्हें एक अच्छे वातावरण में रहने का अवसर मिल सकता तो उनका व्यक्तित्व कभी बुरा नहीं हो पाता। ऐडलर (Adler) ने स्पष्ट कहा है कि किसी व्यक्ति की जीवनशैली (Style of life) का निर्धारण वातावरण करता है। वाल्डविन (Baldwin), हिंडले (Hindley) आदि मनोवैज्ञानिकों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यह वातावरण के अन्तर का ही कारण है कि शहर के वालकों की बुद्धि दिहात में रहनेवाले बच्चों की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। प्रेसी और थामस (Pressy and Thomas) ने भी ३२१ लडकों पर किये गये अपने अनुसन्धान में यही पाया।

गॉर्डन (Gordon) ने मल्लाहों एवं अन्य पिछड़ी हुई जातियों के बच्चों का उनके विकास के साथ-साथ समय-समय पर बुद्धि माप कर देखा। उन्होंने पाया कि अविकसित समाज में पलनेवाले उन वालकों की बुद्धि धीरे-धीरे घटती जा रही थी। गॉर्डन ने पाया कि प्रायः ६ वर्षों की उम्र में जो बालक औसत बुद्धि के थे लगभग तीन वर्षों के वाद अर्थात् नव वर्ष की उम्र पहुँचने पर वे ही वालक टेस्ट द्वारा परीक्षण करने पर औसत से कम बुद्धि के पाये गये।

वातावरण की प्रभुता सिद्ध करनेवाले अन्वेषकों ने तो कई ऐसे उदाहरण भी पाया है जहाँ पशु भी मनुष्यो के वातावरण में रहकर बहुत कुछ मनुष्यों की ही तरह उठना-बैठना, चलना, कपडा पहनना आदि सीख गया है तथा कई मनुष्यों के बच्चे भी जंगल में जानवरों के बीच पलने अथवा जानवरों के द्वारा पाले जाने के कारण जानवर जैसे व्यवहार करने लगे हैं।

जगल और जानवरों के वातावरण में पलने के कारण आदमी के बच्चे भी जानवर जैसे हो जाते पाये गये हैं। फ्रांस में एक आदमी का बच्चा जंगल में पाया गया था। वह बचपन में ही माता-पिता के भूल से अथवा किसी और कारणवस जंगल में छूट गया था। परन्तु सौभाग्यवस उसे किसी जानवर ने मार नहीं दिया वरन् उन जानवरों के द्वारा ही वह पाला-पोसा गया। बड़ा होने पर मनुष्यों ने उसे एक दिन अचानक देखा

और वे उसे बाहर ले आये। जंगल में रहते-रहते उस बच्चे का रहन-सहन बिल्कुल जानवरों जैसा हो गया था। वह एकदम नंगा अपने दोनों हाथों एवं पैरों के सहारे जानवरों जैसा दौड़ता, उछलता, कूदता था। वह जानवरों जैसा ही भोजन में मुख सटाकर खाना सीख गया था, उसकी बोली भी जानवरों जैसी हो गयी थी। क्रोधित होने पर अपने दातों एवं बड़े-बड़े नाखूनों से मनुष्यों को नोचने-खसोटने के लिए उन पर झपट पड़ता था। अर्थात्, वह बिल्कुल एक नये प्रकार के जानवर जैसा हो गया था। वातावरणवादियों को अपनी धारणा की पुष्टिकरण के लिए यह एक सुन्दर उदाहरण मिला। उनका कहना है कि यह जगली वातावरण का ही प्रभाव था कि मनुष्य का बच्चा भी पशु जैसा हो गया। ऐसे उदाहरण फ्रांस मे ही नहीं वरन् संसार में कई एक जगहों मे मिले हैं। कुछ दिन हुए दो लड़कियाँ भेड़ियों की माँद में पायी गई थीं। वे भी भेड़ियों जैसा ही व्यवहार करने लगी थीं। मनुष्यों ने उनको फिर से आदमी जैसा बनाने का प्रयास किया। उनके नये नाम रक्खे गये—"कमला तथा विमला" परन्तु दुर्भाग्यवश उन लडकियों का कुछ दिनों में ही स्वर्गवास हो गया।

संक्षेप में ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है कि मनुष्य का विकास वातावरण पर बहुत अधिक निर्भर करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वंशानुक्रम का कोई महत्व ही नहीं है। मनुष्य का व्यक्तित्व-विकास सच पूछा जाय तो वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों से प्रभावित होता है। अतः दोनों का महत्व समान है। दोनों मे से किसी एक को प्रधान तथा दूसरे को गौण कहना भूल है। जिस प्रकार किसी पौधे के समुचित विकास के लिए एक अच्छे बीज के साथ-साथ अच्छी मिट्टी, पानी, सूर्य के प्रकाश आदि सभी की उचित मात्रा में आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए एक अच्छे वंशानुक्रम के अतिरिक्त एक अच्छे वातावरण की भी आवश्यकता होती है। व्यक्तित्व वंशानुक्रम एवं वातावरण के आपसी सम्बन्ध एवं घात प्रतिघात (Inter action) का ही प्रतिफल है। वंशानुक्रम एवं वातारण का घात प्रतिघात मनुष्य के जीवन के आदि से अन्त तक चलता ही रहता है। इस घात-प्रतिघात के होने में समय की बीतती हुई अवधि (Duration) का भी महत्व ध्यान में रखना अनिवार्य है। यही कारण है कि व्यक्तित्व को, वंशानुक्रम वातावरण एवं समय इन तीनों का गुणनफल भी कहा गया है। इस

प्रकार व्यक्तित्व-विकास को निम्नलिखित सूत्र के द्वारा अत्यधिक स्पष्ट किया जा सकता है,

व्यक्तित्व = वंशानुक्रम × वातावरण × समय

(Personalty = Heredity × Environment × Time.)

or

(P = H × E × T)

उडवर्थ (Woodworth) ने भी कुछ इसी प्रकार लिखा है—
"The individual does not equal Heredity + Environment but does equal Heredity × Environment."

अर्थात् व्यक्ति वातावरण तथा वंशानुक्रम का योगफल नहीं वरन् गुणनफल है।" चूँकि यदि इन तीनों में से किसी एक को शून्य कर दिया जाय तो गुणनफल भी शून्य (Zero) हो जायगा अर्थात् इनके अभाव में व्यक्तित्व का विकास सम्भव ही नहीं।

कहना न होगा कि बालकों के व्यक्तित्व के समुचित विकास के निमित्त, इनमें वैयक्तिक भिन्नता उत्पन्न करने के लिए उपर्युक्त तीनों बातों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। किसी एक की महत्ता को मानकर दूसरे की उपेक्षा करना कभी ठीक नहीं कहा जा सकता है।

पाँचवाँ अध्याय

स्नायु-मण्डल

(Nervous System)

भूमिका—स्नायु-कोशों की बनावट तथा उनके स्वभाव—स्नायु-कोशों के प्रकार—स्नायु-प्रवाह और सम्पूर्णतया-बिलकुल नहीं का नियम—

स्नायु-मण्डल के संविभाग—संयोजक स्नायु-मण्डल—ज्ञानवाही एवं क्रियावाही संयोजक स्नायु-मण्डल—

केन्द्रीय स्नायु-मण्डल—सुषुम्ना एवं मस्तिष्क—मस्तिष्क के भाग—पृष्ठ, मध्य तथा अग्र मस्तिष्क—

पृष्ठ मस्तिष्क—सुषुम्ना शीर्ष, सेतु तथा लघु मस्तिष्क—

मध्य मस्तिष्क—फ्लोर एवं ऊपरी सतह या टेक्टम—

अग्र मस्तिष्क—थैलेमस, हाइपो-थैलेमस, आल-फैक्टरी बल्वस; वेसैल गैंगलीया, सेरीवरल हेमिसफेयर—वृहन्मस्तिष्कीमवल्क—स्नायु-मण्डल के प्रत्येक अंगों की बनावट तथा उनकी कार्यवाही—मस्तिष्क के सभी भागों में सम क्षमता—

स्वतः संचालित स्नायु-मण्डल—इसके विभिन्न भागों की बनावट तथा कार्यवाही।

कर्मेन्द्रियाँ या प्रभावक—मांसपेशियाँ तथा पिण्ड—मांसपेशियाँ—धारीदार एवं चिकनी मांसपेशियाँ—पिण्ड या ग्रन्थि—वहिःस्रावी तथा अन्तःस्रावी पिण्ड—मांसपेशियों तथा पिण्डों की बनावट और उनकी कार्यवाही।

व्यक्ति और वातावरण के बीच सम्बन्ध स्नायु-मण्डल ही स्थापित करता है। वातावरण की विभिन्न उत्तेजनाओं का संसर्ग मनुष्य के ज्ञानेन्द्रियों से होता है। शरीर का यह यन्त्र "स्नायु-मण्डल" इस संसर्ग के

फलस्वरूप क्रियाशील होता है जिससे मानसिक एव शारीरिक क्रियाओं की उत्पत्ति होती है। सभी तरह की मानसिक क्रियाएँ वातावरण की विभिन्न उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रिया मात्र हैं। यह प्रतिक्रिया स्नायु-मण्डल के अभाव मे असम्भव है। कारण इसके अभाव से वातावरण तथा मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध जाता रहेगा।

किसी भी प्रतिक्रिया क उत्पन्न होने मे तीन अवस्थाएँ देखी जाती हैं; पहली अवस्था, उत्तेजना का ग्राहकेन्द्रिय विशेष के द्वारा ग्रहण किया जाना, जैसे, आँख के द्वारा प्रकाश की तरंगें (Light waves) अथवा कान के द्वारा ध्वनि-तरंगें ग्रहण की जाती हैं। दूसरी अवस्था, मस्तिष्क में उत्तेजनाओं के फलस्वरूप कुछ प्रभावों का उत्पन्न होना। और तीसरी अवस्था, उन प्रभावों का मानसिक अथवा शारीरिक क्रियाओं के रूप मे प्रकट होना। एक बालक जब मिठाई को देखता है तो उसके मस्तिष्क मे मिठाई को देखने के कारण कुछ स्वाभाविक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। उसमे मिठाई खाने की इच्छा जगती है। वह मिठाई की ओर हाथ बढ़ाने की क्रिया करता है। यहाँ मिठाई की ओर हाथ बढ़ाने की क्रिया (मस्तिष्क का क्रियात्मक पहलू) के पूर्व क्रमशः हम मिठाई का ज्ञान (मस्तिष्क का ज्ञानात्मक पहलू), मिठाई को देखने से बच्चों में प्रसन्नता का अनुभव (मस्तिष्क की क्रिया का भावात्मक पहलू) आदि दो और पहलू पाते हैं। अतः स्नायुमण्डल का सम्बन्ध मस्तिष्क के ज्ञानात्मक, भावात्मक, तथा क्रियात्मक तीनों पहलुओं से है। यदि स्नायु-मण्डल मनुष्यों में नहीं होता तो मिठाई को देखकर प्रसन्नता तथा उसकी ओर हाथ बढ़ाने की क्रिया की बात कौन कहे, बालक को इस बात का भी ज्ञान नहीं हो पाता कि मिठाई उसके सामने रखी है। इसी प्रकार जीवन में चलना, उठना, बोलना, पहचानना आदि सारी क्रियाएँ स्नायुमण्डल पर निर्भर करती हैं। प्राणियों में इन ऐच्छिक क्रियाओं के अतिरिक्त साँस का चलना, खून का नसों में दौड़ना, छींकना, पलकों का गिरना आदि अनैच्छिक एवं सहज क्रियाएँ भी स्नायुमंडल के द्वारा ही संचालित होती हैं।

विकासवाद के दृष्टिकोण से (Theory of Evolution) जो प्राणी विकास की सीढ़ी में (Ladder of Evolution) जितना ही निम्नस्तर पर है उसका स्नायुमण्डल उतना ही सरल है। ठीक इसके विपरीत जो प्राणी विकास का जितना उच्च स्तर प्राप्त कर चुका है उसका स्नायुमण्डल उतना अधिक जटिल होता है। एक चूहे का स्नायुमण्डल

बन्दर के स्नायुमण्डल से सरलतर है जो विकास की सीढ़ी में चूहे से अधिक उच्च है। परन्तु मनुष्य का स्नायुमण्डल सभी प्राणियों के स्नायुमण्डल से अत्यधिक जटिल है। यह जटिलतर स्नायुमण्डल का ही प्रभाव है कि मनुष्य आज साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों मे प्रगति कर रहा है जो अन्य प्राणियों के लिए असम्भव है।

मानसिक क्रियाओं की उत्पत्ति उत्तेजनाओं का सम्पर्क ग्राह्यकेन्द्रियों से होने से होता है। एक विशेष प्रकार की उत्तेजनाएँ विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करती हैं। वे ज्ञानेन्द्रियाँ जो उत्तेजनाओं को ग्रहण करती हैं उन्हें ग्राह्यकेन्द्रिय (Receptor organ) की संज्ञा दी जाती है। छोटे प्राणी में विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं होती हैं। उदाहरणार्थ, अमीवा (Amoeba) को देखें। अमीबा में आँख, कान, नाक आदि विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं। विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियो के अभाव में 'अमीवा' का सारा शरीर उत्तेजना को ग्रहण करता है, जैसे, आँखों के अभाव में प्रकाश के प्रति उसका सारा शरीर प्रतिक्रिया करता है। पर जैसे-जैसे प्राणियों में विकास हुआ वैसे-वैसे विशेष प्रकार की इन्द्रियों का भी प्रादुर्भाव हुआ जो विशेष प्रकार की ही क्रियाओं के करने में समर्थ रहीं। यह विकास अपनी चरम सीमा को मनुष्यों मे पा चुका है। यहाँ भिन्न-भिन्न तरह की उत्तेजनाओं को ग्रहण करने के लिए भिन्न-भिन्न इन्द्रियाएँ हैं, जैसे, आवाज को ग्रहण करने के लिए कान है, प्रकाश को ग्रहण करने के लिए आँखें हैं आदि। इनका कार्य भी भिन्न है। कान का काम है ध्वनि-तरगों को ग्रहण करना, तथा आँखों का काम है प्रकाश-तरंगों को ग्रहण करना। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक उत्तेजना विशेष ग्राह्यकेन्द्रिय के सम्पर्क में आती है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप ग्राह्यकेन्द्रियों में एक परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को 'वैद्युत रासायनिक संक्षोभ' (Electro-chemical disturbance) की संज्ञा दी जाती है। यह संक्षोभ जिसे प्रवाह (Impulse) भी कहते हैं, स्नायु-तन्तुओं (Nerve fibers) से होता हुआ मस्तिष्क के केन्द्र विशेष में पहुँचता है जिससे उस इन्द्रियजन्य संवेदना का अनुभव होता है। स्नायुमण्डल में हुए इस क्रिया से जो प्रवाह उत्पन्न होता है वह स्नायु-तन्तुओं से होता हुआ प्रभावकों या मांसपेशियों एवं पिण्डों (Effectors or muscles & glands) में पहुँचता है। इसके यहाँ पहुँचने से मांसपेशियों एवं पिण्डों

में गति उत्पन्न होती है और हम क्रियाशील हो जाते हैं। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि स्नायु-प्रवाहों पर ही क्रियाएँ निर्भर हैं। इस बात को उदाहरण के द्वारा आगे और अधिक स्पष्ट किया जायगा।

मनुष्य का शरीर अनेक जीवित कोशो (Living cells) का संग्रह है। पर सभी कोश एक तरह के नहीं होते और न उनकी क्रिया ही समान होती हैं। कुछ कोशों से मांसपेशियाँ बनती हैं तो कुछ से हड्डियाँ, कुछ कोशो का काम स्नायु-प्रवाह को ढोना है। वे कोश जो स्नायु-प्रवाह को ढोते हैं उन्हें स्नायु-कोश (Neurons) कहते हैं। स्नायु-कोश में एक जीव-कोश (Cell body) होता है। इसके दोनों छोरों की बनावट विशेष प्रकार की होती है। एक तरफ मुख्यतन्तु (Axon) तथा दूसरे तरफ शिखातन्तु (Dendrites) होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्नायुकोश के तीन भाग होते हैं,

(१) जीवकोश (Cell body)
(२) मुख्यतन्तु (Axon)
(३) शिखातन्तु (Dendrites)
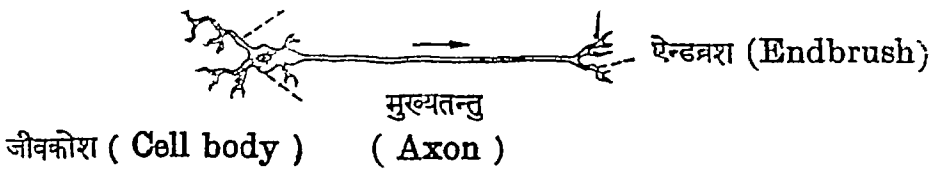
चित्र न० १—स्नायुकोश का चित्र

(१) जीवकोश की बनावट—इसके आकार का कोई निश्चित रूप नहीं होता है। यह प्रायः गोलाकार होता है। एक कोश के चारों तरफ एक परत होती है जिसे "मेमब्रेन" (Membrane) कहते हैं। इस परत के नीचे "साइटोप्लाज्म" (Cytoplasm) नामक एक तरल पदार्थ होता है जिसके मध्य में "कोश का केन्द्र" (Nucleus) होता है। इस केन्द्र के अन्दर एक और सूक्ष्म केन्द्र होता है जिसे "नुकलीआई" (Nucleoii) कहते हैं।

कार्य—शिखातन्तु द्वारा लाये गये स्नायु प्रवाहों को केन्द्र में ग्रहण करना तथा पुनः मुख्यतन्तु की ओर जाने देना।

(२) मुख्यतन्तु : बनावट—यह जीव-कोश की छोर से बहुत पतली दुम की तरह लम्बा निकला होता है। इसकी छोर पर बहुत पतले-पतले

निकले झाडू की तरह के आकार को "एण्डब्रश" (End brush) कहते हैं। मुख्य तन्तु का 'एण्डब्रश' दूसरे जीवकोश के "शिखा तन्तु" (Dendrites) से लगा होता है।

क्रिया—मुख्यतन्तु के द्वारा जीवकोश में आये हुए स्नायु-प्रवाह जीवकोश से बाहर निकलते हैं तथा मांसपेशियों, पिण्डों, अथवा स्नायु-मण्डल के किसी केन्द्रविशेष की ओर जाते हैं।

(२) शिखातन्तु : बनावट—यह पेड़ की सघन टहनियों के समान फैला होता है।

कार्य—इसके दो कार्य हैं, एक, स्नायु-प्रवाहों को ग्रहण करना तथा दूसरा, उन्हें जीव-कोश में ले जाना।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी उत्तेजना विशेष से ग्राहक-कोशों के उत्तेजित होने से स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है। जैसे, मेज पर रखी कलम को देखकर दृष्टि स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होते हैं। इस स्नायु-प्रवाह को 'शिखातन्तु' (Dendrites) ग्रहण कर 'जीवकोश' (Cell body) तक ले जाता है। जीवकोश स्नायु-प्रवाह को ग्रहण करता है। 'मुख्यतन्तु' (Axon) इन स्नायुप्रवाहों को जीवकोश से दूर मांसपेशियों, पिण्डों या स्नायुमण्डल क किसी केन्द्र विशेष की ओर ले जाता है।

स्नायु-कोश के प्रकार (Kinds of Neurons)—अनेक स्नायु-कोश (Neurons) सारे शरीर में फैले हुए हैं। जो स्नायु-कोश स्नायु-प्रवाह को ग्राह्यकेन्द्रियों से 'सुषुम्ना या मेरुदण्ड रज्जु' (Spinal cord), अथवा 'मस्तिष्क' (Brain), तक पहुँचाता है उसे 'ज्ञानवाही स्नायुकोश' (Sensory or Affarent Neuron) कहते हैं। पर स्नायु-प्रवाहों को मांसपेशियों तथा पिण्डों तक पहुँचाने के लिए भी स्नायु-कोश हैं। इन्हें 'बहिर्वाहक' या 'गतिवाही' स्नायु-कोश (Efferent or Motor Neuron) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्नायु-कोश हैं जिनका काम 'अन्तर्वाहक स्नायुकाश' (Sensory neuron) के स्नायु-प्रवाह को 'बहिर्वाहक स्नायु-कोश' (Motor neuron) मे मिलाना होता है। ऐसे स्नायु-कोश को "साहचर्य स्नायुकोश" (Association neuron) कहते हैं।

स्नायु-प्रवाह को ग्राह्यकेन्द्रियों से सुषुम्ना अथवा मस्तिष्क तक (Receptor organs to Spinal Cord or Brain), या मस्तिष्क से मांसपेशियों तथा पिण्डों तक (Brain to muscles or glands),

एवं स्नायु प्रवाह को ज्ञानवाही स्नायु-कोश से लेकर गतिवाही स्नायु-कोश (Nerve impulses from receptor cells to effector cells), में छोड़ने की क्रिया को करने के लिए अनेक स्नायु-कोश (Neurons) शरीर में हैं। एक स्नायु-कोश दूसरे स्नायु-कोश से एकदम सटा नहीं होता वरन् एक स्नायु कोश का मुख्यतन्तु जहाँ दूसरे स्नायु-कोश के शिखातन्तु के सम्पर्क में आता है वहाँ मुख्य-तन्तु एवं शिखातन्तु के बीच कुछ दुराव रह जाता है। इस स्थल को सन्धि-स्थल (Synapse) कहते हैं। इस सन्धि-स्थल को पार करने के क्रम में स्नायु-प्रवाह पहले धीमा हो जाता है फिर समीप आकर एक छलांग ले पार करने की कोशिश
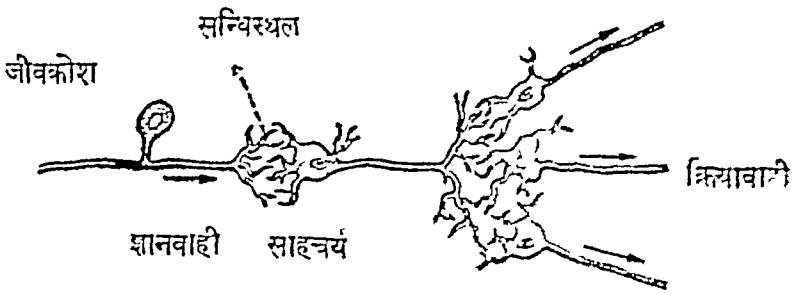
चित्र न० २ (क)—विभिन्न प्रकार के स्नायुओं का चित्र
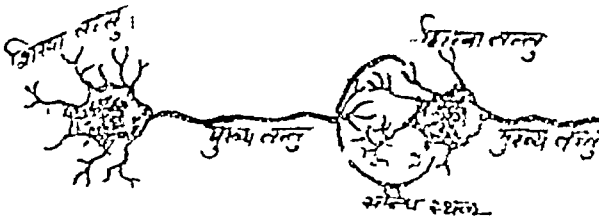
चित्र न० २ (ख)—दो स्नायुकोशो का सन्धिस्थल

करता है। कुछ स्नायु-प्रवाहों मे अपने ही में इतनी ताकत होती है कि वे उस ताकत के सहारे इस सन्धि-स्थल को पार कर जाते हैं। पर ऐसे भी स्नायु-प्रवाह होते हैं जिन्हें दूसरे स्नायु-प्रवाहों की सहायता सन्धि-स्थल (Synapse) को पार करने के लिए लेनी पड़ती है। सहायता दो तरह से मिल सकती है। (क) दो भिन्न स्थान से आनेवाले स्नायु-प्रवाहों का संयोग सन्धि-स्थल में होना, जिसे 'स्थान-संयोग' (Spatial Summation) कहते हैं।

(ख) एक ही मार्ग से आनेवाले भिन्न-भिन्न समय पर चले हुए स्नायु-प्रवाहों का मिलन जिसे 'समय-संयोग' (Temporal Summation) की संज्ञा दी जाती है।

इस संयोग के फलस्वरूप कमजोर स्नायु-प्रवाहों में बल आ जाता है जिससे वे सन्धि-स्थल को पार करने में समर्थ होते हैं। एक ही सन्धि-स्थल पर एक ही समय भिन्न-भिन्न दिशाओं से स्नायु-प्रवाह पहुँच सकते हैं। पहुँचनेवाले इन विभिन्न स्नायु-प्रवाहों में जो स्नायु-प्रवाह जितना ही अधिक शक्तिशाली है वह उतनी ही शीघ्रता से अपेक्षाकृत कमजोर स्नायु-प्रवाहों की शक्ति को रोककर स्वयं उस सन्धि-स्थल को पारकर आगे बढ़ जाता है। जैसे, कभी-कभी खेलने में व्यस्त होने पर थोड़ी चोट लग भी गई हो तो उस चोट की जानकारी खेलते रहने तक नहीं होती। यहाँ पर खेलने की क्रिया का स्नायु-प्रवाह चोट लगने से उत्पन्न स्नायु-प्रवाह को आगे बढ़ने से रोक देता है जिससे चोट की जानकारी नहीं हो पाती। सन्धि-स्थल पर हुए इस क्रिया को 'रुकावट-क्रिया' (Synaptic inhibition) कहते हैं।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है उत्तेजना जब ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आती है तो ज्ञानेन्द्रियों में एक प्रकार का वैद्युत रासायनिक सक्षोभ (Electro-chemical disturbance) उत्पन्न होता है। इस संक्षोभ को 'स्नायु-प्रवाह' (Nerve impulse) की संज्ञा दी जाती है। समुचित उत्तेजना पाकर जब कोई स्नायु-कोश उत्तेजित होता है, तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ क्रियाशील हो उठता है। परन्तु दुर्बल उत्तेजना से स्नायु-कोश बिल्कुल उत्तेजित नहीं होता है। अर्थात् स्नायु-कोश यदि क्रियाशील होता है तो पूर्ण रूप से क्रियाशील होता है और यदि क्रियाशील नहीं होता है तो एकदम नहीं होता है। आंशिक क्रियाशीलता की स्थिति उनमें एकदम नहीं देखी जाती है। इसे "सम्पूर्ण या विल्कुल नहीं" (All-or-none law) का नियम कहते हैं। एक बार एक स्नायु-कोश उत्तेजित होने के बाद कुछ देर विश्राम करता है जिसे विश्रामावस्था (Refractory period) कहते हैं। इस प्रकार के विश्राम की अवस्था दो तरह की होती है—

(क) पूर्ण विश्राम की अवस्था (Absolute Refractory Period)

(ख) सापेक्ष विश्राम की अवस्था (Relative Refractory Period)

(क) पूर्ण विश्राम की अवस्था में जब स्नायु-कोश होते हैं तो यहाँ तीव्र से तीव्र भी उत्तेजना उसे क्रियाशील नहीं कर पाती। परन्तु (ख) अर्थात् सापेक्ष विश्राम की अवस्था में एक अति तीव्र (Intense) उत्तेजना स्नायु-कोश में गति उत्पन्न कर सकती है।

स्नायु-मण्डल के संविभाग

(Division of the Nervous System)

१. संयोजक स्नायु-मण्डल (Peripheral Nervous System)

- ज्ञानवाही संयोजक स्नायु-मण्डल (Sensory Peripheral Nervous System)
- क्रियावाही संयोजक स्नायु-मण्डल Motor Peripheral Nervous System)

२ केन्द्रीय स्नायु-मण्डल (Central Nervous System)

३ स्वत संचालित स्नायु-मण्डल (Autonomic Nervous System)
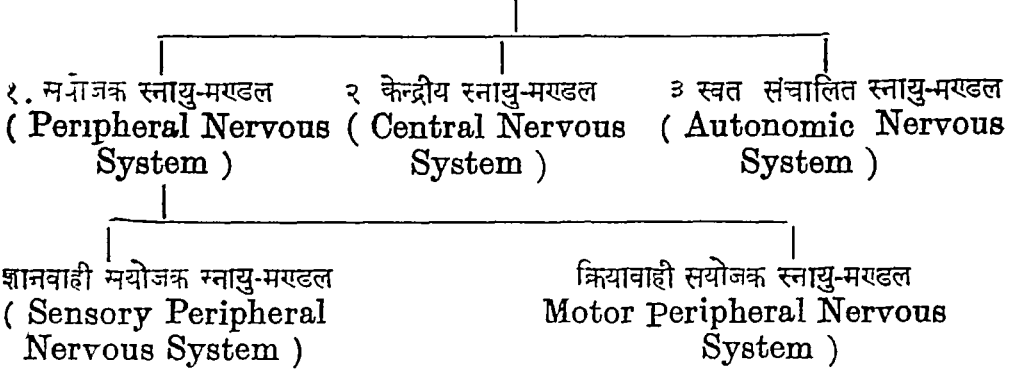
१. संयोजक स्नायु-मण्डल (Peripheral nervous system)—यह स्नायु-मण्डल का वह भाग है जो वाह्य शरीर की क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। इसके दो प्रमुख भाग हैं : (क) ज्ञानवाही संयोजक स्नायु-मण्डल (Sensory peripheral nervous system) तथा (ख) क्रियावाही संयोजक स्नायु-मण्डल (Motor peripheral nervous system) ।

(क) ज्ञानवाही संयोजक स्नायु-मण्डल (Sensory peripheral nervous system)—यह संयोजक स्नायु-मण्डल का वह भाग है जिसके स्नायुतन्तु, ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध सुषुम्ना (Spinal cord) या मस्तिष्क (Brain) से कराते हैं। इस सम्बन्ध को स्थापित करनेवाले नाड़ीतन्तु को ज्ञानवाही या अन्तर्वाहक (Sensory or Affarent) नाड़ी तन्तु कहते हैं। इन्हीं नाड़ियों के समूह को ही ज्ञानवाही संयोजक-स्नायु-मण्डल की संज्ञा दी गई है।

(ख) क्रियावाही सयोजक स्नायुमण्डल (Motor peripheral nervous system)—सयोजक स्नायुमण्डल का वह भाग जिसके स्नायु या नाडी-तन्तु को क्रियावाही या वहिर्वाहक नाड़ी-तन्तु (Motor or efferent nerves) कहा जाता है वह सुषुम्ना या मस्तिष्क का सम्बन्ध कर्मेन्द्रियॉ या प्रभावुकों (मांसपेशियों या पिण्डों) से कराता है। क्रियावाही या गतिवाही स्नायुतन्तु के समूह को ही क्रियावाही या वहिर्वाहक संयोजक (Motor or efferent) स्नायुमण्डल कहते हैं।

इसके अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। अस्तु उत्तेजनाओ को ग्रहण करने तथा उनके प्रति प्रतिक्रियाऍ करने के लिए सयोजक स्नायुमण्डल का भी वहुत ही प्रमुख स्थान है।

ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन संवेदना के अध्याय में किया जायगा। तथा कर्मेन्द्रियों का उल्लेख आगे इसी अध्याय के अन्त में किया जायगा।

२. केन्द्रीय स्नायुमण्डल (Central Nervous-System)
(१) सुषुम्ना या मेरुदण्ड रज्जु (Spinal cord)
(२) मस्तिष्क (Brain)
अग्र (Fore)
मध्य (Mid)
पृष्ठ (Hind)
१. थैलेमस (Thalamus)
२. पिट्यूटरी पिंड (Pituitary gland)
३. हाइपोथैलेमस (Hypothalamus)
४. आलफैक्ट्री वल्बस या घ्राण कन्द (Olfactory bulbs)
५. बेसल गैंगलिया (Basal ganglia)
६. सेरीबरल हेमिसफेयर या बृहत् मस्तिष्क (Cerebral hemisphere)
१. टेकटम या रूफ (Tectum or Roof)
२. फ्लोर (Floor)
१. सेतु (Pons)
२. सुषुम्नाशीर्ष (Medulla oblongata)
३. लघु मस्तिष्क (Cerebellum)
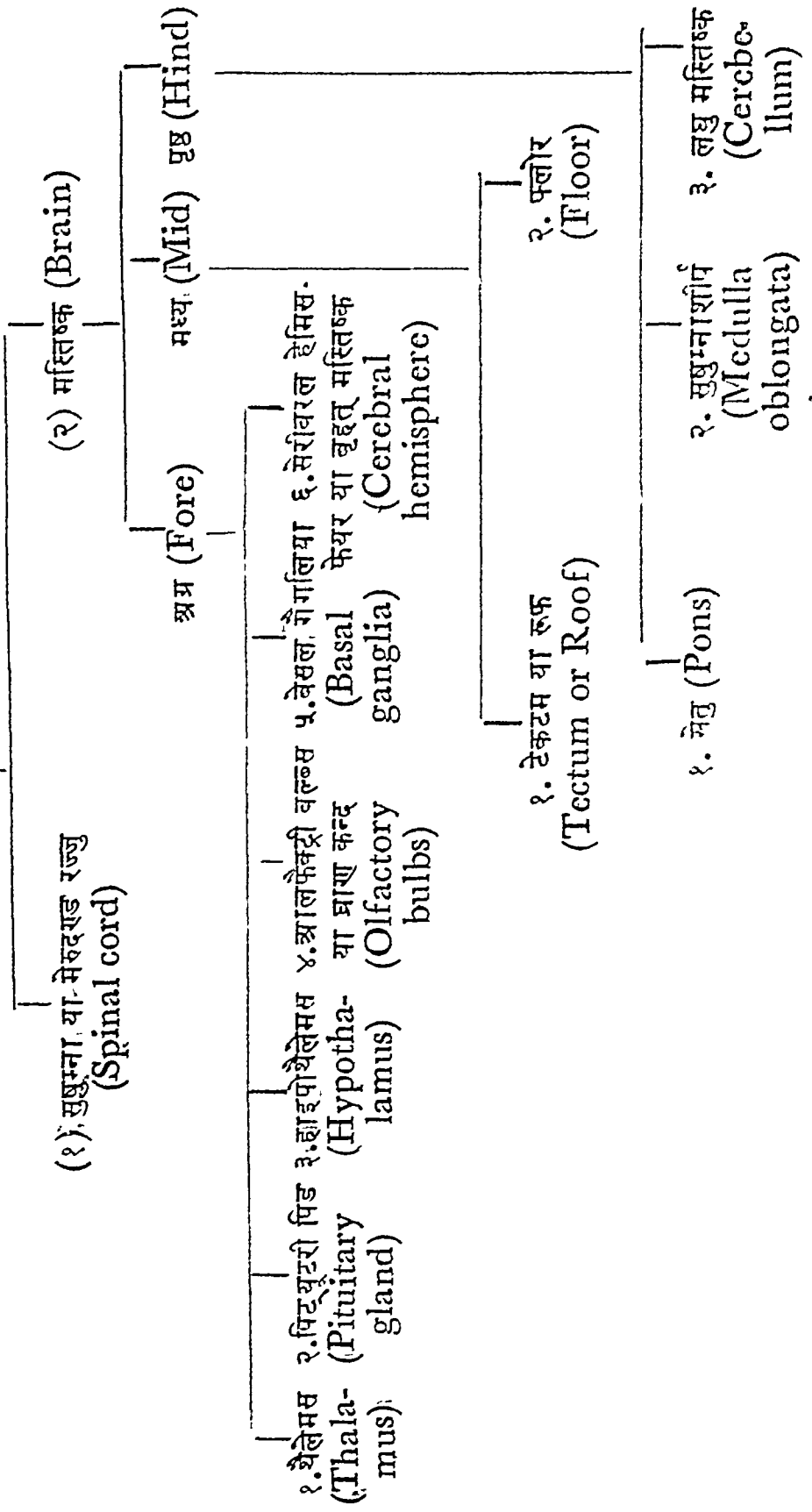
(१) **सुषुम्ना या मेरूदण्ड रज्जु** (Spinal cord)—एक हड्डी गर्दन से प्रारम्भ होकर पीठ से होती हुई पूछ की हड्डी (Tail bone) तक चली गई है। इस रीढ़ की हड्डी के भीतर केन्द्रीय स्नायुमण्डल का वह लम्बा भाग है जिसे सुषुम्ना या मेरूदण्ड रज्जु की संज्ञा दी गई है। सुषुम्ना की
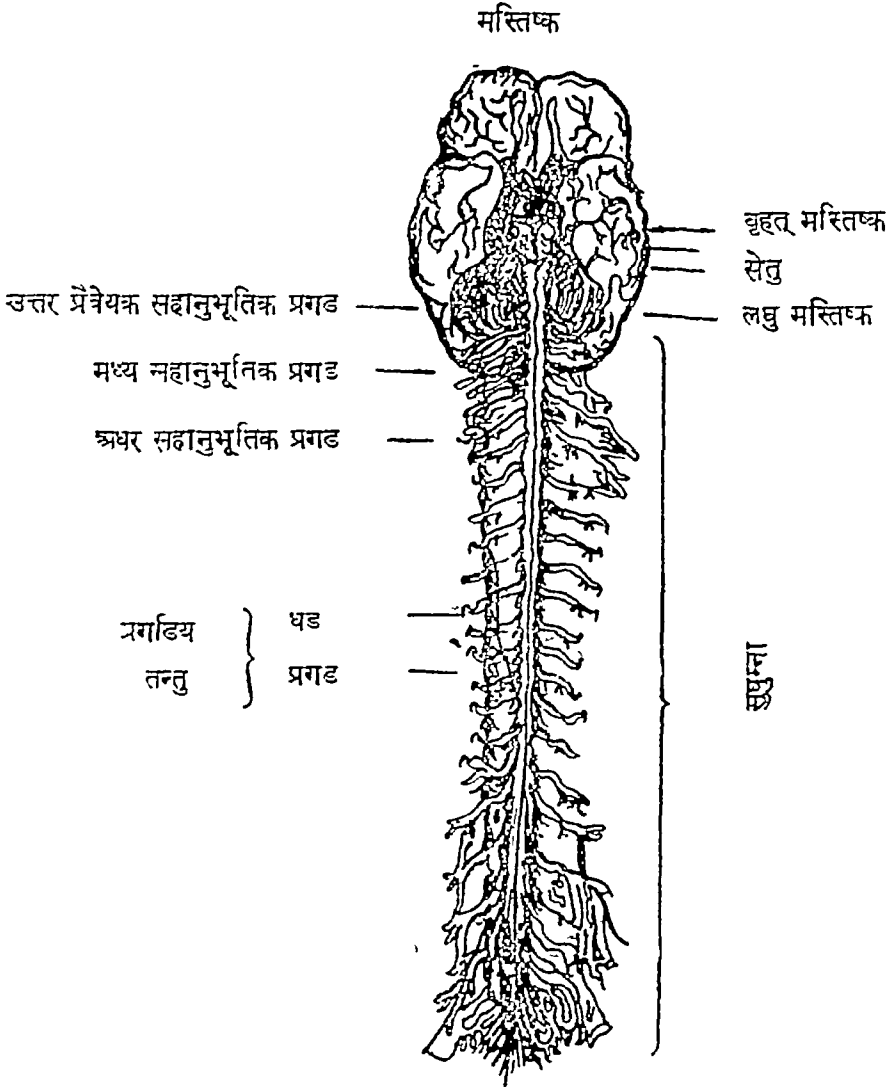
चित्र नं० ३—मानव मस्तिष्क एवं सुषुम्ना का चित्र

लम्बाई लगभग अठारह इञ्च है। इससे स्नायु-तन्तुओं (Nerve fibers) के इकतीस जोडे निकलते हैं जो सुषुम्ना के दोनों ओर से इससे जुडे हुए हैं और वहीं से निकलकर ये सारे शरीर में फैले हैं।

प्रतिक्षेपों (Reflexes) का संचालन एवं नियन्त्रण सुषुम्ना के द्वारा ही होता है। प्रतिक्षेप एक सरलतम मानसिक क्रिया है जिसका संचालन एवं

नियन्त्रण के लिए केवलज्ञानवाही स्नायुओं (Afferent or sensory nerves), गतिवाही स्नायुओ (Efferent or motornerves), मेरुदण्ड रज्जु या सुषुम्ना (Spinal Cord), तथा मांसपेशियाँ एवं पिण्डों (Muscles & Glands) को आवश्यकता पड़ती है। स्नायु-प्रवाह, ज्ञानवाही-स्नायुओं से होता हुआ सुषुम्ना एवं गतिवाही-स्नायु में प्रवेश करता है तथा गतिवाही-स्नायु-प्रवाहों को मांसपेशियों एवं पिण्डों में लाती है जिससे ये क्रियाशील होते हैं। ज्ञानवाही, सुषुम्ना तथा गतिवाही-स्नायुओं से प्रशस्त मार्ग को प्रतिक्षेप-धनु (Reflex-arc) की संज्ञा दी जाती है। इस मार्ग से गुजरकर स्नायु-प्रवाह मासपेशियों एव पिण्डों तक पहुँचता है जिससे ये क्रियाशील हो जाते हैं। इसके क्रियाशील होने से उत्पन्न क्रिया को प्रतिक्षेप-क्रिया (Reflex action) कहते हैं।*
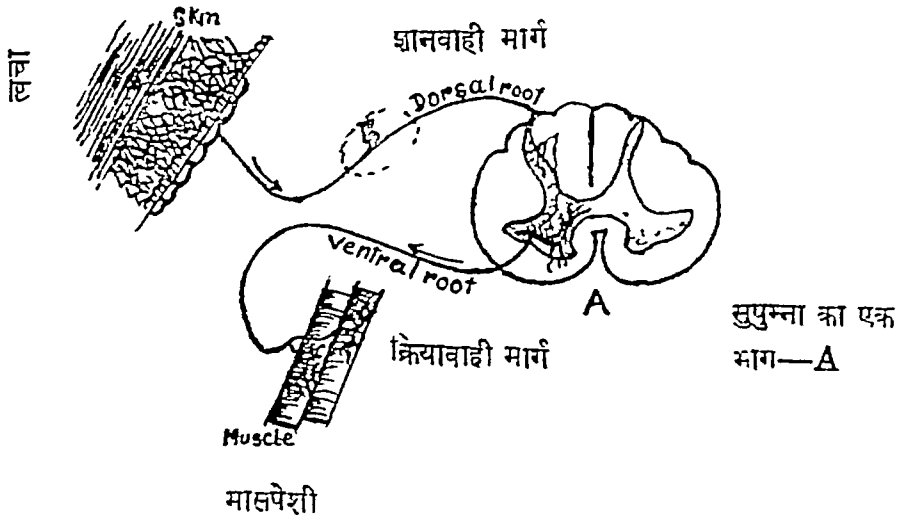
चित्र नं० ४—प्रतिक्षेप धनु का एक चित्र

(२) मस्तिष्क (Brain)

(क) पृष्ठ मस्तिष्क(Hind brain)

१. सुषुम्नाशीर्ष (Medulla oblongata) सुषुम्ना (Spinal cord) के ऊपरी भाग को सुषुम्नाशीर्ष कहते हैं। यह एक इञ्च लम्बा है। यह सुषुम्ना और मस्तिष्क के उस भाग से जो सुषुम्नाशीर्ष से ऊपर है एक सम्बन्ध स्थापित करता है। साथ ही साथ मस्तिष्क के अन्दर पाये जानेवाले स्नायु-क्रेनियल नर्भ (Cranial nerve) या

---

* (For details see chapter 15)
प्रतिक्षेप क्रिया की विशद व्याख्या के लिए पन्द्रहवें अध्याय को देखें।

कपालिक नाड़ी के अन्दर तथा बाहर जाने का एक मार्ग है। यह नभ मस्तिष्क के प्रमुख स्नायुओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। यह शरीर के प्राण-रक्षा सम्बन्धी सभी क्रियाओं (All vital functions of the body) का सञ्चालन एवं नियन्त्रण करता है। उदाहरण के लिए, साँस लेने की क्रिया तथा शरीर के भीतर रक्त प्रवाह (Blood circulation) आदि क्रियाएँ सुषुम्नाशीर्ष से ही सञ्चालित एव नियन्त्रित होती हैं। इसकी सभी क्रियाएँ अचेतन (Unconsious) होती हैं।

२. सेतु (Pons)—यह सुषुम्ना-शीर्ष के ठीक ऊपर है। यह लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाये रखता है। साथ-ही-साथ बृहत मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाना तथा लघु एवं बृहत मस्तिष्क को मस्तिष्क के अन्य भागों से मिलाना इसका प्रमुख कार्य है।

३. लघु मस्तिष्क (Cerebellum)—इसका स्थान मस्तिष्क में वृहत मस्तिष्क (Cerebrum) के नीचे है। यह दो अर्द्ध खण्डों में विभक्त है। एक ओर अनेक स्नायु-तन्तुओं (Nerve fibers) के द्वारा इसका सम्बन्ध सुषुम्नाशीर्ष से रहता है तथा दूसरी ओर सेतु के द्वारा इसका सम्बन्ध वृहत मस्तिष्क मे हैं। यह 'वेस्टिबुलर' नामक ग्राह्यकेन्द्रिय जो कान में है (Vestibular receptor in ear) उससे स्नायु-तन्तुओं के जरिए सम्बन्ध स्थापित करता है। शारीरिक-सन्तुलन (Equilibrium) का ग्राह्यकेन्द्रिय वेस्टिबुलर (Vestibular) ही है। अतः स्पष्ट है कि सन्तुलन का ज्ञान का होना लघु मस्तिष्क पर ही निर्भर है। यह सभी प्रकार की शारीरिक गतियों को सङ्गठित रूप से सञ्चालित एवं नियन्त्रित करता है। फलस्वरूप शरीर की विभिन्न क्रियाओं में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस प्रकार शरीर को सन्तुलित रखने का भार लघु मस्तिष्क पर ही है। लघु मस्तिष्क के अभाव या उसमे क्षति पहुँचने के कारण प्रायः यह देखा जाता है कि प्राणी अपना शारीरिक सन्तुलन (Bodily balance) खो बैठता है।

जिन क्रियाओं का सञ्चालन अनेक मांसपेशियों (Muscles) के सहयोग से होता है उनका नियन्त्रण भी लघु मस्तिष्क करता पाया जाता है। जैसे—आदत (Habitual actions). पशुओं के मस्तिष्क का जब यह भाग निकाल दिया गया तो उनका व्यवहार अत्यन्त ही असन्तुलित हो गया। चलना-फिरना उनके लिए असम्भव हो गया। ऐसे प्रयोगों से स्पष्ट है कि लघु मस्तिष्क कुशल एवं जटिल क्रियात्मक क्रियाओ (Skilled

and complex motor activities) को व्यवस्थापूर्वक क्रम में रखता है।

(ख) मध्य मस्तिष्क (Mid brain)

१. फ्लोर (Floor)—नीचली सतह जिसे फ्लोर (Floor) कहते हैं, एक रास्ता है, जहाँ से ज्ञानवाही (Sensory) स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क के ऊँचे केन्द्रों की ओर जाता है। गतिवाही (Motor) स्नायु-प्रवाह इसी रास्ते से होकर मस्तिष्क के नीचले केन्द्रों में पहुँच पाता है।
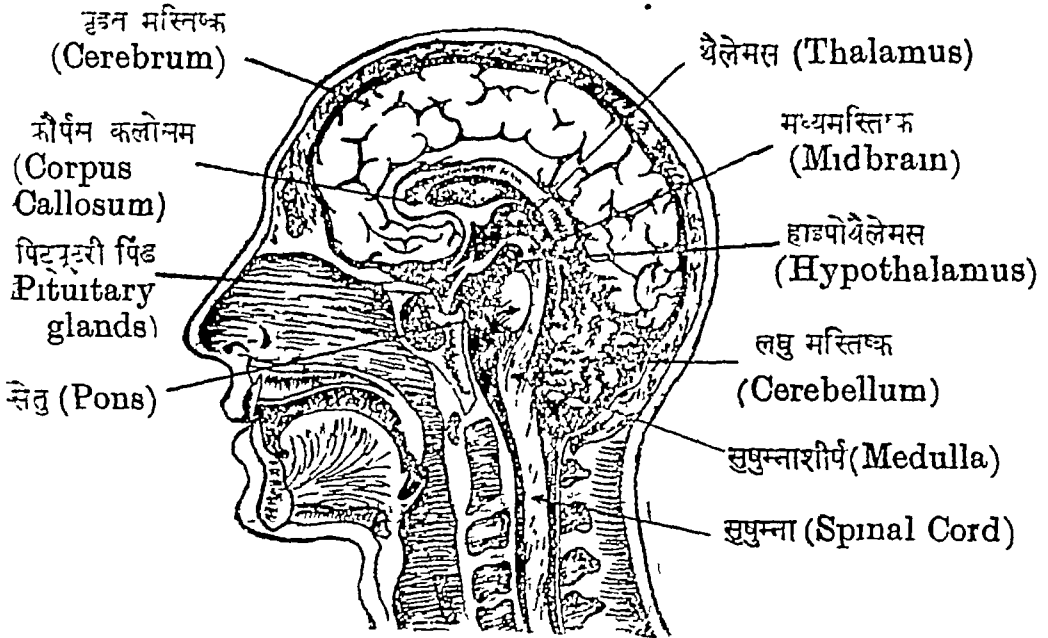
चित्र नं० ५—मानव मस्तिष्क के दाहिने बृहन्मस्तिष्कीय अर्द्धखण्ड का चित्र जिसमें इसके मुख्य अंगों का स्थान दिखलाया गया है।

२. ऊपरी सतह (Roof) या टेकटम (Tectum)—टेकटम को दो जोड़े ज्ञानवाही केन्द्रों (Two pairs of sensory centres) में विभक्त किया गया है। एक का नाम 'सुपीरियर कोलीकुली' (Superior Colliculi) तथा दूसरे का नाम 'इनफीरियर कोलीकुली' (Inferior Colliculi) है। सुपीरियर कोलीकुली द्वारा देखने की क्रिया सम्पन्न होती है। देखने की क्रिया को सम्पन्न करने का प्रधान मस्तिष्क-केन्द्र औक्सीपीटल लोब (Occipital lobe) है। इस प्रधान केन्द्र के अभाव में देखने की क्रिया को सञ्चालित एवं नियन्त्रित सुपीरीयर कोलीकुली (Superior Colliculi) करता है। इनफीरीयर कोलीकुली (Inferior Colliculi) पर सुनने की क्रिया आश्रित है।*

* It is a primitive centre for hearing

(ग) अग्र मस्तिष्क (Fore brain)

१. थैलेमस (Thalamus)—लघु मस्तिष्क के सामने तथा बृहत मस्तिष्क के नीचे के भाग को थैलेमस की संज्ञा दी गई है। स्नायु-प्रवाहों को अपने-अपने नियत स्थान में भेजने का कार्य-भार थैलेमस पर ही है। साथ-ही-साथ प्रयोगों ने स्पष्टतया दिखला दिया है कि साधारण प्रकार के सीखने की क्रिया (Simple forms of learning) थैलेमस पर ही निर्भर करती है।

२. हाइपोथैलेमस (Hypothalamus)—इसे दो भागों मे विभाजित किया गया है। पहला, पीछे तथा बगल का भाग (Posterior lateral portion), और दूसरा, अगला तथा बीच का भाग (Anterior and the central portion)। पीछे तथा बगल का भाग सहानुभूतिक-मण्डल (Sympathetic system) के कार्यों के सम्पन्न होने मे सहयोग देता है। बिजली के क्रेंट द्वारा इस भाग को उत्तेजित करने के तदुपरान्त व्यक्ति मे दिल की धड़कन का बढना (Increase in Heartbeat), रक्त-चाप में वृद्धि (Rise in blood-pressure), आमाशय का सिकुड़ना (Stomach contraction) आदि परिवर्त्तन हुए। इससे स्पष्ट है कि हाइपोथैलेमस का यह भाग सहानुभूतिक मण्डल की क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहयोग देता है। हाइपोथैलेमस का दूसरा भाग उपसहानुभूतिक (Para sympathetic) मण्डल के कार्यों को सम्पन्न करता है। इस तरह हाइपोथैलमस (Hypothalamus) स्वतः सञ्चालित क्रियाओं के सम्पन्न करने मे सहयोग देता है। इसके अतिरिक्त और जो अन्य क्रियाएँ इसके द्वारा सम्पादित होती हैं वे निम्नांकित हैं;

(क) स्नायु तन्तुओं को सुषुम्नाशीर्ष (Medulla oblongata) की ओर भेजकर साँस लेने की क्रिया (Respiration) के संचालन में सहयोग देना।

(ख) शरीर के ताप (Body Temperature) को ठीक रखना।

(ग) शारीरिक पाक-क्रिया का संचालन, विशेषकर चर्बी (Fat), कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) तथा जल की पाचन क्रियाओं की व्यवस्था (Regulation of metabolism particulary of fat, Carbohydrate and Water).

(घ) यौन समागम की प्रवृत्ति एवं प्रक्रियाओं का नियन्त्रण।

(ङ) संवेगात्मक व्यवहारों के संचालन का यह एक प्रमुख केन्द्र है।

(च) हाइपोथैलमस पिट्यूटरी पिण्ड (Pituitary gland) से भी सम्बन्धित हैं। पिट्यूटरी पिण्ड के सहारे हाइपोथैलमस हमारे शरीर के अन्दर के अन्तःस्रावी पिण्डो (Endocrine glands) की क्रिया को भी बहुत कुछ नियन्त्रित करता है।

३. ऑलफैक्टरी वल्व्स या घ्राण-कन्द (Olfactory bulbs)—यह नाक के ठीक ऊपर स्थित है। जो प्राणी विकास की सीढ़ी पर अधिक दूर तक नहीं बढ़े हैं उनमें इसकी गिनती मस्तिष्क के ऊँचे केन्द्रों में होती है। पर विकास के फलस्वरूप बृहत मस्तिष्क इसका स्थान ले लेता है। अतः अधिक विकसित प्राणी में इसका महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

४. वेसल गैंगलीया (Basal ganglia)—विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्राणियों में यह भाग बहुत पहले विकसित हुआ था। इसके दो भाग हैं। पहला तो वह, जो धारीदार है, और दूसरा, जिसमें धारी नहीं है। धारीवाले भाग को कारपस-स्ट्रीएटम (Corpus Striatum) कहते हैं। मस्तिष्क के इस भाग का प्रधान कार्य शारीरिक मुद्राओं या स्थितियों को नियन्त्रण करना (To maintain posture of the organism) है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के व्यवहारों का सम्यक् सन्तुलन बनाये रखना (Co-ordination of movement) भी इसका काम है।

५. सेरीब्रल हेमिसफेयर (Cerebral Hemisphere)—इसके प्रमुख भाग क्रमशः (क) सेरीब्रल कौर्टेक्स (Cerebral cortex)—यह मस्तिष्क का ऊपरी भाग है, तथा इस भाग में धूसर द्रव्य (Grey matter) देखने को मिलता है।

(ख) उजले स्नायु-तन्तु के समूह जो कौर्टेक्स (Cortex) के निचले भाग म है।

(ग) कौर्पस कैलोसम (Corpus Callosum), यह उन स्नायु तन्तुओं का समूह है जो कौर्टेक्स (Cortex) के दो भागों के बीच स्थित है।

बृहन्मस्तिष्कीय वल्क या सेरीब्रल कौर्टेक्स (Cerebral cortex) जटिल मानसिक क्रियाओं का उद्गम स्थान है। ऊपरी सतह को देखने से मस्तिष्क का यह भाग कहीं दबा हुआ तो कहीं उभरा हुआ होता है। दबे हुए भाग को दरार या फीसर, या सलकस (Fissure or Sulcus) कहते हैं। इस तरह के दो दबे हुए भागों के बीच के भाग

को 'गाइरस' (Gyrus) की संज्ञा दी जाती है। उभरे हुए भाग को 'रीजेज' (Ridges) कहते हैं।

'कौर्टेक्स' (Cortex) को दरारें या फीसर (Fissure) दो भागों में बाँटती हैं। दो भागों में बाँटनेवाली लम्बी दरार का नाम 'रोलैण्डो' (Rolando or Central) या मध्य दरार है। एक दूसरी दरार या फीसर भी है जिसे 'सिलभीयस' (Fissure of Sylvius) की दरार कहते हैं। इन दरारों के द्वारा कॉर्टेक्स (Cortex) चार भागों में विभक्त है—

(क) अग्र खण्ड या फ्राँटल लोब (Frontal Lobe)।

(ख) पार्श्व कपाल खण्ड या पैरीटल लोब (Parietal lobe)।

(ग) शंख खण्ड या टेमपोरल लोब (Temporal Lobe)।

(घ) पृष्ठ कपाल खण्ड या ऑक्सीपीटल लोब (Occipital lobe)।

रोलैंडो (Rolando)
पार्श्व कपाल खड (Parietal lobe)
अग्र खड (Frontal lobe)
पृष्ठ कपाल खड (Occipital lobe)
अग्र साहचर्य-क्षेत्र
Frontal Association Area
Somaesthesis
सिलभीयस (Sylvius)
दृष्टि-क्षेत्र (Vision)
श्रवण-क्षेत्र (Audition)
सेरीबेलम (Cerebellum)
शख खड (Temporal lobe)
सेतु (Pons)
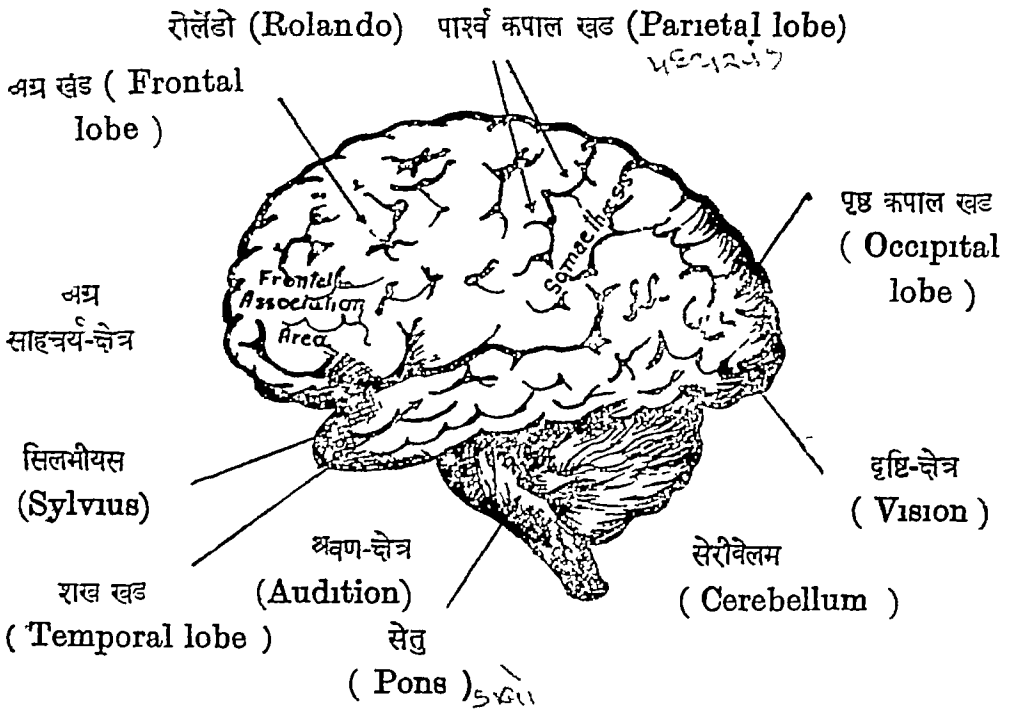
चित्र न० ६—मानव मस्तिष्क का बाँया वृहन्मस्तिष्कीय अर्द्ध-खण्ड जिसमें इसके विभिन्न भाग तथा उनकी क्रियाओं का क्षेत्र दिखलाया गया है।

भिन्न-भिन्न भागों द्वारा विभिन्न क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। जैसे, आक्सीपीटल लोब (Occipital lobe) द्वारा देखने की क्रिया, पैरीटल लोब (Parietal lobe) द्वारा स्पर्श तथा फ्रांटल लोब (Frontal lobe) बोलने-चालने, सोचने आदि की क्रियाएँ तथा टेमपोरल लोब (Temporal lobe) सुनने की क्रिया को नियन्त्रित करता है।

(२) थोरैकिको लम्बर (Thoracico-Lumber) जिसे सहानुभूतिक (Sympathetic system) भाग कहते हैं। सहानुभूतिक भाग के अन्तर्गत निम्नांकित अवयवों का उल्लेख किया जाता है—१. यकृत (Liver) २. हृदय (Heart) ३. आमाशय (Stomach) ४. प्लीहा (Spleen) ५. एड्रीनल पिण्ड (Adrenal gland)। उप सहानुभूतिक भाग के अन्तर्गत जिन अवयवों का समावेश होता है वे हैं आँख की उपतारा (Iris of the eye), लार-ग्रन्थि (Salivary gland), स्वेद-ग्रन्थि (Sweat gland), अँतड़ियाँ (Intestine), मूत्राशय (Bladder) आदि।
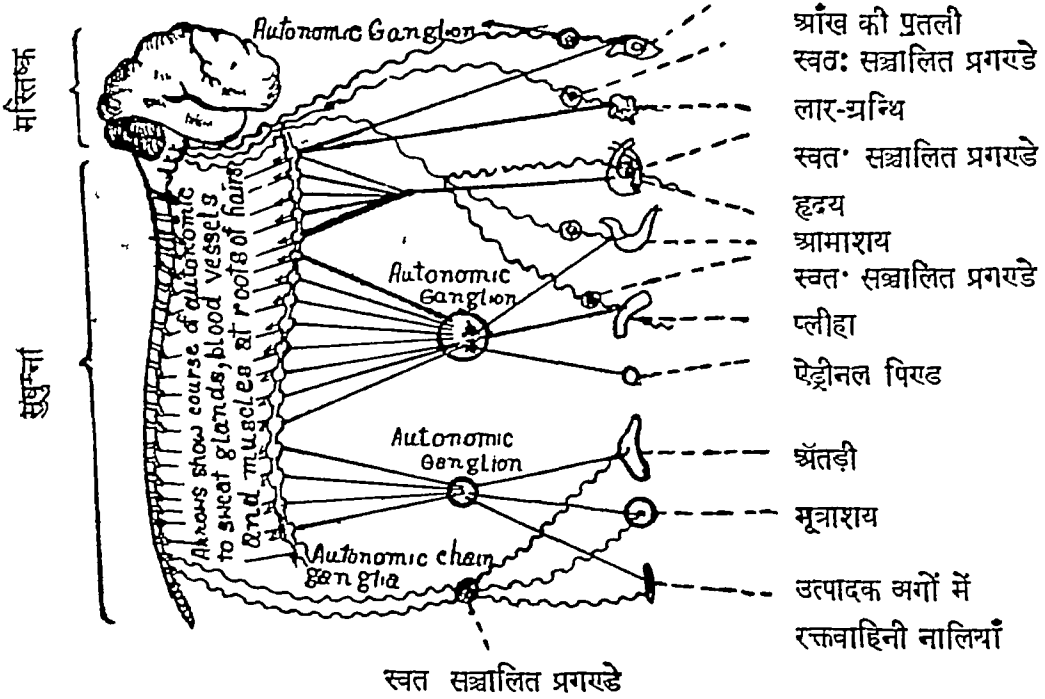
चित्र नं० ७—स्वतः सञ्चालित स्नायु-मण्डल के विभिन्न अङ्गों का चित्र
(Autonomic ganglion—स्वतः सञ्चालित प्रगण्डे Antonomic chain ganglion—स्वतः सञ्चालित प्रगण्डों का समूह)

कुछ ऐसे भी अवयव हैं जिनका सम्बन्ध स्वतः सञ्चालित स्नायु-मण्डल के दोनों भागों से है—जैसे, हृदय, स्वेद ग्रन्थि आदि। इन दोनों भागों के कार्यों की प्रधान विशेषता है कि जब एक के कार्य में वृद्धि होती है तो दूसरा भाग अपेक्षाकृत शिथिल पड़ जाता है। अतः कहा गया है कि एक भाग दूसरे भाग का विरोधी है। सहानुभूतिक भाग की कार्यवाही में तीव्रता आने के फलस्वरूप मनुष्यों में निम्नांकित परिवर्त्तन पाये जाते हैं—

दिल की धड़कन का बढ़ना, लहू की दौरान का अधिक होना, साँस की गति का अधिक होना आदि। उपर्युक्त परिवर्त्तनों के अतिरिक्त उप सहानुभूतिक भाग की कार्यवाही शिथिल पड़ जाती है जिससे पाचन-क्रिया में गड़बड़ो आ जाती है। अँतड़ियों एवं किडनी या गुर्दा (Kidney) के भी कार्यों में शिथिलता आ जाती है। संवेग की अवस्था में सहानुभूतिक भाग के कार्यों में तीव्रता तथा उपसहानुभूतिक भाग के कार्यों में शिथिलता आ जाती है। इसका विशेष उल्लेख संवेग की चर्चा करते समय आगे किया जायगा।

स्वतः संचालित स्नायु-मण्डल पूर्ण रूप से मस्तिष्क के प्रभावों से वंचित नहीं है। मस्तिष्क में स्थित हाइपोथैलमस (Hypothalamus) स्वतः संचालित स्नायु-मण्डल द्वारा संचालित कार्यों को संगठित (Integrate) एवं पृथक (Differentiate) करता है।

नीचे की तालिका से स्वतः संचालित स्नायु-मण्डल (Autonomic nervous system) के विभागों को अत्यधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।
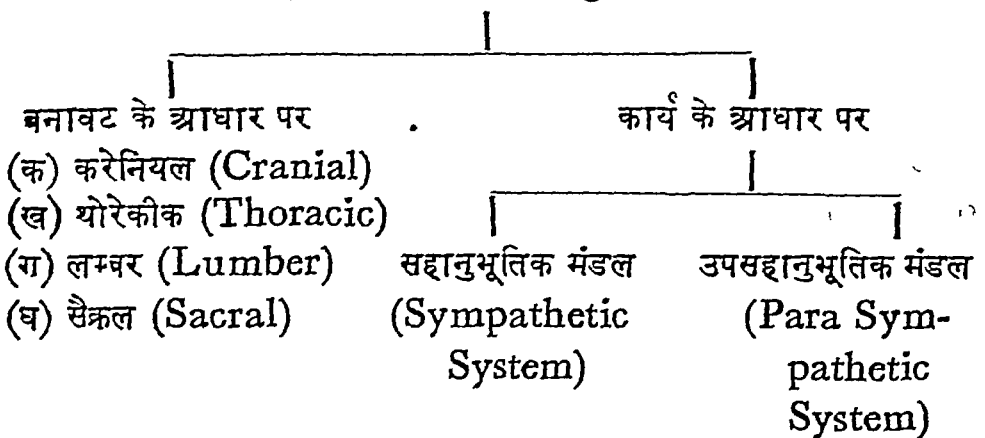
कर्मेन्द्रियाँ या प्रभावक (Motor organs or Effectors)

शरीर के प्रत्येक कार्य को संपादित करने के लिए कर्मेन्द्रियाँ हैं जिन्हें प्रभावक (Effectors) भी कहते हैं। प्रभावक प्रधानतः दो हैं—(क) मांसपेशियाँ (Muscles) तथा (ख) पिण्ड (Glands) या ग्रन्थि।

स्नायु-तन्तु जो 'सेरीबरल हेमीस्फेयर' (Cerebral Hemisphere) मे पाये जाते हैं उनका प्रधान कार्य मस्तिष्क के एक भाग को दूसरे भाग के साथ मिलाना है। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप ही स्नायु प्रवाह अपने नियत स्थान पर पहुँच पाते हैं।

बृहत मस्तिष्क (Cerebrum) दो अर्द्ध खण्डों मे बँटा है—(१) दाहिना एवं (२) बाँया। शरीर के बाँए भाग की सभी चेतन तथा अचेतन क्रियाओं का संचालन एवं नियन्त्रण करना बृहत मस्तिष्क के दाहिने अर्द्ध खण्ड पर निर्भर है। ठीक इसी प्रकार शरीर के दाहिने भाग की सभी क्रियाओं का संचालन तथा नियन्त्रण बाँया अर्द्ध खण्ड करता है। इसके दो और भाग किये गये हैं। वे हैं ऊपरी भाग एवं नीचला भाग। ऊपरी भाग शरीर में गर्दन से नीचे की शारीरिक अवयवों में होनेवाली क्रियाओं का नियन्त्रण करता है, जैसे पैर का पंजा, अँगूठा, हाथ की अँगुलियाँ, जाँघ आदि की मासपेशियों की क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। नीचला भाग गर्दन से ऊपर के शारीरिक अवयवों की क्रियाओं का संचालन करता है। जैसे— आँख, नाक, कान आदि की क्रियाएँ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है बृहत् मस्तिष्क का विशिष्ट भाग विशेष प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करता है, अतः इसके किसी एक विशेष भाग को क्षति पहुँचाने से उस भागपर आश्रित कियाओं को भी क्षति पहुँचती है। 'मन' (Munn) ने अपनी पुस्तक' 'साइकोलॉजी" ("Psychology") में इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से बतलाया है कि ज्ञानात्मक क्रियाओं के नियन्त्रण एवं सम्पादन के लिए मस्तिष्क में पैरीटल या पार्श्व कपाल खण्ड (Parietal), टेमपोरल या शख कपाल-खण्ड (Temporal) एवं ऑक्सीपीटल या पृष्ठ कपाल खण्ड (Occipital lobe) हैं। इसी प्रकार गतिवाही (Motor) क्रियाओं के सञ्चालन एवं नियन्त्रण के लिए रोलैंडो (Rolando) के फीशर या दरार के अग्र भाग से लगे हुए कुछ पीरामिड (Pyramid) की शक्ल (△) के कोश (Cells) हैं। इन कोशों (Cells) को पीरामिडल-कोश (Pyramidal cells) और वह स्थान जहाँ ये विशेष रूप से पाये जाते हैं उसे 'पीरामिडल ट्रैक (Pyramidal Track) कहते हैं। साहचर्य क्रियाएँ (Associative functions) जैसे, सोचना, चलना, सीखना आदि के नियन्त्रण एवं सञ्चालन के हेतु मस्तिष्क में विशेष भाग है जिसे ज्ञानवाही (Sensory), गतिवाही

(Motor) एवं अग्र साहचर्य भाग (Frontal association area) की संज्ञा दी जाती है। पर प्रश्न है, क्या एक विशेष भाग से सम्पन्न होनेवाली क्रिया उस भाग को नष्ट करने के बाद विलीन हो जाती है? विचारों में विभिन्नता पायी जाती है। कुछ विचारक ऐसे भी ह जो कहते हैं कि एक अंग विशेष के विनष्ट होने पर उस पर आश्रित क्रियाएँ कभी भी मनुष्यों में नहीं उत्पन्न होती हैं। परन्तु प्रयोगों ने इस विचार का खण्डन किया है। उनके मतानुसार एक विशेष अंग का विशेष व्यवहार को कार्यान्वित करने मे विशेष हाथ रहता है, पर मस्तिष्क के अन्य भाग भी समग्र रूप से (As a whole) काम करते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क के किसी एक भाग या केन्द्र का प्रभाव दूसरे भाग या केन्द्र पर पड़ता है। साथ-ही-साथ किसी एक भाग या केन्द्र के क्रियाशील होने पर अन्य सभी भाग उसकी सहायता करते हैं। "फ्रैंज" और "लैशले" (Franz and Lashley) ने भी कबूतर 'चूहे' बिल्ली, एवं बन्दरों पर कई प्रयोग किये। इन प्रयोगों से स्पष्ट हो गया कि मस्तिष्क के सभी भागों मे समक्षमता (Equipotentiality) पायी जाती है। एक भाग में क्षति होने पर मस्तिष्क का अन्य भाग जिसमें किसी भी तरह की चोट नहीं पहुँची है वह क्षति पहुँचे भाग के कार्य का सम्पादन कुछ समय बाद करने लगता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मस्तिष्क का एक भाग दूसरे भागों से अत्यधिक सम्बद्ध है।

३. स्वतः सञ्चालित स्नायु-मण्डल (Autonomic Nervous System) —

स्वतः सञ्चालित स्नायु-मण्डल के विभाजन का आधार बनावट या उसकी कार्यवाही हो सकती है। बनावट की दृष्टि से इसे चार भागों में विभक्त किया गया है :—

(क) क्रेनियल (Cranial)
(ख) थोरैकिक (Thoracic)
(ग) लम्बर (Lumber) तथा
(घ) सैक्रल (Sacral)

कार्यवाही की दृष्टि से इसे दो भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) क्रेनियो-सैक्रल (Cranio-Sacral) जिसे उपसहानुभूतिक भाग (Para sympathetic) तथा

(क) मासपेशियाँ (Muscles)

१. धारीदार मांसपेशियाँ (Striped Muscles)

२. चिकनी मासपेशियाँ (Smooth Muscles)

मांसपेशियों (Muscles) को भी दो भागों मे विभक्त किया गया है, एक धारीदार मांसपेशियाँ (Striated or Striped or Skeletal or Voluntary muscles) तथा दूसरी चिकनी मांसपेशियाँ (Smooth or Unstriated, or Involuntary or Visceral muscles) । इन दोनों मांसपेशियों द्वारा दो भिन्न कार्य सपादित एवं नियन्त्रित होते हैं। आत्मप्रेरित या ऐच्छिक गतियों (Voluntary movements) का संचालन और नियन्त्रण धारीदार मांसपेशियाँ करती हैं। धारीदार मांसपेशियाँ बाँह, पैर, गर्दन आदि जगहों में मिलती हैं। चिकनी मांसपेशियाँ अनात्मप्रेरित अथवा अनैच्छिक गतियों (Involuntary movements) का संचालन एवं नियन्त्रण करती हैं। चिकनी मांसपेशियाँ कण्ठ, पेट, अँतड़ी, मूत्राशय, स्वाँस लेने की इन्द्रिय, रुधिर वाहनी (Blood vessel) के अन्दर के भाग, सिलीयरी मांसपेशियाँ जो आँख में स्थित हैं, आदि, शरीर के आन्तरिक भागों में पायी जाती हैं।

चिकनी मांसपेशियों के प्रायः दो प्रधान कार्य हैं—(क) अन्तरावयवों के भार को सँभालना (To support the walls of the viscera) । (ख) अन्तरावयवों का संचालन (To move the content of the visceral object) ।

खाद्य-पदार्थ जो मुँह के रास्ते आमाशय में प्रवेश करता है उसे पेट में ले जाने का कार्य-भार चिकनी मांसपेशियों पर ही है। इसके अतिरिक्त स्वाँस क्रिया, पाचन क्रिया, तथा रक्त-प्रवाह आदि अनैच्छिक क्रियाओं का नियन्त्रण एवं संपादन चिकनी मांसपेशियाँ ही करती हैं। मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि चिकनी मांसपेशियों द्वारा उन कार्यों का संपादन होता है जिन पर मनुष्य का अपना नियन्त्रण (Control) नहीं होता है। पर यह विचार सम्यक् एवं यथार्थ नहीं है। प्रयास के द्वारा अनैच्छिक गतियों पर भी नियन्त्रण (Control) लाया जा सकता है। जैसे—मल-मूत्र त्यागने की क्रिया। यह चिकनी मांसपेशियों द्वारा संपादित एक

अनैच्छिक क्रिया है। परन्तु इस क्रिया को बालकों में शिक्षा द्वारा नियन्त्रित होते देखा जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि दोनों प्रकार की मांसपेशियाँ वातावरण से सफल अभियोजन एवं जीवन-रक्षा क लिए आवश्यक हैं।

(ख) पिण्ड या ग्रन्थि (Glands)—पिण्डों का प्रधान कार्य स्राव-(Secretions) बहाव है। इन स्रावों द्वारा ऐसे अनेक कार्य सम्पादित होते हैं जो शरीर को ठीक (in order) रखने में मदद देते हैं, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि ये वातावरण से सफल अभियोजन करने में मदद पहुँचाते हैं।

पिण्ड दो प्रकार के होते हैं।

पिण्ड (Glands) या ग्रन्थि

(१) बहिःस्रावी या नालिका पिण्ड या ग्रन्थि (Duct glands)

अन्तःस्रावी या नालिकाहीन पिण्ड या ग्रन्थि (Ductless or Endocrine glands)

१. बहिःस्रावी पिण्ड या ग्रन्थि (Duct gland)—शरीर के अन्दर कुछ ऐसे पिण्ड हैं जिनके स्राव एक नालिका (Duct) द्वारा पिण्ड के बाहर निकलकर शरीर की सतह पर आ जाते हैं। अश्रु, लार तथा पसीना आदि क्रमशः अश्रु, लार एवं स्वेद-ग्रन्थि के ही स्राव हैं, जो बहिःस्रावी या नालिका पिण्ड के सुन्दर उदाहरण हैं। इन पिण्डों का स्राव रुधिर में जाकर नहीं मिलता है।

१. अन्तःस्रावी या नालिकाहीन पिण्ड (Endocrine or Ductless glands)—ये शरीर के अन्दर स्थित ऐसे पिण्ड हैं जिनका स्राव इनसे निकलकर सीधा रुधिर में मिल जाता है। बहिःस्रावों की तरह यह किसी नलिका द्वारा नहीं गुजरता है। ऐसे पिण्डों के स्रावों को "हॉरमोन्स" (Hormones) की संज्ञा दी गई।

अन्तःस्रावी पिण्डों के अन्तर्गत आनेवाले पिण्ड निम्नलिखित हैं—

(क) चुल्लिका-ग्रन्थि (Thyroid), (ख) पीयूष ग्रन्थि (Pituitary) (ग) उपचुल्लिका (Parathyroid), (घ) थाइमस (Thymus),

(ङ) एड्रीनल (Adrenal), (च) यौन-ग्रन्थि (Gonads) (छ) पिनेल (Pineal), (ज) क्लोम (Pancreas) या पैंक्रीएस।

इन पिण्डों या ग्रन्थियों का प्राणी के मानसिक क्रियाओ एवं व्यवहारों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके संवेग पर इन पिण्डो के स्राव (हॉरमोन्स) का प्रभाव विशेष पड़ता है जिसका वर्णन व्यक्तित्व के अध्याय मे विस्तारपूर्वक आगे किया जायगा।

———

छठा अध्याय

संवेदना

(Sensation)

संवेदना की परिभाषा—संवेदना की विशेषताएँ अथवा उसके गुण—गुण क्या है ? संवेदना के गुण—प्रकार, तीव्रता, स्पष्टता, सत्ताकाल, व्याप्ति या विस्तार तथा स्थानीय चिह्न ।

संवेदना के प्रकार—विशिष्ट संवेदनाएँ, अन्तरावयव की संवेदनाएँ तथा गति या स्नायविक संवेदनाएँ ।

विशिष्ट संवेदनाएँ—दृष्टि संवेदना—आँख की बनावट तथा इसकी कार्यवाही—रंग एवं रंगहीन संवेदना तथा दृष्टि संवेदना के उद्दीपक—आँख के स्नायुपेशीय संस्थान—

श्रवण संवेदना—कान की बनावट तथा उसकी कार्यवाही—स्वाद, गन्ध तथा त्वक् संवेदनाएँ—

अन्तरावयवी तथा गति या स्नायविक संवेदनाएँ ।

उत्तेजना के ग्राह्येन्द्रियों के सम्पर्क में आने से स्नायु-प्रवाह (Nerve impulse) उत्पन्न होता है । यह स्नायु-प्रवाह सुषुम्ना से होता हुआ मस्तिष्क के विशेष भाग में पहुँचता है, जिससे एक मानसिक क्रिया की उत्पत्ति होती है । यह क्रिया अत्यन्त सरल होती है । उत्तेजना के इस प्रारम्भिक एवं सरलतम ज्ञान को ही, जो एक मानसिक क्रिया है, मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना की संज्ञा दी है । संवेदना की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी गई हैं—

(क) यह एक प्रारम्भिक ज्ञान है ।

(ख) यह ज्ञान सरल होता है। उत्तेजना का यहाँ आभासमात्र या परिचयमात्र ही मिल पाता है।

(ग) उत्तेजना का अर्थपूर्ण ज्ञान का यहाँ अभाव होता है।

संवेदना के स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि संवेदना भी ज्ञान है जिसमें जिस वस्तु की जानकारी होती है वह जानकारी अर्थहीन है। पर प्रश्न है—क्या किसी वस्तु की जानकारी अर्थहीन हो सकती है? प्रश्न विवादास्पद है। कुछ लोगों ने तो परिचयमात्र (Simple awareness) को ही अर्थ की संज्ञा दी है। इन लोगों के अनुसार संवेदना अर्थहीन नहीं हो सकती। हम सभी वातावरण में रंग, आवाज मात्र से अभिज्ञ नहीं होते वरन् एक वस्तु से हमारा परिचय होता है जिसमें एक प्रकार का रंग चढ़ा होता है अथवा उस वस्तु की जानकारी होती है जिससे आवाज निकलती है। अतएव, जिसे संवेदना की संज्ञा दी जाती है वह पूर्णतः कल्पना-मात्र (Pure myth) है। सचमुच ऐसी सवेदना का आभास कभी भी नहीं होता जिसमें अर्थ का परिचय न हो। परन्तु ज्ञानात्मक मानसिक अवस्था (Cognitive mental state) के विश्लेषण की सहूलियत के लिए संवेदना की चर्चा की जाती है। अतः संवेदना के अध्ययन का महत्त्व सैद्धान्तिक (Theoretical) ही अधिक है। आजकल जेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक संवेदना के अध्याय का सैद्धान्तिक मूल्य (Theoretical value) भी कुछ नहीं आँकते।

संवेदना ज्ञानेन्द्रियों के क्रियाशील होने से होती है। यह जन्मजात होती है। अतः बालकों की आँखों में प्रकाश-लहरों को ग्रहण करने, कानों को ध्वनि-तरंगों को ग्रहण करने इत्यादि की क्षमता जन्म काल से ही रहती है। एक प्रश्न जो प्रायः उठता है वह यह है कि क्या विशुद्ध संवेदना (Pure sensation) जिसमें उत्तेजना का परिचयमात्र ही हो, उसका अर्थ बिलकुल न हो, सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर संवेदना की परिभाषा पर निर्भर है। संवेदना का अर्थ अगर उत्तेजना की जानकारी या परिचयमात्र (Awareness) से हो तो विशुद्ध संवेदना नाम की कोई चीज नहीं होती है। ऐसी चीज न तो शिशु में पायी जाती है न उस बच्चे में ही जिसने अभी-अभी जन्म लिया है। पर संवेदना का अर्थ समुचित ज्ञान के अभाव को लिया जाय तो कहा जा सकता है कि विशुद्ध संवेदना शिशु में होती है। शिशु वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाओं को ग्रहण करता है। सांसारिक पदार्थों के ज्ञानाभाव में उत्तेजनाओं की

बाहरी रूप-रेखा से अभिज्ञ तो वह हो जाता है, परन्तु उनके अन्यान्य पहलुओं तथा भीतरी गुणावगुणों से वह अनभिज्ञ रहता है। स्पष्ट है कि यह होते हुए भी बच्चों में, जैसा कि कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है, अर्थरहित, विशुद्ध संवेदना रहती है। यहाँ, इस प्रकार, विशुद्ध संवेदना के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य दो बातें हुईं—(१) उत्तेजना की नवीनता और (२) व्यक्ति की उत्तेजना से अनभिज्ञता।

संवेदना की विशेषताएँ अथवा उसके गुण
(Attributes of Sensation)

गुण क्या है ?—(What is an attribute ?)—किसी वस्तु का गुण उस वस्तु की वह विशेषता है, जिसके अभाव में वह वस्तु कायम नहीं रह सकती। प्रत्येक वस्तु के अपने अलग-अलग गुण हुआ करते हैं। इन गुणों के कारण ही एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न जान पड़ती है। वस्तु के इस गुण को विशिष्ट गुण (Special quality) की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ—सूर्य का गुण है ताप, चाँद का गुण है शीतलता। ताप के अभाव में सूर्य तथा शीतलता के अभाव में चाँद का कोई अस्तित्व ही नहीं। मनुष्य में उसकी चिन्तनशीलता (Rationality) उसका गुण है जिसके अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता।

संवेदना के गुण (Attributes of sensation)—संवेदना के अपने कुछ विशिष्ट गुण हैं, जिनके अभाव में संवेदना सम्भव नहीं। टिचेनर (Titchener) ने संवेदना के चार गुणों का उल्लेख किया है।

(क) प्रकार (Quality)
(ख) तीव्रता (Intensity)
(ग) स्पष्टता (Clearness)
(घ) सत्ताकाल (Duration)

इन चार गुणों के अतिरिक्त स्टाउट (Stout) ने दो और गुणों की चर्चा की है। वे हैं, व्याप्ति या विस्तार (Spreadoutness or Extensity) तथा स्थानीय चिह्न (Local sign).

(क) प्रकार (Quality)—दो संवेदनाओं में भिन्नता उनके विशिष्ट गुण के कारण होती है, जैसे—घ्राण-संवेदना (Olfactory sensation), त्वक्-संवेदना (Cutaneous sensation) से भिन्न होती है। ऐसी भिन्नता को जातीय या सामान्य भिन्नता (Generic

difference) कहते हैं। पर एक ही वर्ग की संवेदनाओं मे भिन्न-भिन्न तरह की संवेदनाएँ होती हैं। जैसे—दृष्टि संवेदना के अन्तर्गत लाल या हरे रंग की संवेदनाओं में अन्तर है। लाल में ही गहरे, फीके, हल्के आदि अनेक प्रकार के लाल रंगों की संवेदना हो सकती है। एक ही वर्ग की संवेदनाओं के अन्तर्गत हुई विभिन्नता को विशिष्ट भिन्नता (Specific difference) की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार संवेदना मे अन्तर या तो सामान्य गुण (Generic quality) या विशिष्ट गुण (Specific quality) के कारण होता है। सामान्य गुणों के अन्तर का मूल आधार उत्तेजित ज्ञानेन्द्रियों (Stimulated sense organs) का अन्तर है। सामान्य गुण के आभास के लिए कम-से-कम दो ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजित होने की आवश्यकता पड़ती है, जैसे कान के उत्तेजित होने से श्रवण-संवेदना तथा आँख के उत्तेजित होने से दृष्टि-संवेदना होती है। परन्तु विशिष्ट गुण के आभास के लिए एक ही ज्ञानेन्द्रिय की संवेदनशीलता (Sensitivity) की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—फीका, साधारण एवं गाढ़े, नीले रंग से उत्पन्न संवेदनाएँ आँखों में ही होती हैं। परन्तु इन भिन्न-भिन्न मात्राओं के एक ही रंग से उत्पन्न उत्तेजनाओं मे, आपस में विशिष्ट गुण का अन्तर होता है।

(ख) तीव्रता (Intensity)—संवेदना का दूसरा गुण तीव्रता है। कुछ संवेदनाएँ अधिक तीव्र होती हैं तो कुछ अधिक मन्द। रंग की संवेदना तीव्र या मन्द (Bright or dull) हो सकती है। श्रवण-संवेदना तेज या धीमा (Loud or faint) हो सकती है। स्वाद की संवेदनाओं में भी अन्तर पाया जा सकता है। उदाहरणार्थ—एक गिलास पानी में चार चम्मच चीनी मिलाकर उसके स्वाद को चखने से उत्पन्न संवेदना अवश्य ही भिन्न होगी अगर उतने ही पानी में आठ चम्मच चीनी मिलायी जाय और उसे चखकर देखा जाय। दोनों गिलासों के पानी मीठे लगेंगे परन्तु उनकी मिठास की संवेदना में अन्तर होगा। संवेदना में उत्पन्न ऐसे अन्तर को तीव्रता की भिन्नता कहते हैं। इसी प्रकार दृष्टि-संवेदना को देखें। मान लें कि आप एक कमरे में बैठे हैं। कमरे में एक "५ कैंडल पावर" (Five Candle power) का बल्ब जलाया जाता है। बल्ब के जलने से उत्पन्न प्रकाश-लहरें आप में दृष्टि-संवेदना उत्पन्न करेंगी। फिर उसी कमरे में और आपसे उतनी ही दूरी पर एक '२५ कैण्डल पावर' (Twenty Five Candle power) का बल्ब जलाया जाता है। इस

दूसरे बल्ब के जलने से भी आप में दृष्टि-संवेदना होगी। यहाँ संवेदना दृष्टि सम्बन्धी है परन्तु दोनों संवेदनाओं में अन्तर है। यह अन्तर तीव्रता के गुण के अन्तर के कारण है।

संवेदनाओं में तीव्रता के विशिष्ट गुण का अन्तर दो बातों पर निर्भर है। (१) उत्तेजना के स्वरूप और (२) उत्तेजित ज्ञानेन्द्रिय। एक तीव्र उत्तेजना, क्षीण उत्तेजना के अपेक्षाकृत ज्ञानेन्द्रिय विशेष के अधिक ग्राहक कोशों (Receptor cells) को उत्तेजित करती है। अतः एक क्षीण उत्तेजना से उत्पन्न संवेदना एक तीव्र उत्तेजना से उत्पन्न संवेदना से भिन्न होती है।

एक ही ज्ञानेन्द्रिय के अन्दर स्थित ग्राहक-कोशों (Receptor Cells) की संवेदनशीलता (Sensitivity) में अन्तर पाया जाता है। यही कारण है कि यदि समान तीव्रता की एक ही उत्तेजना का स्पर्श, एक बार व्यक्ति के होठ पर और दूसरी बार व्यक्ति की पीठ की त्वचा पर समान दबाव से किया जाय तो व्यक्ति दोनों समान तीव्रता की उत्तेजनाओं से उत्पन्न स्पर्श-संवेदना में अन्तर पाता है। यहाँ संवेदनाओं का यह अन्तर उत्तेजनाओं की तीव्रता पर निर्भर नहीं करता वरन् यह त्वचा ग्राह्यकेन्द्रिय के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित ग्राहक कोशों की सवेदनशीलता के अन्तर पर निर्भर करता है।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक कि स्पष्टता (Clearness) नामक कोई स्वतन्त्र गुण संवेदना में नहीं पाया जाता है। यह गुण तीव्रता गुण का ही एक अंग है।

(ग) सत्ताकाल (Duration)—सभी सवेदनाओं में सत्ताकाल का गुण निहित है। संवेदना या तो थोड़ी देर के लिए हो सकती है या बहुत देर तक। एक क्षण ही टिकनेवाली संवेदना देर तक रहनेवाली संवेदना से भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, एक घड़ी की घण्टी (Alarm) एक मिनट तक बजायी जाय और इसी घड़ी को व्यक्ति से पहली अवस्था इतनी ही दूरी पर रखकर फिर दो मिनट तक बजायी जाय तो दोनों तरह की आवाजों को जो व्यक्ति सुन रहा है उसमें उत्पन्न संवेदना एक नहीं होती है। यद्यपि घण्टी वही है, सुननेवाला भी वही है और दूरी भी वही है फिर भी संवेदनाओं में अन्तर है। जिस गुण के कारण यहाँ संवेदनाओं में अन्तर देखने को मिलता है उसे

संवेदना के सत्ताकाल का गुण कहते हैं। इसी प्रकार ललाट के अग्र भाग के एक वर्ग इञ्च हिस्से का स्पर्श उँगली से दस सेकेण्ड तक किया जाय, फिर उसी अग्र भाग को उतने ही दबाव के साथ उसी उँगली से बीस सेकेण्ड तक स्पर्श किया जाय तो उस व्यक्ति में उत्पन्न पहली अवस्था की संवेदना दूसरी अवस्था की संवेदना से, जबकि अपेक्षाकृत अधिक देर तक स्पर्श किया गया है, भिन्न होती है। संवेदनाओं के जिस गुण के कारण संवेदनाओं में ऐसी भिन्नता दिखाई पड़ती है उसे सत्ताकाल का गुण कहते हैं।

गुलाब छड़ी को आपके जीभ से पाँच सेकेण्ड तक स्पर्श कराया जाय और फिर उसी गुलाब छड़ी को दस सेकेण्ड तक जीभ के उसी भाग पर स्पर्श कराया जाय तो दो स्थितियों में किये गये स्पर्श से उत्पन्न संवेदनाओं में भिन्नता होती है। जिस गुण के आधार पर ये संवेदनाएँ आपस में भिन्न प्रतीत होती हैं उस गुण को सत्ताकाल का गुण कहते हैं। अतः यह निष्कर्ष हुआ कि एक क्षण टिकनेवाली संवेदना देर तक रहनेवाली संवेदना से भिन्न होती है। संवेदनाओं की यह भिन्नता संवेदना के सत्ता काल के गुण पर निर्भर है। सत्ता काल संवेदना का एक विशेष गुण है।

(घ) व्याप्ति या विस्तार (Extensity or Spreadoutness) का गुण—ललाट के अग्र भाग के एक वर्ग सेंटीमीटर सतह को तथा फिर अग्र भाग के चार वर्ग सेंटीमीटर सतह का स्पर्श किसी चीज से किया जाय तो इन स्पर्शों से दो भिन्न संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। ध्यान रहे कि एक वर्ग सेंटीमीटर जगह को हम जिस चीज से स्पर्श करते हैं दूसरी अवस्था में भी उसी वजन की दूसरी उसी प्रकार की चीज से स्पर्श कराते हैं जो पहली चीज से सिर्फ आकार में बड़ी है। चार वर्ग इञ्च की सतह के स्पर्श से उत्पन्न संवेदना एक वर्ग इञ्च के स्पर्श से उत्पन्न संवेदना से अधिक फैली हुई (Diffused or extensive) मालूम पड़ती है। संवेदनाओं की भिन्नता उनमें व्याप्ति के गुण के अन्दर के कारण हैं।

(ङ) स्थानीय चिह्न (Local sign)—प्रत्येक संवेदना शरीर के किसी-न-किसी भाग में होती है। अतः संवेदना का शरीर में स्थान निरूपण सम्भव है। उदाहरणार्थ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों का स्पर्श व्यक्ति की आँखों को बन्दकर समान रूप से किया जाय तो इस स्पर्श से व्यक्ति में विभिन्न संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति को

तुरत इस बात का आभास हो जाता है कि उसके शरीर के कौन से अंग-विशेष का स्पर्श किया गया है। जिस गुण के आधार पर उसे इन संवेदनाओं की विभिन्नता का आभास मिलता है उस गुण को संवेदनाओं के स्थानीय चिह्न (Local sign) का गुण रहते हैं।

संवेदनाओं में स्थानीय चिह्न का गुण इसलिए होता है कि एक ही ज्ञानेन्द्रिय क भिन्न-भिन्न ग्राहक कोशों का सम्बन्ध मनुष्य क बृहत् मस्तिष्क में बने उसके लिए विशिष्ट केन्द्र के भिन्न-भिन्न भागों से होता है।

संवेदना भाव तथा संवेग से भिन्न है। भिन्नता लानेवाला विशिष्ट गुण स्थानीय चिह्न ही है। संवेदना में स्थान निरूपण सम्भव है पर भाव (Feeling) तथा संवेग (Emotion) में स्थान निरूपण सम्भव नहीं। सुख या दुःख के भावों का अनुभव शरीर का कोई विशेष भाग नहीं करता वरन् उसकी अनुभूति सारे शरीर में समान रूप से होती है। इसी प्रकार क्रोध, भय अथवा प्रेम के संवेग को किसी एक अंग विशेष में निरूपित नहीं किया जा सकता है। इनका अनुभव करते समय हमारा सारा शरीर उत्तेजित हो जाता है। संवेदना और भाव के सम्बन्ध पर आगे भी प्रकाश डाला जायगा।

संवेदना के प्रकार (Kinds of sensation)—संवेदना ग्राहकेन्द्रियों पर निर्भर है। ग्राहकेन्द्रियों का स्थान शरीर के ऊपरी भाग, भीतरी हिस्सा या मांसपेशियों के अन्दर हो सकता है। इन ग्राह्यकेन्द्रियों को क्रमशः 'एक्सटेरियोसेप्टर' (Exteroceptor), 'इण्टेरियोसेप्टर' (Intero ceptor) एवं 'प्रोप्रियोसेपटर' (Proprioceptor) की सज्ञा दी जाती है। वाह्य ग्राहकेन्द्रियों (Exteroceptor) पर दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्वाद एवं त्वक् संवेदनाएँ निर्भर है। आन्तरिक ग्राहकेन्द्रियों (Intero ceptors) पर अन्तरावयवी सवेदना जैसे भूख की संवेदना तथा दो मांसपेशियों के जोड़ पर जहाँ प्रोप्रियोसेप्टरस (Proprioceptors) हैं गति (Movement) या स्नायविक (Muscular or Kinesthetic) संवेदना निर्भर करती है।

संवेदनाओं को समझने के लिए ज्ञानेन्द्रियों की बनावट एवं कार्यवाही (Structure and Functions of the sense organs) का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ प्रधानतः दृष्टि-संवेदना एवं श्रवण-संवेदना के ऊपर विचार करना अभीष्ट होगा।

संवेदना के प्रकार
(Kinds of Sensation)

१. वाह्य ग्राहकेन्द्रियो द्वारा प्राप्त सवेदनाएँ
(Sensations due to Exteroceptors)
या विशिष्ट सवेदनाएँ
(-Specific Sensation)

- दृष्टि-संवेदना (Visual Sensation)
- श्रवण-संवेदना (Auditory Sensation)
- घ्राण-संवेदना (Olfactory Sensation)
- स्वाद-सवेदना (Gustatory Sensation)
- त्वक्-सवेदना (Cutaneous Sensation)
    - दवाव (Pressure)
    - ताप (गर्म तथा ठंढा) (Temperature-Warm and Cold)
    - पीडा (Pain)

२. आन्तरिक ज्ञानेन्द्रियाँ द्वारा प्राप्त सवेदनाएं
(Sensations due to Interoceptors)

Visceral Sensation
(अन्तरावयवी संवेदना) जैसे भूख की सवेदना या
(अन्तरीन्द्रिय संवेदना)

३. प्रोपिरीयोसेपटरस से प्राप्त संवेदनाए
(Sensation due to Proprioceptors)
या
गति-सवेदना या स्नायविक सवेदनाएं
Muscular or Kinesthetic Sensation

१. मानव-आँख की बनावट तथा दृष्टि-संवेदना

(Structure of the Human Eye and Visual Sensation)

मानव-आँख की बनावट (Structure of the Human Eye)—विकासवाद (Evolution) पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि अत्यन्त प्रारम्भिक काल में आँख जैसी कोई विशेष ज्ञानेन्द्रिय प्रकाश को ग्रहण करने के लिए नहीं विकसित हो पायी थीं। प्रकाश की तरंगों का प्रभाव जीव के पूरे शरीर पर पड़ता था। फलस्वरूप वह अपने पूरे शरीर से प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता प्रकट करता था पर विकास के फलस्वरूप प्राणी में रंग-विन्दु (Pigmented Spot) शरीर के वाह्य भाग में वना। इसके विकास से प्राणी उजाला एवं अन्धकार के अन्तर को पहचान सकता था, पर इससे ज्यादा कुछ नहीं। न तो वह उसके समीप आनेवाले वस्तु के आकार, न रूप-रंग को ही पहचानने में समर्थ था। वाद में अक्षिपट (Retina) का विकास हुआ। अक्षिपट के विकास के फलस्वरूप प्राणी उत्तेजनाओं की पहचान अक्षिपट पर पड़े प्रतिबिम्ब (Image) के आधार पर करने लगा। अव प्रश्न है कि अक्षिपट पर उत्तेजनाओं का प्रतिबिम्ब (Image) कैसे पड़ता है? अक्षिपट के विकास के साथ-साथ एक ऐसे सस्थान (System) का विकास देखने को मिलता है जो सभी दिशाओं (Direction) में खास दूरी (Distance) पर स्थित वस्तुओं का प्रतिविम्ब अक्षिपट पर पहुँचाता है। इसी आकृति को डायोपट्रिक सिस्टम या संस्थान (Dioptric system) कहते हैं। इस आकृति के विकास के फलस्वरूप प्राणी एक ही दिशा में खास दूरी पर स्थित वस्तुओं को ही देख सकता था। धीरे-धीरे आँखों मे मांसपेशीय संस्थान (Muscular system) का विकास हुआ। इसके विकास के फलस्वरूप मनुष्य आँखों को इधर-उधर घुमा सकता है। साथ-ही-साथ भिन्न-भिन्न दिशाओं तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित वस्तुओं का प्रतिविम्ब अक्षिपट पर पहुँचाने में यह मांसपेशीय संस्थान (Muscular system) सफल हुआ। अतः विभिन्न दिशाओं में स्थित भिन्न-भिन्न स्थानों पर पड़े वस्तुओं को प्राणी सुविधापूर्वक देखने में समर्थ हुआ। इससे स्पष्ट है कि आँखों के विकास में पहले रंगविन्दु (Pigmented spot) फिर स्थिर डायोपट्रिक (Fixed dioptric system) और अन्त में मांसपेशीय (Muscular system) संस्थान जिसे गतिवाही

डायोपट्रिक संस्थान (Mobile dioptric system) की भी संज्ञा दी जा सकती है, विकसित हुए।

मनुष्यों की आँखें एक कैमरा (Camera) की तरह होती है। कैमरे में जिस प्रकार चित्र अंकित करने के लिए एक प्लेट (Plate) होता है, उसी प्रकार आँखों में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए अक्षिपट होती है। अब प्रश्न है प्रतिबिम्ब अक्षिपट तक कैसे पहुँच पाती है। प्रकाश आँख के उस खुले भाग से जिसे आँख की पुतली (Pupillary opening) कहते हैं प्रवेश करती है। आँख की पुतली छोटी या बड़ी होती रहती है। पुतली का छोटा या बड़ा होना प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर है। तीव्र प्रकाश आँख की पुतली को छोटा कर देता है जिससे थोड़ा ही प्रकाश ऊपर प्रवेश कर पाता है। परन्तु प्रकाश के क्षीण रहने पर पुतली बड़ी हो जाती है जिसमे आँखों में अधिक प्रकाश जा पाता है। आँखों की पुतली का छोटा या बड़ा होना 'उपतारा' (Iris) पर निर्भर है।

नेत्र-गोलक (Eye ball) में निम्नलिखित तीन तहें होती हैं जिनका नाम क्रमशः श्वेत-पटल (Sclerotic), मध्य-पटल (Choroid) तथा अक्षिपट (Retina) है।

(क) श्वेत-पटल (Sclerotic)—यह आँख का सबसे बाहरी तह है। यह बाहर से देखने में सफेद और कड़ा होता है। यह आँख को चारों तरफ से घेरे हुए है। आँख के सामने वह भाग जिसे 'कनीनिका' (Cornea) कहते हैं पारदर्शी (Transparent) है। यह बाहर से दीखनेवाला नेत्र का उभरा भाग है। इसके सिवा श्वेत-पटल का कोई भी भाग पारदर्शी नहीं होता। इसका प्रधान कार्य 'लेंस' (Lens) तथा उपतारा (Iris) की रक्षा करना है।

(ख) दूसरा आवरण मध्य पटल (Choroid) है। यह प्रायः काले और भूरे रंग का होता है। इसके आगे के भाग को उपतारा (Iris) कहते हैं, जो कनीनिका (Cornea) के कुछ पीछे होता है। इसका कार्य प्रकाश को ग्रहण करना है। कनीनिका और उपतारा के बीच की जगह में 'जलद्रव' (Aqueous humor) भरा है। उपतारा के मध्य में 'पुतली' (Pupil) है जिसके कार्यों की चर्चा की जा चुकी है। उपतारा एवं पुतली से लगे हुए पीछे लेंस (Lens) है। पुतली से जो प्रकाश आँखों में प्रवेश करता है उसे अक्षिपट (Retina) में यथास्थान पहुँचाने का कार्यभार लेंस को ही है। लेंस नजदीक की चीजों को देखने के लिए छोटा

तथा दूर की चीजो को बड़ा होकर देखता है। लेंस का छोटा या बड़ा होना इसके दोनों ओर लगे मांसपेशियों पर निर्भर करता है। इन्हें सिलियरी पेशियाँ (Ciliary muscles) कहते हैं। सिलियरी पेशियों के साथ-साथ कुछ और पतले-पतले तार जैसी मांसपेशियाँ सिलियरी पेशी से निकलकर
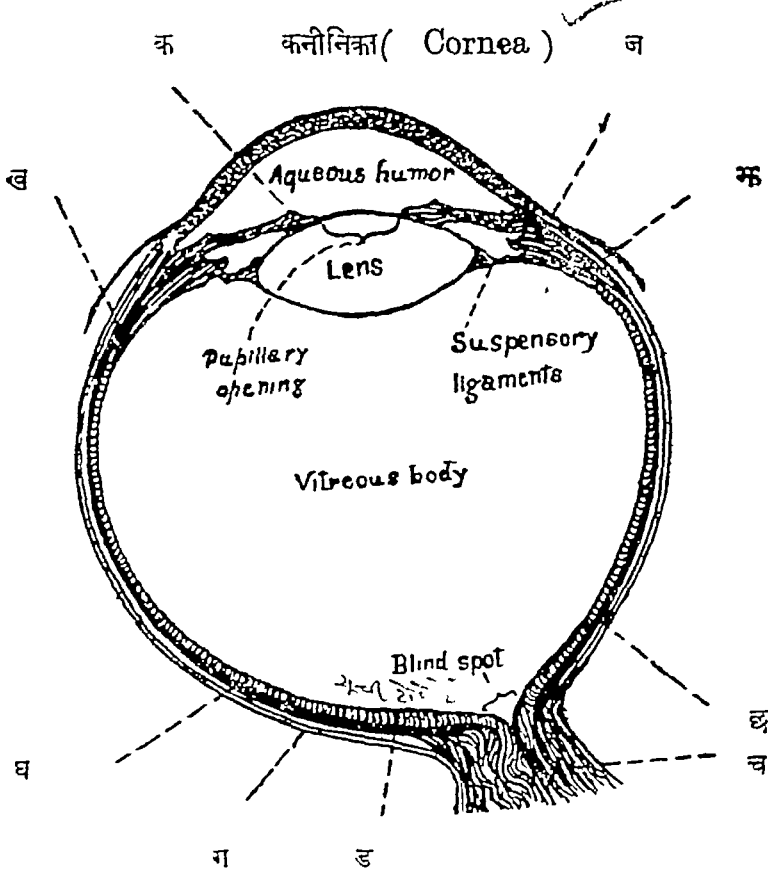
चित्र नं० ८—मानव नेत्र का चित्र

(क) उपतारा (Iris), (ख) अक्षिपट की बाहरी सीमा (Outer boundary of Retina, (ग) श्वेत पटल (Sclerotic coat), (घ) मध्य पटल (Choroid coat), (ङ) फोविया (Fovea), (च) दृष्टि-स्नायु (Optic nerve), (छ) अक्षिपट (Retina) (ज) सिलियरी पेशी (Ciliary muscle), (झ) अक्षिकला (Conjunctiva)।

[Suspensary ligament—ससपेंसरी लियामेंट, Lens—लेंस, Aqueous humor—जलद्रव, Pupillary opening—पुतली का छिद्र या खुला भाग, Vitreous body—काचद्रव, Blind spot—अन्ध-विन्दु ।]

लेंस मे मिले हुए हैं। ये मांसपेशियाँ साइकिल के स्पोक की तरह लगी हैं। इन्हें 'ससपेंशरी लियामेन्टस्' (Suspensory Ligaments) कहते हैं। इनका प्रमुख कार्य लेंस को उनकी जगह पर सन्तुलित रूप से

रखना है। लेंस के पीछे की जगह में 'काच-द्रव' (Vitreous humor) भरा है। यह एक पारदर्शी द्रव है। इसका कार्य आँख के स्वरूप या नेत्र गोलक (Eye ball) को कायम रखना है। आँखों के फूट जाने पर यह द्रव बाहर निकल आता है जिससे दृष्टि-संवेदना नहीं होती है।

(ग) तीसरा आवरण, 'अक्षिपट' (Retina) है। यह आँख का सबसे भीतरी एवं महत्वपूर्ण भाग है। इस आवरण की बनावट अत्यन्त ही जटिल है। यह आवरण दस परतों (Layers) से बना है। इन परतों की रूप-रेखा एक दूसरे से भिन्न हैं। इसकी नवीं परत (Ninth layer) में ऐसे ग्राहक-कोश (Receptor cells) हैं जिन्हें प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त है। इन आकृतियों को जिन्हें प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता है उन्हें 'दण्ड' (Rods) और 'सूची' (Cones) की संज्ञा दी जाती है। दण्डो की आकृति पतली और लम्बी होती है परन्तु सूचियों की आकृति अपेक्षाकृत मोटी एवं त्रिकोणात्मक होती हैं। अक्षिपट का अन्य भाग स्नायुओं से भरा पड़ा है। अक्षिपट के मध्य भाग को 'पीत-बिन्दु' (Yellow spot) कहते हैं। इस भाग के बीच में एक छोटी-सी धँसी हुई जगह है जिसे 'फोविया' (Fovea) कहते हैं। अन्धकार की संवेदना दण्ड के उत्तेजित होने से होती है परन्तु रंग को सूची ही ग्रहण करते हैं। फोविया में केवल सूची ही पाये जाते हैं। अतः यहाँ पर पड़े प्रतिबिम्ब सबसे अधिक स्पष्ट होते हैं। इस स्थान को मनोवैज्ञानिकों ने अति स्पष्ट दिखायी पड़नेवाला (Point of clearest vision) भाग कहा है। इस भाग में सूची की संख्या सात हजार के लगभग अनुमान लगाया जाता है। फोविया के बाहर दण्ड और सूची दोनों मिले-जुले रूप में पाये जाते हैं। जैसे-जैसे हम अक्षिपट के छोर की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे दण्डों की संख्या बढ़ती जाती है। अक्षिपट के अन्तिम छोर पर तो दण्डों की ही अधिकता है। पर यह जगह सूचियों से एकदम खाली नहीं है। अक्षिपट का वह हिस्सा जहाँ से दृष्टि-स्नायु (Optic nerve) निकलकर मस्तिष्क की ओर जाता है उस स्थान को 'अन्ध-विन्दु' (Blind spot) कहते हैं। यहाँ किसी भी तरह के ग्राहक-कोश नहीं होते हैं। अतः इस स्थान पर प्रकाश के आने से किसी प्रकार का प्रतिविम्ब नहीं बनता। परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा पाया है कि इस भाग पर भी अत्यधिक तीव्र प्रकाश तरंगों के छोड़े जाने पर इसमें भी कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं। फलतः यह कहना कि इस भाग में दण्ड एवं सूची

हैं ही नहीं यथाथ नहीं हैं। ये प्रतिक्रियाएँ प्रमाणित करती हैं कि अल्प संख्या में दण्ड एवं सूची इस भाग मे भी वर्तमान हैं।

प्रकाश तरंगें (Light waves) दृष्टि-संवेदना के उपयुक्त उद्दीपक हैं। मान लें कि हम बिजली के प्रकाश की संवेदना हो रही है। यह संवेदना इस प्रकार हो पाती है। सबसे पहले बिजली की रोशनी से उत्पन्न प्रकाश तरंगें पुतली के रास्ते आँखों में प्रवेश करती हैं। कनीनिका (Cornea), जलद्रव (Aqueous humors), पुतली (Pupil), लेंस (Lens), काँचद्रव (Vitreous body or humor) से होती हुई प्रकाश तरंगें अक्षिपट (Retina) पर आती हैं। अक्षिपट के भिन्न-भिन्न परतों से होती हुई यह दण्ड या सूची मे टकराती है। इसके टकराने से सूची एवं दण्डों में एक रासायनिक परिवर्तन (Chemical change) होता है। यह परिवर्तन स्नायु-प्रवाह (Nerve impulse) को उत्पन्न करता है। स्नायु-प्रवाह दृष्टि-स्नायु (Optic nerve) द्वारा मस्तिष्क के एक विशेष भाग 'ऑकसिपिटल लोब' (Occipital lobe) मे पहुँचते हैं, जिसके फलस्वरूप दृष्टि-संवेदना होती है।

रंग एवं रंगहीन संवेदना तथा दृष्टि संवेदना के उद्दीपक—दृष्टि-संवेदना को दो भागों में विभक्त किया गया है। पहला, 'रंग-संवेदना' (Chromatic) दूसरा, 'रंगहीन (Achromatic) संवेदना'। रंग-संवेदना की तालिका में लाल, हरा, नीला, पीला और इनके संयोग से उत्पन्न रंग आते हैं। उजले, काले एवं भूरे (Gray) की संवेदना को ही रंगहीन संवेदना कहते हैं। रंगहीन सवेदना दण्डों पर निर्भर है। रंग सवेदना सूची पर निर्भर है। प्रकाश तरंगों की लम्बाई पर भिन्न-भिन्न रंगों की संवेदना निर्भर करती है। जैसे—सबसे लम्बी प्रकाश तरंगों (760 Millimicrons) के आँख में प्रवेश करने मे लाल रंग की संवेदना प्राप्त होती है। अत्यधिक लम्बी प्रकाश तरंगों (760 M. M. से भी लम्बी) से उष्णता एवं अत्यधिक छोटी तरंगों (390 m. m.) से चमडे सूखते हैं।

आँख के स्नायुपेशी-संस्थान—स्नायुपेशियों के संस्थान (System) में उपतारा (Iris), सिलियरी मांसपेशियाँ (Ciliary muscles) आदि के अतिरिक्त निम्नलिखित मांसपेशियों की भी क्रियाशीलता देखी जाती है जो आँख की पुतली को क्रमशः ऊपर, नीचे तथा अगल-बगल आदि भिन्न-भिन्न दिशाओं में घुमाने में सहायता प्रदान करती हैं। इन मांसपेशियों के निम्नलिखित तीन प्रमुख जोड़े हैं—

(क) 'अधर एवं उत्तर ऋजु मांसपेशियाँ' या इनफिरियर और सुपिरियर रेक्टस मस्लस (Inferior and superior rectus muscles)

(ख) 'वाह्य एवं आन्तरिक ऋजु मांसपेशियाँ' या एक्सटरनल और इनटरनल रेक्टस मस्लस (External and Internal rectus muscles) ।

(ग) 'अधर एवं उत्तर तिर्यक मांसपेशियाँ' या इनफिरियर और सुपिरियर ऑवलिक मस्लस (Inferior and superior oblique muscles)

आँखों में भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियाँ (movements) होती हैं। मनुष्य अपनी आँखों को ऊपर-नीचे, अगल-बगल, भीतर-बाहर आदि दिशाओं में घुमा सकता है। आँखों की यह गति उपरोक्त मांसपेशियो पर निर्भर है। उत्तर ऋजु (सुपिरियर रेक्टस) आँखों को ऊपर की ओर, अधर ऋजु (इनफिरियर रेक्टस) नीचे की ओर, वाह्य ऋजु (एक्सटरनल रेक्टस) बाहर, आन्तरिक ऋजु (इनटरनल रेक्टस) भीतर तथा और अन्य प्रकार की होनेवाली गतियों को अधर एवं उत्तर तिर्यक (इनफिरियर एवं सुपिरियर ऑवलिक मस्लस) मांसपेशियाँ सम्पन्न करती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन मांसपेशियों का प्रधान कार्य आँखों को घुमाने में सहायक होना है।

(२) कान की बनावट तथा श्रवण-संवेदना
(Structure of the Human Ear and Auditory sensation)

श्रवण-संवेदना का उत्तेजक (Stimulus) ध्वनि-तरंग (Sound waves) है। यह उत्तेजना अन्तःकर्ण (Inner ear) में स्थित केशपेशियों (Hair cells) को प्रकम्पित करती है जिसके फलस्वरूप श्रवण स्नायु-प्रवाह (Auditory nerve impulse) उत्पन्न होकर मस्तिष्क के "टेमपोरल लोब" (Temporal Lobe) या शंख-खण्ड में पहुँचते हैं, जिसके कारण श्रवण-संवेदना होती है। इस प्रकार श्रवण-संवेदना की ग्राहकेन्द्रिय, केशपेशियाँ (Hair cells) हैं, जिन्हें कोर्टी की इन्द्रिय (Organ of corti) भी कहते हैं। श्रवण-संवेदना को स्पष्टतया समझने के लिए कान की बनावट (Structure of the ear) तथा उसकी कार्यवाही (function) की चर्चा आवश्यक है।

मनुष्य के कान को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) बाह्यकर्ण (Outer ear), (ख) मध्यकर्ण (Middle ear), तथा (ग) अन्तःकर्ण (Inner ear)।

(क) बाह्यकर्ण (Outer ear)—बाह्यकर्ण के दो भाग हैं—(१) वह जो बाहर की ओर निकला हुआ है इसे 'पिन्ना' (Pinna) या 'आरीक्ल' या ग्राहक-कोष्ठ (Auricle) भी कहते हैं। पहले यह विचार था कि पिन्ना ध्वनि-तरंगों को संग्रहित कर ग्रहण करने में सहायता पहुँचाता है। परन्तु बाद मे किये गये प्रयोगों से यह पता चला कि 'पिन्ना' को जड़ से काट देने पर भी श्रवण-संवेदना मे कोई क्षति नहीं पहुँचती हैं।
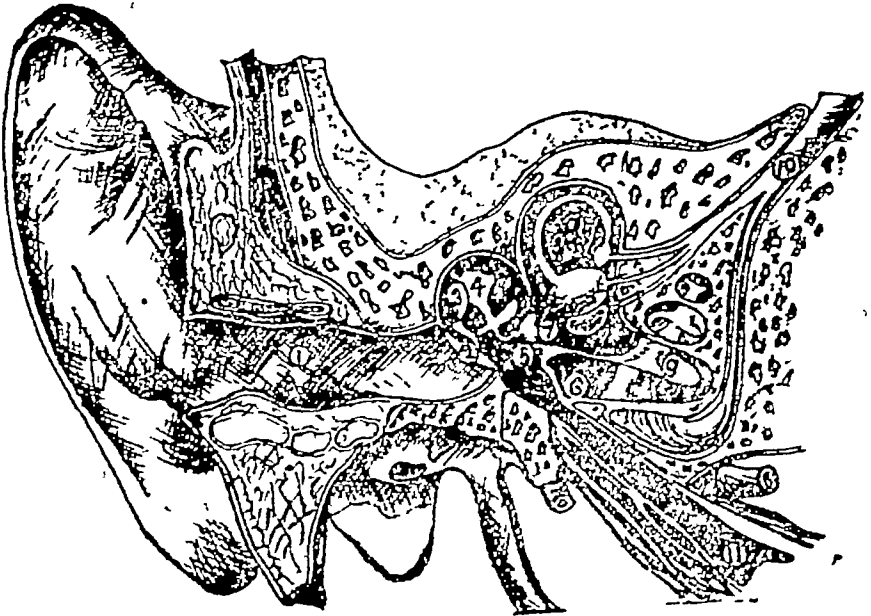
बाह्यकर्ण	मध्यकर्ण	अन्तःकर्ण	
१ कान की नली	२ कान का ढोल	६ गोलाकार खिड़की	१० श्रवण-स्नायु
	३ मुद्गर	७ अडाकार खिड़की	११ कठ-कर्णनली
	४ निहाई	८ अर्द्धचक्राकार नालियाँ	
	५ रकाब	९ 'कौक्लिया'	

चित्र न० ९—मानव-कर्ण

(२) बाह्यकर्ण का दूसरा भाग कर्णाञ्जलि या वाह्य मियटस (External meatus) है। यह पिन्ना की जड़ से शुरू होकर कर्ण-ढोल (Ear drum or Tympanum) तक फैली है। इसे कान की नली

(Auditory tube) भी कहते हैं। इसकी औसत लम्बाई पच्चीस मीलीमीटर है। यह बाहर से आए ध्वनि प्रकम्पन के कान के मध्य भाग में जाने का मार्ग है।

(ख) मध्यकर्ण (Middle ear)—कान के मध्य भाग की सीमा की शुरूआत कान की नली जहाँ आकर रुक जाती है, वहाँ से होती है। कर्ण-ढोल मध्यकर्ण का सबसे पहला भाग है जो 'मियटस' से जुड़ा हुआ है। 'मियटस' ध्वनि को कर्ण-ढोल तक पहुँचाती है। कर्ण-ढोल एक बहुत ही झिल्लीदार (membranic) पर्दा जैसा है। कर्ण-ढोल से सटी तीन हड्डियाँ हैं। इन हड्डियों का नाम क्रमशः मुद्गर (Hammer or malleus), निहाई (Anvil or Incus), तथा रकाब (Stirrup or Stapes) है। ध्वनि-तरंगें (Sound waves) कर्ण-ढोल को प्रकम्पित करती हैं। इसके प्रकम्पन के फलस्वरूप इससे सटी इन तीनों हड्डियों में भी कम्पन शुरू होता है। मुद्गर के प्रकम्पित होने से उससे लगे हुए निहाई में भी प्रकम्पन होता है जिसके परिणामस्वरूप रकाब जो निहाई से लगा हुआ है, वह भी प्रकम्पित हो उठता है। चूँकि रकाब, मध्यकर्ण की दूसरी सीमा अण्डाकार खिड़की (Oval window—'ओभल विण्डो') से लगा हुआ है, अतः वह प्रकम्पन जो सबसे पहले कर्ण-ढोल में उत्पन्न हुआ था वह क्रमशः मुद्गर, निहाई तथा रकाब से होता हुआ अण्डाकार खिड़की तक पहुँचता है।

मध्यकर्ण ध्वनि-तरंगों को श्रवण-संवेदना (Auditory sensation) के पर्याप्त उद्दीपक के रूप में परिवर्तित करता है।

एक सकरी नली, जिसे कण्ठ कर्ण-नली (Eustachian Tube) 'यूस्टेकियन ट्यूब' कहते हैं, कान के मध्य भाग से कण्ठ तक गई है। यह कान को कण्ठ से मिलाती है। इसका प्रमुख कार्य कर्ण-ढोल के बाहर एवं भीतर की हवाओं के दबाव को सन्तुलित रखना है। यदि कण्ठ कर्ण-नली से हवा बाहर निकाल ली जाय तो तीव्र ध्वनि से कर्ण-ढोल के फूट जाने की सम्भावना बढ़ जायगी।

(ग) अन्तःकर्ण (Inner ear)—यह अण्डाकार खिड़की (Oval-Window) से शुरू होकर 'कोर्टी-इन्द्रिय' (Organ of corti) एवं अर्द्धचक्राकार नाली (Semi circular canal) तक फैला है। यह कनपट्टी की हड्डी के भीतर स्थित है। अन्तःकर्ण की दीवार एक पतली झिल्ली से ढँकी रहती है जिसमें निरन्तर एक तरल पदार्थ भरा रहता

है। इसके ऊपरी भाग में पाये जानेवाले तरल पदार्थ का नाम अन्तर्लसीका या एण्डोलीम्फ (Endolymph) तथा जिस तरल पदार्थ पर 'एण्डोलिम्फ' आश्रित है उसे परिलसीका या पेरीलीम्फ (Perilymph) कहते हैं। अन्तःकर्ण के पूरे आकार (Structure) को "झिल्लीदार" "लेबरीन्थ" (Membraneous labrinth) तथा हड्डियों से बने भीतरी भाग को "हड्डीदार लेबरीन्थ" (Bony labrinth) की संज्ञा दी जाती है। अन्तःकर्ण के दो प्रधान भाग हैं—(१) अर्द्ध-चक्राकार नालियाँ (Semi-circular canals) जिनका सम्बन्ध हमारे शारीरिक सन्तुलन (Static sense) से है और दूसरा कौक्लिया (Cochlea) जो श्रवण-संवेदना के लिए सबसे प्रमुख भाग है।
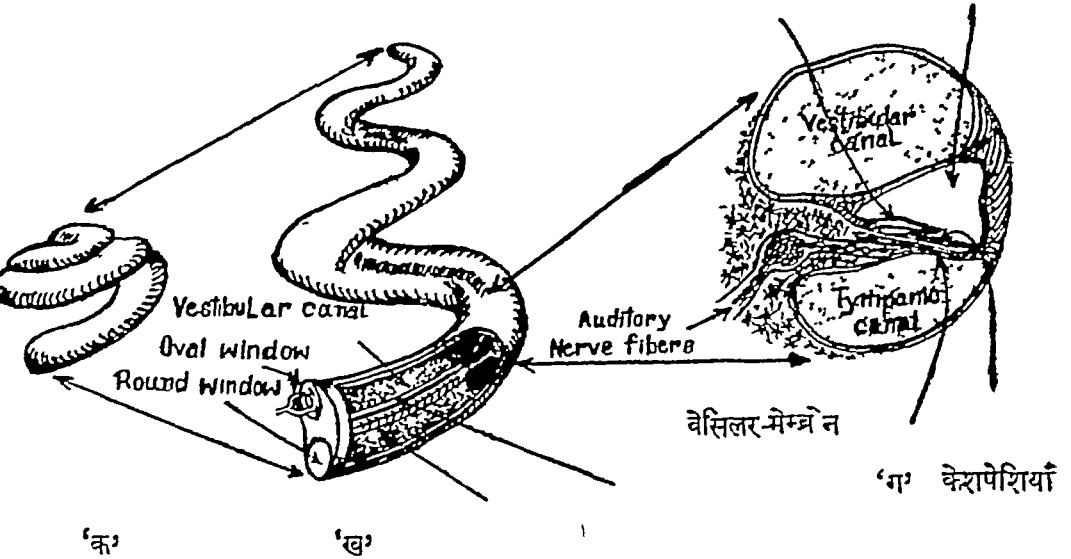
चित्र नं० १०—कौक्लिया का चित्र

'क'—कौक्लिया अन्त कर्ण में २।। लपेट के रूप में।

'ख'—कौक्लिया का बड़ा रूप जिसमें इसके विभिन्न आन्तरिक अंगो को दिखलायागया है।

'ग'—कौक्लिया का चित्र जिसमें कोर्टी-इन्द्रिय तथा केशपेशियाँ दिखलाये गये हैं।

[Vestibular canal—वेस्टिब्यूलर नाली, Oval window—अण्डाकार खिड़की, Round window—गोलाकर खिड़की, Auditory nerve fibers —श्रवण-स्नायु तंतु, Tympanic canal—टिम्पैनिक-नाली।]

'कौक्लिया' घोंघे के आकार जैसा है जिसमे ढाई (२½) लपेट देखने को मिलते हैं। इसे अत्यधिक रूप से स्पष्ट करने के हेतु इसका चित्र ऊपर दिया गया है।

कौक्लिया तरल पदार्थ से भरा पडा है। इसमें भी तीन प्रधान नालियाँ (Tubes) हैं—'एस्कालामेस्टिबुली' (Scala vestibuli) जिसकी शुरुआत 'अण्डाकार खिड़की' (Oval window) से होती है। 'एस्कालामेस्टिबुली' अर्थात् 'भेस्टिबुलर' कनाल या नाली (Vestibular canal) के द्वारा अण्डाकार खिड़की तक आये हुए ध्वनि-प्रकम्पन ग्रहण किये जाते हैं। यह नाली उस ध्वनि-प्रकम्पन को अण्डाकार खिड़की से लेकर कौक्लिया के शीर्ष तक पहुँचाती है। ऊपर पहुँचकर यह प्रकम्पन भेस्टिबुलर नाली से निकलकर 'टिमपैनिक नाली' (Tympanic canal) में जाती है। यह कौक्लिया की दूसरी प्रमुख नाली है। यह नाली कौक्लिया के शीर्ष से लेकर उसके आधार तक फैली है। भेस्टिबुलर एवं टिमपैनिक दोनों नालियों में एक तरल पदार्थ भरा हुआ है जिसे पेरीलिम्फ (Perilymph) या परिलसीका कहते हैं।

एक तीसरी नाली जिसे 'कौक्लिया नाली' (Cochlea canal) कहते हैं टिमपैनिक तथा भेस्टिबुलर नालियों के बीच स्थित है। इसमें भी एक तरल पदार्थ है जिसे 'एण्डोलिम्फ' (Endolymph) या अन्तर्लसीका कहते हैं। कौक्लिया नाली को 'वेसिलर-मेम्ब्रेन' (Basilar membrane) नामक एक झिल्लीदार परत, टिमपैनिक नाली से अलग करती है। टिमपैनिक नाली को बीच की नाली (Scala media) भी कहते हैं। वह झिल्लीदार परत जो भेस्टिबुलर नाली को टिमपैनिक नाली अर्थात् बीच की नाली (Scala media) से अलग करती है उसे 'टेक्टोरियल मेम्ब्रेन' या झिल्ली (Tectorial Membrane) कहते हैं। बीचवाली नाली में 'वेसिलर-मेम्ब्रेन (Basilar membrane) के ऊपर 'एण्डोलिम्फ' (Endolymph) नामक तरल पदार्थ के अन्दर अनेक केशपेशियाँ (Hair cells) फैली हैं। ये केशपेशियाँ इस तरल पदार्थ के अन्दर इस प्रकार फैलीं हैं जैसे जल के अन्दर सेवार फैले होते हैं। इन केशपेशियों को 'कोर्टी-इन्द्रिय' (Organ of corti) कहते हैं। कोर्टी ही श्रवण-सवेदना की सबसे प्रमुख ग्राहकेन्द्रिय है। कोर्टी में प्रकम्पन की शुरुआत भेस्टिबुलर तथा टिमपैनिक नालियों मे प्रकम्पन होने से होता है। यह प्रकम्पन बीच की नाली (Tympanic canal or Scala Media) में पहुँचकर उसके अन्दर स्थित तरल पदार्थ 'एण्डोलिम्फ' (Endolymph) में प्रकम्पन उत्पन्न करता है। जिस प्रकार जल में प्रकम्पन उत्पन्न होने से उसके अन्दर फैले हुए सेवार में भी प्रकम्पन

होना स्वाभाविक है उसी प्रकार एण्डोलिम्फ में प्रकम्पन उत्पन्न होने से उसके अन्दर सेवार जैसी फैली हुई केशपेशियों (Hais cells) में भी प्रकम्पन उत्पन्न होता है। इस प्रकम्पन के फलस्वरूप केशपेशियों में एक स्नायु-प्रवाह (Nervc impulse) उत्पन्न होता है जो श्रवण-स्नायु (Auditory nerve) के द्वारा निकल, बृहत मस्तिष्क के विशिष्ट भाग 'टेम्पोरल लोब' (Temporal lobe) या शंख-खण्ड में पहुँचता है। इसके पश्चात् ही व्यक्ति में श्रवण-संवेदना (Auditory sensation) होती है।

बृहत मस्तिष्क (Cerebrum) दो भागों में विभक्त हैं। प्रत्येक कान का सम्बन्ध इसके दोनों भागों से है जिससे किसी एक भाग में क्षति होने पर भी श्रवण-संवेदना का होना पूर्ण रूप से समाप्त नहीं होता। परन्तु दोनों भागों के विनष्ट हो जाने पर तो मनुष्य बहरा हो ही जायगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ध्वनि-तरंगों (Sound waves) को वाह्यकर्ण (Outer ear) एकत्र कर मियटस नली (Scala Meatus) के रास्ते मध्यकर्ण (Middle ear) में स्थित कर्ण ढोल (Ear drum) तक पहुँचाता है। कर्ण-ढोल के प्रकम्पित होने के फलस्वरूप उससे सटीं तीनों हड्डियों, मुद्गर, निहाई तथा रकाव (Hammer, Anvil, and Stirrup) में भी क्रमशः प्रकम्पन होता है। इन हड्डियों के प्रकम्पन के फलस्वरूप ध्वनि, श्रवण-सवेदना के पर्याप्त उद्दीपक के रूप में परिणत हो जाती है। हड्डियों के द्वारा यह प्रकम्पन अण्डाकार खिड़की जो रकाब से सटी हुई है तक पहुँचता है। पुनः वहाँ से लगे भेस्टिवुलर एवं टिमपैनिक नालियों (Vestibular and Tympanic canals) आदि से होता हुआ कौक्लिया (Cochlea) के कोर्टी (Organ of corti) नामक भाग मे पहुँचता है। इसके फलस्वरूप भेस्टिबुलर तथा टिमपैनिक नालियों में पाये जानेवाले तरल पदार्थ पेरिलिम्फ (Perilymph) में प्रकम्पन शुरू हो जाता है। यह प्रकम्पन कौक्लिया नाली की दीवार पर धक्का पहुँचाता है। इस धक्के के फलस्वरूप कौक्लिया नाली के अन्दर पाये जानेवाले तरल पदार्थ ऐण्डोलिम्फ (Endolymph) भी प्रकम्पित हो जाता है जिससे वेसिलर-मेम्ब्रेन (Basilar Membrane) पर स्थित सेवार के समान केशपेशियाँ (Hair cells) जिन्हें कोर्टी की केशपेशियों (Corti hair cells) की भी संज्ञा दी गई है, उत्तेजित होती हैं। इसके उत्तेजित होने से स्नायु-

प्रवाह, श्रवण-स्नायु (Auditory nerve) द्वारा मस्तिष्क के श्रवण-केन्द्र (Auditory centre) 'टेमपोरल लोब, (Temporal Lobe) या शंख-खण्ड में पहुँचता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्यों को सुनने की संवेदना होती है।

(३) स्वाद की संवेदना
(Gustatory Sensation)

जीभ की ऊपरी सतह पर फैली हुई स्वाद-कलिकाओं (Taste buds) को उत्तेजित करने से ही स्वाद की संवेदना होती है। इन्हें उत्तेजित करने के लिए तरल पदार्थों (Liquid substances) का होना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों ने चार प्रकार के स्वादों की अनुभूति का पता लगाया है, मीठा, कड़वा, खट्टा और नमकीन। जीभ के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न स्वादों को ग्रहण करते हैं। जीभ के अगले भाग के उत्तेजित होने से मीठे और नमकीन की संवेदना, जीभ की जड़ के उत्तेजित होने से कड़वे की संवेदना तथा जीभ के दोनों किनारों के उत्तेजित होने से खट्टे की संवेदना का अनुभव होता है। इनका वर्णन यहाँ विस्तार में करना अभीष्ट नहीं है।

(४) गन्ध या घ्राण-संवेदना
(Olfactory Sensation)

गन्ध को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ नासिका-रन्ध्र (Nasal cavity) के ऊपरी भाग में स्थित है जिन्हें घ्राण-कन्द (Olfactory bulbs) कहते हैं। गन्ध की संवेदना के लिए 'गैस' (Gas) ही समुचित उत्तेजना है जो हवा द्वारा नासिका-रन्ध्र में प्रवेश कर गन्ध की संवेदना उत्पन्न करती है। यहाँ इस पर विस्तार में प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है।

(५) त्वक्-संवेदना
(Cutaneous Sensation)

व्यक्ति को निम्नलिखित तीन प्रकार की त्वक् या त्वचा-सम्बन्धी संवेदनाएँ होती हैं—

(क) 'दबाव (Pressure or Touch) या स्पर्श की संवेदना', (ख) 'पीड़ा (Pain) की सवेदना' तथा (ग) 'ताप (Temperature) की संवेदना'।

ताप की संवेदना को दो भागों में विभक्त किया गया है। एक 'उष्णता की संवेदना' (Warmth) और दूसरी 'शीत (Cold) की संवेदना'।

(क) दबाव या स्पर्श की संवेदना 'मेसनर और पेशिनी' (Meissner and Pacini) नामक सूक्ष्म अंशों (Corpuscles) पर निर्भर है। ये त्वचा पर स्थित बालों (Hairs) की जड़ के साथ जो त्वचा के अन्दर होते हैं, जुड़े हैं। अतः त्वचा या उस पर बालों के स्पर्श-मात्र से ही दबाव या स्पर्श की संवेदना उत्पन्न होती है। दबाव के ग्राहक-कोशों, 'मेसनर एवं पेशिनी' का वितरण शरीर के सभी भागो में समान रूप से नहीं है। उँगलियों के छोर (Finger tips) पर ये अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। अतः इस भाग में शरीर के अन्य भागों के अपेक्षाकृत दबाव की संवेदनशीलता अधिक होती है।

(ख) पीड़ा (Pain) के ग्राहक-कोश को 'उपचर्म या एपीडरमीस' (Epidermis) कोश कहते हैं। इसे 'पीड़ा-विन्दु' (Pain spot) भी कहते हैं। ये शरीर की त्वचा में अन्य त्वक्-विन्दुओं, जैसे-दबाव या स्पर्श एवं ताप-विन्दुओं (cutaneous spots : Pressure and Temperature spots) की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। पीड़ा-विन्दुओं को उत्तेजित करने से पीड़ा की संवेदना होती है। शरीर के विभिन्न अगों में पीड़ा-विन्दुओं की मात्रा समान नहीं होती हैं, उदाहरणार्थ—आँख की कनीनिका (Cornea of the eye) में ये अत्यधिक मात्रा में पाये जाते हैं। भीतरी गाल मे इनका बिल्कुल अभाव रहता है। फलतः पीड़ा की संवेदना सबसे अधिक आँखों में होती है, परन्तु गाल के भीतरी हिस्से में पीड़ा की संवेदना होती ही नहीं।

पीड़ा-विन्दुओं को उत्तेजित करने से पीड़ा की सवेदना होती है। पीड़ा-विन्दुओं को तीन प्रकार से उत्तेजित किया जाता है—

(१) शरीर की त्वचा (Body skin) पर किसी नुकीली चीज का स्पर्श करने से,

(२) त्वचा को काटने से,

(३) अत्यधिक ठण्ढे एवं गर्म पदार्थ का स्पर्श त्वचा से करने से।

पीड़ा की संवेदना अन्य त्वक् सवेदनाओं की अपेक्षा देर से उत्पन्न होती है और देर से समाप्त होती है।

ताप की संवेदना के अन्तर्गत उष्णता (Warmth) एव शीत (Cold) की सवेदनाओं की चर्चा की जायगी। उष्णता की संवेदना

का ग्राहककोश 'रफीनी की अन्तिम शिखा' (End organ of Ruffini) है। यह त्वचा के बहुत ही भीतरी सतह पर स्थित है। इसे 'उष्णता-विन्दु' (Heat or Warmth spot) भी कहते हैं। गर्म पदार्थ का त्वचा से स्पर्श होने पर रफीनी की अन्तिम शिखा उत्तेजित हो जाती है, जिससे उष्णता की संवेदना होती है। तथा त्वक-विन्दुओं की अपेक्षा उष्णता-विन्दु की संख्या त्वचा में कम है। उष्णता की संवेदना भी पीड़ा की संवेदना की तरह धीरे-धीरे कम होती है और देर से समाप्त होती है।

शीत की संवेदना का ग्राहक-कोश 'क्रौसे का बल्ब' (The bulb of Krause) है। इस ग्राहक-कोश को 'शीत-विन्दु' (Cold spot) भी कहते हैं। इनकी संख्या उष्णता की विन्दुओं से अधिक है, दबाव-विन्दु के करीब-करीब समान है तथा पीडा-विन्दु से कम है। किसी ठण्डे पदार्थ से त्वचा के सम्पर्क के फलस्वरूप शीत-विन्दु उत्तेजित हो जाते हैं जिससे शीत की संवेदना होती है। शीत-विन्दु शरीर में समान मात्रा मे नहीं फैले हैं, कहीं इनकी मात्रा अधिक है तो कहीं कम। ये सबमे अधिक ललाट (Forehead) तथा आँखों की पलक के भीतरी भाग मे पाये जाते हैं। शीत-संवेदना, दबाव की संवेदना की तरह उत्तेजनाओं के त्वचा के सम्पर्क में आने से तुरत उत्पन्न होती है और उत्तेजना के हट जाते ही प्रायः समाप्त हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन मे यह स्पष्ट है कि त्वक-संवेदनाएँ विशिष्ट ग्राहक-कोशों के उत्तेजित होने पर निर्भर है। विशिष्ट ग्राहक-कोशों के उत्तेजित होने के फलस्वरूप स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होकर ज्ञानवाही-स्नायु (Sensory nerve) द्वारा मस्तिष्क के 'सोमेसथेटिक' (Somesthetic) भाग मे पहुँचते हैं। त्वक-संवेदनाओं के लिए मस्तिष्क का यह भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, चूँकि इसके अभाव में त्वक-सवेदनाएँ प्रायः नहीं होती हैं।

(६) अन्तरावयव-संवेदना
(Organic or Visceral Sansation)

संवेदनाएँ, साँस लेने की इन्द्रिय (Organ of respiration), हृदय (Heart), पाचन-क्रिया मे सलग्न अवयवों से भी उत्पन्न होती हैं। इन संवेदनाओं को अन्तरावयव-संवेदना (Visceral sensation) कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अनेक ग्राहक-कोश शरीर के भीतर

पाये जानेवाले अवयवों (Internal organs) में भी पाये जाते हैं। इन अवयवों में पाये जानेवाले ग्राहक-कोशों के उत्तेजित होने के फल-स्वरूपज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह निकल कर मस्तिष्क के विशेष भाग में जाता है। फलतः हमें अन्तरावयव-संवेदनाएँ होती है। इन ग्राह्य इन्द्रियों को 'इण्ट्रोसेपटरस' (Interoceptors) कहते हैं।

(७) गति-संवेदना
(Kinesthetic Sensation)

कुछ संवेदनाएँ, मांसपेशियों, जोड़ (Joint), टेनडन (Tendon) या मांस-रज्जु आदि के क्रियाशील होने पर होती हैं। ऐसी प्राप्त संवेदनाओं की उत्पत्ति मासपेशियों एवं 'टेनडनस' (Tendons) या मांस-रज्जु आदि में पाये जानेवाले ग्राहक-कोष्ठों के उत्तेजित होने से होती है। इन ग्राहक-कोशों को 'परोपिरियोसेपटरस' (Proprioceptors) भी कहते हैं। इन कोशों के उत्तेजित होने के फलस्वरूप ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क के सोमेसथेटिक (Somesthetic) भाग या चक्रपेशी संवेदन-क्षेत्र में पहुँचता है। फलतः व्यक्ति को गति की सवेदना होती है।

— — —

सातवाँ अध्याय

प्रत्यक्षीकरण

(Perception)

प्रत्यक्षीकरण क्या है? अर्थात् इसकी परिभाषा—प्रत्यक्षीकरण तथा संवेदना में अन्तर—प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप—प्रत्यक्षीकरण में संलग्न क्रियाएँ—ग्राहक, प्रतीकात्मक, भावात्मक प्रक्रियाएँ तथा ललित अनुभव—पूर्व अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण में स्थान—विपर्यय और प्रत्यक्षीकरण में अन्तर—विपर्यय और विभ्रम—विपर्यय के प्रकार—विपर्यय के कारण।

प्रत्यक्षीकरण क्या है?—अर्थात् इसकी परिभाषा—(Definition of Perception)—प्रत्यक्षीकरण को मनोवैज्ञानिकों ने एक मानसिक प्रक्रिया माना है। यह प्राणी का किसी वर्तमान वस्तु या परिस्थितियों के प्रति एक ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया है।[१] इस क्रिया की उत्पत्ति के लिए उत्तेजना का होना आवश्यक है। उत्तेजना विशेष ग्राहकेन्द्रिय के सम्पर्क में आती है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क में पहुँचते हैं। स्नायु-प्रवाह उस वस्तु का एक सम्यक् ज्ञान कराता है। इस सम्यक् ज्ञान को प्रत्यक्षीकरण की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण एक ऐसी मानसिक क्रिया है जो हमें वातावरण में उपस्थित वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाली परिस्थितियों का तात्कालिक ज्ञान (Immediate apprehension) प्राप्त कराता है।[२]

१—"Perception is the cognitive response to a present stimulus situation"

२—"Perception is the immediate apprehension of an object or situation affecting any or all of the sense-organs by way of sensation It is the most elementary form of cognition and indeed of experience"

ऊपर की परिभाषा से स्पष्ट है कि संवेदना प्रत्यक्षीकरण नहीं है। संवेदना में प्रत्यक्षीकरण की तरह उत्तेजना का होना आवश्यक है। पर सवेदना एक सरल मानसिक क्रिया मात्र है। उसमें उत्तेजना का आभास मात्र (Awareness) ही रहता है। पूर्ण ज्ञान का यहाँ सर्वथा अभाव होता है। इस पर प्रकाश डालते हुए मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना को प्रथम सरल ज्ञानात्मक व्यवहार (First cognitive response) की संज्ञा दी है। प्रत्यक्षीकरण को कुछ मनोवैज्ञानिकों ने दूसरे क्रम का सहकारी (Secondary) अर्थात् संवेदना के बाद होनेवाली ज्ञानात्मक प्रक्रिया कहा है। यह प्रक्रिया प्राथमिक प्रक्रिया से भिन्न है। दूसरी प्रक्रिया 'प्रत्यक्षीकरण', अर्थपूर्ण होती है, परन्तु पहली प्रक्रिया 'संवेदना', अर्थहीन है। संवेदना में अर्थ का अभाव तथा प्रत्यक्षीकरण मे किसी उत्तेजना विशेष का पूर्ण ज्ञान मिलता है। प्रत्यक्षीकरण को इस आधार पर समझाते हुए कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि संवेदना और अर्थ के योग से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्षीकरण की संज्ञा दी जाती है। पर यह विचार सम्यक् नहीं है।

यदि संवेदना और अर्थ के योग को प्रत्यक्षीकरण माना जाय तो सवेदना को एक "प्रथम सरल ज्ञानात्मक व्यवहार या अनुभव" कहना भूल है। जब संवेदना स्वयं एक ज्ञानात्मक व्यवहार है तो इसका प्रत्यक्षीकरण मे परिणत होने के लिए अर्थ का योग कोई महत्व नहीं रखता, चूँकि प्रत्येक ज्ञानात्मक व्यवहार अर्थपूर्ण होता है। इसी आधार पर आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि विशुद्ध संवेदना एक मानसिक प्रक्रिया (Mental process) मात्र है जो प्रत्यक्षीकरण के पहले आता है तथा इस प्रकिया में सदा अर्थ का अभाव रहता है। अतः संवेदना को 'प्रथम सरल ज्ञानात्मक अनुभव' कहना भूल है। परन्तु वास्तविक जीवन में वयस्कों मे कभी भी विशुद्ध संवेदना नामक प्रक्रिया नहीं पायी जाती है। अस्तु विशुद्ध संवेदना को आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने "Psychological myth"—अर्थात् एक मिथ्या या गप्प माना है।

सवेदना को एक अति सरल मानसिक प्रक्रिया (Simplest mental process) समझना ही यथोचित होगा। परन्तु प्रत्यक्षीकरण एक जटिल (Complex) मानसिक प्रक्रिया है। प्रत्यक्षीकरण की मानसिक प्रक्रिया में निहित जटिलता को हम निम्नलिखित एक छोटे से उदाहरण के द्वारा अत्यधिक स्पष्ट कर सकते

हैं। मान लीजिये कि मैं अपने घर में अपने भाई से कुछ बातें कर रहा हूँ। इसी बीच हमारा कुत्ता दरवाजे पर भूँक उठता है, जिससे हमें इस बात का प्रत्यक्षीकरण होता है कि दरवाजे पर अवश्य ही कोई नवागन्तुक आया है। कुत्ते के बोलने और मुझे इस बात का प्रत्यक्षीकरण होने के बीच प्रायः कुछ भी समय नहीं लगता। परन्तु यदि प्रत्यक्षीकरण की इस प्रक्रिया की व्याख्या की जाय तो इस मानसिक-प्रक्रिया की जटिलता स्पष्ट हो जायगी। पहली बात यह है कि हम इस कुत्ते की आवाज की तुलना अपने मानसिक धरातल पर, बिल्ली, गदहे, मनुष्य आदि की आवाजों से करते हैं। अन्य जानवरों की आवाजों से की गयी तुलना के आधार पर ही हमें इस बात का ज्ञान होता है कि वह कुत्ता बोल रहा है कोई बिल्ली नहीं बोल रही है, न गदहा ही रेंक रहा है। इसी प्रकार अन्य कुत्तों की आवाज से तुलना करने पर मालूम होता है कि यह हमारा ही कुत्ता बोल रहा है, पड़ोसी का नहीं।

भूतकाल में हमने अपने कुत्ते को घर के पीछे, बगल एव सामने से बोलते हुए सुना है। अब इस बात का ज्ञान कि कुत्ता दरवाजे पर बोल रहा है, घर के पीछे से नहीं, हमें स्थान-निरूपण (Localization) के बाद ही पता चलता है।

इसी प्रकार कुत्ता भूख की अवस्था, भय की अवस्था, क्रोध की अवस्था आदि में भी बोलते सुना गया है। परन्तु भूतकाल के अनुभवों के आधार पर ही समझ पाते हैं कि बाहर किसी के आने से वह बोल रहा है, भय, क्रोध तथा भूख से नहीं।

अस्तु, हम देखते हैं कि बाहर कोई मिलने आया है, इस बात के प्रत्यक्षीकरण में हमारे मस्तिष्क में तुलना, विरोध, स्थान-निरूपण तथा भूतकाल में प्राप्त अनुभवों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। बिना इनकी सहायता के किसी वस्तु या स्थिति का पूर्ण परिज्ञान अथवा प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षीकरण को एक जटिल मानसिक क्रिया की संज्ञा दी है।

संवेदना और प्रत्यक्षीकरण मे अन्तर

(Distinction between Sensation & Perception)

आजकल के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेदना नाम की कोई भी मानसिक प्रक्रिया प्राणी में नहीं होती है। उनके विचार से संवेदना एक

मिथ्या या गप्प "Psychological myth" है। मनुष्यों में प्रथम एवं साधारण (Elementary and Simple) होनेवाली मानसिक प्रक्रिया प्रत्यक्षीकरण ही है। यह विचार यथोचित तो है, पर मानसिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण को भिन्न प्रक्रियाओं का रूप दिया है।

इन लोगों के मतानुसार संवेदना और प्रत्यक्षीकरण में निम्नलिखित अन्तर है—

(१) संवेदना एक सरल मानसिक प्रक्रिया है, परन्तु प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। तात्पर्य यह है कि संवेदना के द्वारा किसी उत्तेजना की विशेषता-विशेष की चेतना-मात्र होती है, लेकिन प्रत्यक्षीकरण में इसका ज्ञान होता है जिसमें अनेक मानसिक-प्रक्रियाएँ शामिल हैं। इसकी विशद व्याख्या प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा का विश्लेषण करते समय की गई है।

(२) संवेदना एक निरर्थक और प्रत्यक्षीकरण को एक सार्थक अनुभूति कह सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संवेदना में उत्तेजना की विशेषता की चेतनामात्र होती है किन्तु प्रत्यक्षीकरण में उस विशेषता के अर्थ से भी अभिज्ञ हो जाते हैं। इसी दृष्टि से मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना को निरर्थक तथा प्रत्यक्षीकरण को सार्थक अनुभूति की संज्ञा दी है।

(३) प्रौढ व्यक्तियों में विशुद्ध संवेदना (Pure sensation) असम्भव है, कारण, प्रौढ़ मनुष्यों मे संवेदना के साथ-साथ वस्तु के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। अतः मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना को एक अमूर्त (Abstract) तथा प्रत्यक्षीकरण को मूर्त (Concrete) अनुभव कहा है। व्यावहारिक जीवन मे भी संवेदना की अनुभूति नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्षीकरण का अनुभव तो सदा होता है।

(४) संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण में होनेवाली दैहिक प्रक्रियाओं (Physiological processes) में भी अन्तर है। प्रत्यक्षीकरण में ग्राहक (Receptor), मस्तिष्क (Brain) आदि की क्रियाएँ होती हैं, किन्तु संवेदना में ग्राहक-प्रक्रियाओं के अतिरिक्त प्रत्यक्षीकरण की अन्य क्रियाओं का अभाव रहता है।

(५) प्रत्यक्षीकरण में ग्राहक-प्रक्रियाओं (Receptor processes) के अतिरिक्त प्रतीकात्मक-प्रक्रियाएँ (Symbolic processes) भी रहती हैं। परन्तु संवेदना में इस प्रतीकात्मक-प्रक्रिया (Symbolic

process) का सदा अभाव रहता है। अतः संवेदना को उपस्थितिकारी (Presentative) और प्रत्यक्षीकरण को उपस्थितिकारी-प्रतिरूपक (Presentative-Representative) प्रक्रिया कहा गया है।

प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप
(Nature of Perception)

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रत्यक्षीकरण में तात्कालिकता (Presentness) का विशेष गुण होता है अर्थात् वातावरण में उपस्थित वस्तु का ही प्रत्यक्षीकरण सम्भव है।* परन्तु वातावरण में उपस्थित प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्षीकरण मनुष्य नहीं करता। यह ठीक है कि मनुष्यों पर वातावरण के प्रभाव लगातार पड़ते रहते हैं। पर वातावरण में उपस्थित सभी चीजों का प्रत्यक्षीकरण मनुष्य नहीं करता। गर्मी के दिनों में पंखे चलते रहते हैं, फिर भी वह चल रहा है इसका ज्ञान नहीं रहता। पंखा का चलना ज्यों ही बन्द हो जाता है त्यों ही बन्द हुए पंखे का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन (Change) प्रायः हर प्रत्यक्षीकरण का आधार है। वातावरण में चलते हुए पंखे का रुक जाना परिवर्तन (Change) है, अतः इस ओर ध्यान चला जाता है।‡

वातावरण में उपस्थित प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्षीकरण मनुष्य द्वारा होना सम्भव नहीं। मनुष्य केवल उन्हीं वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण करता है जो उसके अवधान-परिधि (Span of attention) में आते हैं। इस प्रकार वस्तुओं का जो अनुभव मनुष्य को होता रहता है उसे दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक मनुष्य का वह अनुभव जहाँ मनुष्य वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से देखता रहता है। ऐसी वस्तुएँ मनुष्य के अवधान-केन्द्र (Focus of attention) में रहती हैं। दूसरा, उन वस्तुओं का अनुभव जो 'अवधान-केन्द्र' मे नहीं होतीं, वरन् वे अवधान-परिधि से बाहर (Margin) होती हैं। प्रत्यक्षीकरण अवधान-केन्द्र में रहनेवाली वस्तुओं का ही होता है। अब प्रश्न है कि कौन-सी वस्तु अवधान-केन्द्र में आती है। किसी वस्तु का अवधान-केन्द्र में आना

---

* "Presentness written across all perception"

—*Bentley*

‡ "Change is the basis of perception. In other words perception is always a response to some change or difference in the environment"

उत्तेजना-विशेष एवं प्राणी पर निर्भर करता है। उत्तेजना-विशेष के गुण भी उत्तेजना को अवधान-केन्द्र मे पहुँचाने में मदद देते हैं। इन गुणो मे प्रमुख गुण जिसके बल पर उत्तेजना अवधान-केन्द्र मे पहुँच पाती है, वे निम्नलिखित हैं—

(क) उत्तेजना की तीव्रता (Intensity of the stimulus)

(ख) उत्तेजना की नवीनता (Novelty of the stimulus) और

(ग) उत्तेजना की पुनरावृत्ति (Repetition of the stimulus)

इन गुणों की चर्चा ध्यान की चर्चा करते समय की जायगी। अतः प्राणी के अन्दर वर्तमान आन्तरिक स्थितियों की ही चर्चा यहाँ अभीष्ट है। मनुष्य के अन्दर पाये जानेवाले गुणों में अभिप्राय (Intention), एवं प्रेरणा (Motivation) का प्रमुख स्थान है। ये गुण मनुष्यों का ध्यान किसी खास वस्तु विशेष की ओर ले जाते हैं, जिसका प्रत्यक्षीकरण मनुष्य अपने ढंग से करता है। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि मनुष्य वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाओं मे से किसी एक का ही प्रत्यक्षीकरण क्यों करता है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है मनुष्य की इच्छा, विचार आदि, वस्तु के चुनाव में सहयोग देते हैं। 'पोस्टमैन' तथा 'ब्रूनर' (Postman and Bruner) ने एक प्रयोग किया जिसमें उन्होंने स्पष्टतया दिखाया कि प्रत्यक्षीकरण मनुष्य की आन्तरिक, शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों पर निर्भर करता है। इन स्थितियों का ही यह परिणाम है कि प्रत्यक्षीकरण एक चयनात्मक (Selective) मानसिक क्रिया है। इस चयनात्मकता (Selectivity) का आधार मनुष्य का आवश्यकता होती है। प्रयोग विद्यार्थियों पर किया गया था। दो वर्ग के लड़के थे। एक वे जो भूखे थे और दूसरे, जो भूखे नहीं थे। इन दोनों तरह के विद्यार्थियों को एक पारदर्शी पर्दे की दूसरी ओर रखी गयी चीजों को क्षणमात्र के लिए देखकर उनका वर्णन करने को कहा गया। पर्दे की दूसरी ओर कोई खाद्य-पदार्थ नहीं था परन्तु कुछ अन्य चीजें (Ambiguous figure) रखी हुई थीं फिर भी वे विद्यार्थी जो भूखे थे उन लोगों को खाद्य-सामग्री का प्रत्यक्षीकरण हुआ। अर्थात् उन्होंने अन्य चीजों को खाद्य-सामग्री के रूप में देखा। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य वातावरण से अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं को खोज उनका प्रत्यक्षीकरण करता है। अतः प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को मनुष्य की आवश्यकताओं का व्यक्त रूप कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मनुष्य की आवश्यकताएँ

भिन्न-भिन्न होती हैं। इन आवश्यकताओं मे भिन्नता होने के कारण एक ही वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में दो मनुष्यों के देखने में भिन्नता आ जाती है।

मनुष्य अपनी मनोवृत्ति, प्रेरणा, अभिप्राय, रुचि आदि के अनुसार ही किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है। यही कारण है कि एक वस्तु जो किसी को अधिक प्रिय लगती है वही वस्तु दूसरे को अत्यन्त अप्रिय लगती है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया वैयक्तिक एवं चयनात्मक होती है।*

प्रत्यक्षीकरण भिन्न-भिन्न संवेदनाओं का समूह मात्र नहीं है। अर्थात् किसी वस्तु के भिन्न-भिन्न अवयवों को देखने से उत्पन्न संवेदनाओं के योग से प्रत्यक्षीकरण नहीं होता वरन् उस वस्तु का समग्र रूप (As a whole) से ज्ञान ही प्रत्यक्षीकरण है। गुलाब के फूल को हम देखते हैं तो उसके देखने के समय उसकी पत्तियों की अलग-अलग संवेदना, रंगों की एक अलग संवेदना, गन्ध एवं स्पर्श की कोई अलग संवेदना नहीं होती। उस गुलाब के फूल का समष्टि के रूप मे (As a whole) प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः प्रत्यक्षीकरण संगठित (Organised) होता है। इस सगठन पर ही अर्थ निर्भर करता है।

प्रत्यक्षीकरण मे संलग्न क्रियाएँ
(Processes involved in perception)

किसी वस्तु को देखने में निम्नलिखित क्रियाएँ सहयोग देती हैं—

(१) ग्राहक प्रक्रियाएँ (Receptor processes)
(२) प्रतीकात्मक प्रक्रियाएँ (Symbolic processes)
(३) भावात्मक प्रक्रियाएँ (Affective processes)
(४) ललित-अनुभव (Asethetic experience)
(५) इकाईकरण की प्रक्रिया (Process of unification)

जब कोई उत्तेजना ग्राहकेन्द्रियों के सम्पर्क मे आती है तो स्नायु-प्रवाह तैयार होकर ज्ञानवाही-तन्तु (Sensory nerve) द्वारा सुषुम्ना (Spinal cord) एवं मस्तिष्क (Brain) तक पहुँचता है। यहाँ साहचर्य स्नायु-कोश (Association Neurons) उन प्रवाहों को गतिवाही-तन्तुओं (Motor Nerves) मे छोड़ देता है जिसमे

* "Perception is selective and individualistic"

ये प्रवाह मांसपेशियो तक पहुँचते हैं। इसके फलस्वरूप एक क्रिया उत्पन्न होती है जिससे प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है। ग्राहकेन्द्रिय से आरम्भ होकर मांसपेशियों या पिण्डों (Effectors) में विलीन होनेवाली क्रिया को ग्राहक-क्रिया (Receptor process) कहते हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ देखने, सुनने आदि सभी अनुभवो में होती हैं।

वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण मे जो अन्य क्रियाएँ होती हैं उनमे प्रतीकात्मक प्रक्रियाओ (Symbolic processes) का भी एक प्रमुख स्थान है। मनुष्य को कभी-कभी एक वस्तु देखकर उससे सम्बन्धित वस्तु का स्मरण हो जाता है। मनुष्य में होनेवाली ऐसी क्रियाओं को 'प्रतीकात्मक-प्रक्रिया' कहते हैं। जैसे—नारंगी का चित्र देखकर उसकी गंध, स्वाद, आदि की याद आना जिसे पहले खाया हो। विवाह म मिली अँगूठी विवाह की याद दिलाती है। फिर परीक्षा में प्रश्नों को देखकर याद किये हुए उत्तरों की याद को भी प्रतीकात्मक-प्रक्रिया के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

किसी वस्तु को देखने और सुनने के पश्चात् प्राणी में उस वस्तु के प्र ति सुखद या दुःखद भाव का उठना भी स्वाभाविक ही है। वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् मनुष्य उस वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से संतुष्टि (Pleasantness), असंतुष्टि (Unpleasantness) या तटस्थता (Indifference) की प्रतिक्रियाओं का प्रादुर्भाव अपने मे पाता है। मनुष्य में होनेवाली इस प्रतिक्रिया को' भावात्मक-प्रक्रिया' की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ—घर में एक प्रिय मित्र के आने से उन्हें देखकर खुशी होती है, दुश्मन को देखकर दुःख, एव जिसे व्यक्ति रोज दिन देखता रहता है उसे देखकर न तो हर्ष ही होता है और न विषाद ही वरन् मनुष्य तटस्थ (Indifferent) सा रहता है। कभी-कभी वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् उस वस्तु का मूल्यांकन भी किया जाता है। मनुष्य प्रत्यक्षीकरण हुई वस्तु को तौलता है अर्थात् वह देखता है कि वस्तु कैसी है। सुन्दर (Beautiful) है, कुरूप (Ugly) है, या इन दोनों में से कुछ भी नहीं है। मनुष्य का यह अनुभव भावात्मक-प्रक्रियाओं एवं पूर्व अनुभूतियों पर निर्भर है। जिस वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से हर्ष होता है वह वस्तु दूसरे की नजरों में कितनी भी कुरूप क्यो न हो, पर उसे देखने वाले व्यक्ति की नजरों में सुन्दर ही निकलेगी। उस वस्तु को सुन्दर देखने मे उसकी पूर्व अनुभूतियों का भी सहयोग रहता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक प्रेमिका अपने प्रेमी को जब भी

देखती है तो वह सुन्दर ही लगता है। दूसरों के देखने से वह कितना भी कुरूप क्यों नहीं हो पर प्रेमिका की नजर में तो वह सुन्दर ही मालूम होता है। इस प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं को 'ललित-अनुभव' (Aesthetic Experience) की संज्ञा दी जाती है।

किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण व्यक्ति एक इकाई तथा समष्टि के रूप में करता है। गुलाब के फूल का प्रत्यक्षीकरण करते समय हम उसकी पंखुड़ियों को अलग-अलग न देखकर एक इकाई के रूप में देखते हैं और तब हम कहते हैं कि यह गुलाब का फूल है। इसी प्रकार एक पेड़ की भिन्न-भिन्न डालियों को अलग-अलग न देखकर हम एक सम्पूर्ण पेड़ को एक इकाई के रूप में देखते हैं।

अब प्रश्न है कि प्रत्यक्षीकरण के समय कौन-कौन-सी प्रक्रियाएँ शामिल रहती हैं। उदाहरण के लिए एक सुगंध युक्त गुलाब के फूल के प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को ले लें। मनुष्य गुलाब के फूल को देखता है। आँख इस देखने की क्रिया को करती है। आँख यहाँ ग्राहकेन्द्रिय है जहाँ से स्नायु-प्रवाह बनकर मस्तिष्क तक जाता है, जिससे दृष्टि-संवेदना होती है। इसके अतिरिक्त गंध (Smell) की भी संवेदना होती है। इस कार्य में नाक ग्राहकेन्द्रिय है। साथ ही साथ उसे छूने के कारण स्पर्श-संवेदना भी प्राप्त होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तीन ग्राहकेन्द्रियाँ यहाँ कार्य सम्पन्न करने में लगी हैं।

इस गुलाब के फूल को देखकर अगर मैसूर (Mysore) स्थित वृन्दावन की फुलवारी के गुलाब के फूलों का स्मरण आता है तो कहना यथोचित होगा कि यहाँ प्रतीकात्मक-प्रक्रियाएँ (Symbolic processes) भी शामिल हैं। साथ ही साथ फूल देखने से एक भाव भी उत्पन्न होगा। वह भाव है सुखद भाव, दुखद भाव एवं तटस्थता का भाव (Pleasantness, Unpleasantness and Indifference)। फूल देखकर व्यक्ति में सुखद भाव उत्पन्न हो सकता है। पर फूल देखकर दुख का अनुभव करना को२ आश्चर्य नहीं। जिनकी प्रेमिका ने विदाई के समय फूल भेंट किया हो उनके लिए फूल विषाद का प्रतीक हो जायेगा। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्हें फूल देखकर किसी भी भाव का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण मे भावात्मक-प्रक्रियाएँ (Affective processes) भी शामिल हैं।

अन्त में कहना आवश्यक है कि वस्तुओं को प्रत्यक्षीकरण से उसे सुन्दर, कुरूप या कुछ भी नहीं, आँकने की प्रवृत्ति मनुष्य में होती है।

गुलाब का फूल सुन्दर लग सकता है। मनुष्य का यह अनुभव ललित-अनुभव (Aesthetic experience) के अन्तर्गत आता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण मे ग्राहक-प्रक्रियाएँ (Receptor processes), प्रतीकात्मक-प्रक्रियाएँ (Symbolic processes), भावात्मक-प्रक्रियाएँ (Affective processes), तथा ललित-अनुभव (Aesthetic experience) शामिल हैं।

पूर्व अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण मे स्थान
(Role of past experience in perception)

पूर्व अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण में क्या स्थान है, कहना विवादास्पद है। फिर भी मनोवैज्ञानिकों के विचारों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक विचारक वे हैं जिनके अनुसार पूर्व अनुभूति मनुष्यों मे एक मानसिक अवस्था (Set) को उत्पन्न (Induce) करता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य पूर्व की देखी हुई वस्तुओं को पहले की ही तरह देखता है। प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न ज्ञानात्मक व्यवहार एवं अनुभव का आधार पूर्व अनुभूति होती है। इस श्रेणी के मनोवैज्ञानिकों का तो विचार है कि मनुष्य पूर्व अनुभूति के अभाव में किसी भी चीज का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकता है। इस विचार की पुष्टि के लिए प्रयोग भी किए गये हैं। थाउलेस (Thouless)* महोदय ने एक प्रयोग किया है जिसमें उन्होंने एक व्यक्ति को कुर्सी दिखलायी। कुर्सी जिस व्यक्ति को दिखलायी गयी, उस व्यक्ति की आँखों में अक्षिपट (Retina) पर विशेष प्रबन्ध द्वारा उस कुर्सी का प्रतिबिम्ब (Image) इस प्रकार गिराया गया कि यह प्रतिबिम्ब कुर्सी को उलटकर देखने पर होनेवाली प्रतिबिम्ब की तरह था। ऐसी अवस्था में व्यक्ति को कुर्सी उलटी हुई नजर आना आवश्यक था। पर ऐसा न हुआ। कुर्सी उस व्यक्ति को सीधी ही रखी जान पड़ती थी। कुर्सी को सीधा रखा देखने का एकमात्र कारण मनुष्य की पूर्व अनुभूति थी जो मनुष्य में एक मानसिक स्थिति (Set) को उत्पन्न (Induce) कर पूर्व की देखी हुई वस्तु को पहले की ही तरह देखने की प्रवृत्ति (Tendency) को सफल किया। अर्थात् उसने कभी भी उलटी हुई कुर्सी का उस अवस्था में रखे जाने का अनुभव नहीं किया था, वरन् पूर्व का अनुभव कुर्सी को सीधा ही रखने का था। फलतः उसने कुर्सी को सीधा ही रखा देखा। इस प्रयोग से स्पष्ट है कि पूर्व अनुभूति के

* Thouless Phenomenal regression to real object

अभाव मे प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। एक दूसरा प्रयोग एक जन्मान्ध व्यक्ति पर भी किया गया था। जन्मान्ध व्यक्ति की आँखों को आपरेशन से ठीक कर जब उसकी आँखों में रोशनी आ गई तो उसे त्रिभुज (△) और वृत्त (O) की आकार की दो भिन्न आकृत्तियों को दिखलाया गया। उस व्यक्ति ने कभी भी पहले इन आकृत्तियों को नहीं देखा था। फलतः पूर्व अनुभूति का अभाव था। परिणामस्वरूप यह पाया गया कि वह व्यक्ति इन दोनों चीजों के आपसी अन्तर को पहचानने में असमर्थ रहा। उसकी दृष्टि मे वृत्त एवं त्रिभुज में कोई अन्तर नहीं था। इस प्रयोग से भी पूर्व अनुभूति की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

दूसरे वर्ग के विचारक जेसटाल्टवादी (Gestaltists) हैं। इनके अनुसार प्रत्येक प्रत्यक्षीकरण में आकार (Figure) और पृष्ठभूमि (Background) का सम्बन्ध रहता है। अर्थात् मनुष्य के अनुभवों में भी पृष्ठभूमि और आकार का सम्बन्ध देखने को मिलता है। मनुष्य जब किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है तो उस समय एक वस्तु अत्यन्त सामने साफ एक किसी पृष्ठभूमि पर दीखती है। कुछ समय बाद जब मनुष्य किसी और चीज का प्रत्यक्षीकरण करता है तो उस समय का उसका अनुभव बिल्कुल नवीन, तुरत पहले होनेवाले अनुभव से भिन्न नहीं होता, वरन् पहले के अनुभव से कुछ परिवर्तित होता है। अर्थात् वर्तमान में होनेवाले अनुभव थोड़ी देर पहले हुए अनुभवों से सम्बन्धित रहते हैं। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए जेसटाल्टवादियों ने स्पष्ट बतलाया है कि पहले के अनुभव अभी प्राप्त अनुभवों की पृष्ठभूमि (Background) के रूप मे आते हैं। जेसटाल्टवादियों के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्व अनुभूति प्रत्यक्षीकरण में पृष्ठभूमि का का काम करती है।*

---

* "The experience of any one moment is a whole in which certain elements, as it were, stand out The experience of the next moment does not emerge as an entirely new experience, but comes as a change in that of the previous moment Consequently, every object or situation apprehended is apprehended in relation to the whole experience of the moment, and to the experience of immediately preceeding moments .. Thus, from another point of view we see that there is always this relation of 'figure' and 'ground' in perceptual experience, and that it is a necessary characteristics of perceptual experience". —*Collins, M & Drever J.*

जेसटाल्टवादियों ने भी अपने विचार की पुष्टि के लिए अनेक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों का उल्लेख यहाँ अभीष्ट नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्व अनुभूति का स्थान प्रत्यक्षीकरण में एक पृष्ठभूमि के रूप में या मनुष्यों में विशेष मानसिक स्थिति (Set) उत्पन्न (Induce) करने के रूप में अवश्य रहता है। निश्चयात्मक रूप से तो यह कहा जा सकता है कि पूर्व अनुभूति का महत्व प्रत्यक्षीकरण में है।

विपर्यय (Illusion)

एक उत्तेजना के उपस्थित होने पर ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क उस उत्तेजना-विशेष से होता है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप ही उस उत्तेजना की जानकारी सम्भव है। उत्तेजनाओं का एक सर्वमान्य सामाजिक अर्थ होता है। पर कभी-कभी प्राणी उत्तेजनाओं के सम्पर्क में आने के पश्चात् भी उसके सामाजिक एवं सर्वमान्य अर्थ को व्यक्त करने या समझने मे भूल कर जाता है। ऐसी अवस्थाओं को विपर्यय (Illusion) की संज्ञा दी जाती है। जैसे—पीछे से, किसी आगे जानेवाले अन्य या अपरिचित व्यक्ति को अपना मित्र या परिचित समझ लेना। इसी प्रकार अँधेरे में पड़ी रस्सी को देखकर साँप समझ लेना भी विपर्यय है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अन्य या अपरिचित व्यक्ति को पीछे से देखकर अपरिचित समझना अर्थात् अपना मित्र या परिचित नहीं समझना तथा रस्सी को रस्सी ही समझना प्रत्यक्षीकरण के अन्तर्गत आवेगा। पर एक उत्तेजना-विशेष को देखकर उसके सर्वमान्य अर्थ को ग्रहण कर किसी अन्य विशेष एवं वैयक्तिक अर्थ का समझना विपर्यय है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अयथार्थ ज्ञान या प्रत्यक्षीकरण (False perception) ही विपर्यय है। अयथार्थ ज्ञान का अर्थ वस्तु तथा परिस्थिति के गलत ज्ञान से है।

'प्रत्यक्षीकरण' तथा 'विपर्यय' में अन्तर (Distinction between Perception and Illusion)—वस्तुतः विपर्यय और प्रत्यक्षीकरण दोनों मे एक ही तरह की सवेदनाएँ वर्तमान रहती हैं। इस दृष्टिकोण से प्रत्यक्षीकरण एवं विपर्यय दोनों में कुछ समानता है। किन्तु इस समानता के रहते हुए भी दोनों में एक विशेष अन्तर है। वह अन्तर यह है कि—

(१) प्रत्यक्षीकरण में संवेदनाओं का सही (समाज द्वारा निश्चित किए) अर्थ को लगाते हैं पर विपर्यय में भी संवेदनाओं का अर्थ लगाया जाता है परन्तु वह अर्थ समाज द्वारा लगाये अर्थों से भिन्न होता है। अतः उसे

गलत अर्थ कहते हैं क्योंकि यह अर्थ पूर्णतः वैयक्तिक एवं क्षणिक (Personal and Temporary) होता है।

(२) विपर्यय और प्रत्यक्षीकरण के स्वभाव में भी भेद है। विपर्यय प्रायः क्षणिक होता है, किन्तु प्रत्यक्षीकरण अपेक्षाकृत स्थायी। अर्थात् उत्तेजना विशेष का ठीक-ठीक ज्ञान कुछ देर के बाद हो जाने पर विपर्यय खतम हो जाता है जिससे इस क्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहने लगते हैं।

विपर्यय और विभ्रम
(Illusion and Hallucination)

किसी उत्तेजना-विशेष के न रहने पर भी कभी-कभी मनुष्य उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण करता है। ऐसी क्रिया को विभ्रम की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार विभ्रम भी अयथार्थ (Inaccurate) प्रत्यक्षीकरण है। पर विभ्रम एवं विपर्यय दोनों में अन्तर है। विपर्यय के लिए वाह्य उत्तेजना की उपस्थिति अनिवार्य है, परन्तु विभ्रम में वाह्य उत्तेजना का अभाव रहता है। इस अभाव मे भी कोई वस्तु नजर आती है। जैसे, रात में कभी-कभी जब नींद खुल जाती है तो सामने कोने मे कोई खड़ा नजर आता है यद्यपि कि उस स्थान पर कुछ भी नहीं होता। ऐसी अवस्था के प्रत्यक्षीकरण को विभ्रम की संज्ञा दी जाती है। अतः स्पष्टतया कह सकते हैं कि विभ्रम में उत्तेजना का अभाव होता है पर विपर्यय का आधार उत्तेजना होता है।

विभ्रम एवं विपर्यय में दूसरा अन्तर यह है कि विपर्यय का अनुभव प्रायः सभी व्यक्तियों को होता है परन्तु विभ्रम का अनुभव प्रायः मानसिक रोगयुक्त तथा नशे में चूर व्यक्तियों को ही होता है। प्रायः सभी व्यक्तियों मे समान परिस्थितियाँ एक ही तरह का विपर्यय उत्पन्न करती हैं, किन्तु विभ्रम में ऐसा नहीं होता।

विपर्यय के प्रकार (Kinds of illusion)—विपर्यय को व्यक्ति या काल (Duration) क आधार पर विभिन्न भागों में बाँटा गया है। कुछ विपर्यय कुछ व्यक्तियों में ही होते हैं। इन्हें वैयक्तिक (Individual or Personal) विपर्यय कहते हैं। वे जो सभी में समान रूप से होते हैं उन्हें विश्वव्यापक (Universal) विपर्यय कहते हैं। उदाहरणार्थ—लाल गमछा देखकर लाल दुपट्टा समझना वैयक्तिक विपर्यय (Personal Illusion) का उदाहरण है। ऐसे कुछ ही लोग होते हैं जिन्हें लाल गमछा लाल दुपट्टा के रूप में नजर आता है। पर चलती गाड़ी में बाहर

खड़े वृक्षों का दूसरी दिशा में दौड़ना या चलना विश्वव्यापक (Universal Illusion) विपर्यय का उदाहरण है। सभी को चलती गाड़ी से बाहर देखने पर बाहर की चीजें दूसरी दिशा में भागती नजर आती हैं यद्यपि कि बाहर की चीजें स्थिर हैं। इसी प्रकार चलते हुए बादलों के पीछे का स्थिर चाँद ही चलता प्रतीत होता है, बादल नहीं।

काल के आधार पर विपर्यय को (क) क्षणिक तथा (ख) स्थायी, दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। रस्सी देखकर साँप समझ लेना, एक क्षणिक विपर्यय है। कारण, रस्सी का ठीक ज्ञान थोड़ी देर बाद हो जाने पर विपर्यय समाप्त हो जाता है। स्थायी विपर्यय के सुन्दर उदाहरण
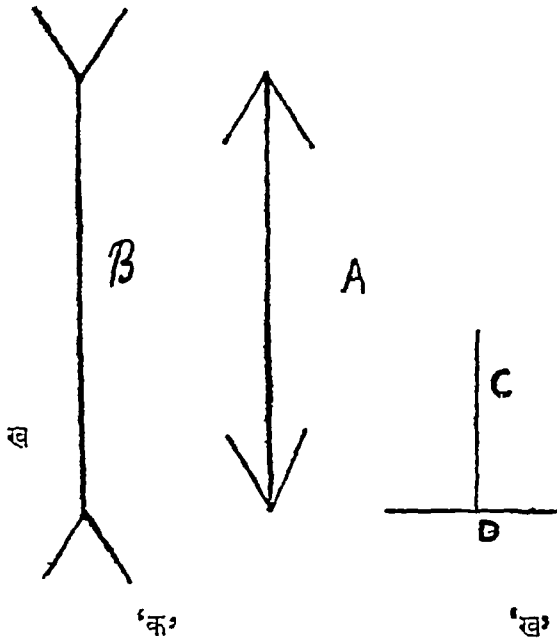
चित्र न ११ —'क'—मूलर-लायर विपर्यय।
'ख'—खड़ी-पड़ी रेखा विपर्यय है।

हम रेखागणित-सम्बन्धी दृष्टि-विपर्ययों (Geometrical optical illusion) में मिलते हैं। यदि किसी के सामने 'पंख के निशान' (B) और 'तीर के निशान' (A) वाली रेखाओं (चित्र नं० ११ 'क') को उपस्थित किया जाय और उससे उन रेखाओं की तुलना करने को कहा जाय तो सम्भवतः उसका उत्तर होगा कि B रेखा A से बड़ी है। यद्यपि दोनों रेखाओं की लम्बाई समान या बराबर है। इसे 'मूलर-लायर विपर्यय' (Muller-Lyer Illusion) की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार दो समान लम्बाई की, एक खड़ी (रेखा C) और दूसरी पड़ी (रेखा D) रेखाओं में, खड़ी लकीर पड़ी लकीर से बड़ी जान पड़ती है। (ऊपर के चित्र में 'ख' को देखें)

इस प्रकार के विपर्यय सभी में समान रूप से पाये जाते हैं। अतः इन्हें विश्वव्यापक विपर्यय की संज्ञा दी जाती है।

विपर्यय उत्पन्न होने के प्रमुख कारण
(Causes of Illusion or conditions under which Illusions take place)

भिन्न-भिन्न कारणों से विपर्यय उत्पन्न हो सकता है जिनमें से कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) विरोध (Contrast)—अनेक ऐसे विपर्यय हैं जो विरोध (Contrast) क कारण होते है। यह विरोध किसी प्रकार का हो सकता है। यदि एक ही वस्तु छोटी वस्तुओं के मध्य मे हो और वही पुनः समान आकार की बड़ी वस्तुओं के मध्य में रख दी जाय तो पहली अवस्था मे वह दूसरी से बड़ी मालूम होगी। एक चवन्नी को 'पुराने पैसो' के मध्य मे रखा जाय तो यह चवन्नी आकार मे छोटी मालूम पड़ती है उसी आकार की चवन्नी से जो 'नये पैसों' के बीच में पड़ा है। इसी प्रकार एक साधारण कद का व्यक्ति लम्बे व्यक्तियों के बीच में रहने से ज्यादा छोटा दीखता है उस समय की तुलना मे जब कि वह अपने कद से छोटे व्यक्तियों के मध्य मे खड़ा रहता हो। इस प्रकार विरोध मे अनेक विपर्यय उत्पन्न होते हैं।

(२) मानस-वृत्ति एवं प्रतीक्षा (Mental Set and Expectation)-अपनी विशेष प्रकार की मानस-वृत्ति के कारण भी मनुष्य प्रायः विपर्यय का अनुभव करता है। सुनसान जगह मे जहाँ प्रायः चोरों का भय लगा रहता है वहाँ पत्तों की खड़खड़ाहट मे चोरों के पद-चाप की सम्भावना हो जाती है। इसी प्रकार वर्ग मे बैठे बालक जो छुट्टी की घण्टी सुनने को आतुर रहते हैं, उन्हें बगल के मन्दिर की घड़ी-घण्ट की आवाज अपने कॉलेज की घण्टी की आवाज-सी प्रतीत हो जाती है। इस प्रकार मानस-वृत्ति के कारण भी विपर्यय उत्पन्न होते ह।

प्रतीक्षा की अवस्था में भी प्रायः विपर्यय का अनुभव होता है। एक पिता जो रात्रि में अपने पुत्र के आने की प्रतीक्षा कर रहा हो उसे किसी अन्य के भी पदचाप को सुनने पर अपने पुत्र के आने का ही आभास मिलता है। यह प्रतीक्षा से उत्पन्न विपर्यय का उदाहरण है।

(३) ज्ञानेन्द्रियों के दोष (Defects of the sense-organs)—कुछ विपर्यय ज्ञानेन्द्रियों के दोष के कारण होते हैं। जिस मनुष्य को पाडु रोग रहता है उसे प्रायः सभी चीजें पीली दिखाई देती हैं।

(४) चिन्ता तथा भय (Anxiety and Fear)—चिन्ता और भय भी विपर्यय के कारण होत हैं। वर्ग में शैतानी करते समय कभी-कभी वर्ग के विद्यार्थियों के वर्ग में प्रवेश करने पर शैतानी करने में व्यस्त लड़कों को अपने शिक्षक के अन्दर प्रवेश करने का अनुभव होता है। ऐसे विपर्यय का एकमात्र कारण शिक्षक के अन्दर प्रवेश करने का भय तथा उनके द्वारा पकड़े जाने पर दण्डित किये जाने की चिन्ता ही है।

(५) परिचय (Familiarity)—प्रतिदिन के जीवन में परिचय के कारण भी अनेक विपर्यय देखने को मिलते हैं। प्रायः सड़क पर चलते समय कोई व्यक्ति पीछे से देखने पर अपने किसी परिचित या मित्र जैसा लगता है। उसकी चाल, पोशाक किसी ऐसे व्यक्ति से मिलती-जुलती है जो मेरा पूर्ण परिचित है। परन्तु जब हम उसके नजदीक पहुँचते हैं तो हमारा विपर्यय दूर हो जाता है। हम यह पाते हैं कि यह तो मेरा मित्र नहीं वरन् कोई दूसरा ही व्यक्ति है।

(६) आदत (Habit)—विशेषकर 'प्रूफ रीडर' (Proof readers) में इस प्रकार का विपर्यय देखने को मिलता है। शुद्ध-शुद्ध पढ़ने की आदत होने के कारण वह प्रायः अशुद्ध शब्दों को भी शुद्ध पढ़ लेता है। जैसे 'recieve' को 'receive' अथवा 'intillegence' को 'intelligence' पढ़ लेता है।

(७) नवीनता (Novelty)—यह अक्सर देखा जाता है कि व्यक्ति जब किसी नये शहर अथवा नई जगह में चला जाता है तो उसे दिशाओं के विषय में विपर्यय होता है। उसे उत्तर की दिशा पूरब दिशा प्रतीत होने लगती है। अथवा इसी प्रकार कोई दक्षिण को पश्चिम समझने लगता है।

(८) प्रसंग (Context) तथा किसी वस्तु को समष्टिरूप में देखने की प्रवृत्ति—प्रसंग के कारण ही रेखागणित-सम्बन्धी दृष्टि-विपर्यय (Geometrical optical Illusions) होते हैं। यह प्रसंग का ही परिणाम है कि एक खड़ी रेखा समान लम्बाई की पड़ी रेखा से बड़ी मालूम पड़ती है अथवा परों के निशानवाली लकीर (Feather headed line) तीर के निशानवाली लकीर (Arrow Headers line) के बराबर होती हुई भी उससे बड़ी मालूम पड़ती है।

अस्तु हम देखते हैं कि विपर्यय के उपर्युक्त कई एक कारण हैं।

———

आठवाँ अध्याय

ध्यान

(Attention)

ध्यान क्या है ?—ध्यान की विशेषताएँ—चयनात्मक—चंचल—विस्तार में सीमित—ध्यान देने से स्पष्टता का बढ़ जाना—सोद्देश्य—शारीरिक अभियोजन का सम्मिलित होना ।

ध्यान के प्रकार—ऐच्छिक तथा अनैच्छिक ।

अनैच्छिक ध्यान—अनभिप्रेत तथा स्वाभाविक अनैच्छिक ध्यान ।

ध्यान के निर्धारक—वाह्य एवं आन्तरिक निर्धारक—ध्यान के वाह्य निर्धारक—उत्तेजना में परिवर्त्तन—उत्तेजना की अवधि—उत्तेजना का आकार—उत्तेजनाओं के बीच विरोध—उत्तेजना की नवीनता एवं तीव्रता—उत्तेजना में गति—उत्तेजना की स्थिति—उत्तेजना की विविक्तता तथा उत्तेजना का स्वरूप ।

ध्यान के आन्तरिक निर्धारक—अभिरुचि—जिज्ञासा—आदत—शिक्षण—उद्देश्य अथवा अभिप्राय—मनोवृत्ति—अर्थ—मानस-वृत्ति अथवा मानसिक-स्थिति ।

ध्यान क्या है ?—हममें से बहुतों को ब्वाय स्काउट अथवा एन० सी० सी० (N.C.C.) के कैडेट होने का अवसर अवश्य मिला होगा । अगर हममें से किसी को यह अवसर न भी मिला हो तो भी किसी सैनिक दल की कवायद देखने का मौका जरूर मिला होगा । कमाण्डर अपने दल को 'सावधान' (Attention) होने का हुक्म देता है और सारे-के-सारे सैनिक चुस्ती से सावधान होने की मुद्रा में खड़े होकर पूर्ण सतर्क हो जाते हैं । अब

उन्हें कमाण्डर कोई भी दूसरा काम करने की आज्ञा देता है तो वे तुरन्त आज्ञा-पालन करते हैं।

परन्तु सावधान होने की मुद्रा को ही ध्यान समझना गलत है। ध्यान तो एक मानसिक क्रिया है जिसकी एक शारीरिक अभिव्यक्ति 'सावधान' होने की मुद्रा भी है। इस मानसिक क्रिया को अधिक स्पष्ट करने के विचार से कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसे 'ध्यान' न कहकर 'ध्यान देना' कहना अधिक उपयुक्त माना है। इस मानसिक क्रिया में आगे होनेवाली सम्भावित क्रियाओं के लिए प्राणी में सतर्क होने की एक स्थिति (State of preparedness) पायी जाती है जिसके कारण प्राणी अपनी क्रियाओं का ठीक-ठीक समयानुकूल सम्पादन कर पाता है।

दूसरी बात यह है कि ध्यान एक चयनात्मक (Selective) क्रिया है जिसके कारण मनुष्य वातावरण में उपस्थित अनेक उत्तेजनाओं में से किसी एक को चुन लेता है। तब उसे अपने प्रतीतिक्षेत्र (Field of consciousness) के केन्द्र में स्थापित कर देता है। जब किसी वस्तु से उत्पन्न उत्तेजना मनुष्य के प्रतीतिक्षेत्र के केन्द्र (Focus) में चली आती है तो वह पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। उत्तेजना के इस चुनने की क्रिया में मनुष्य की मानसिक अभिरुचि (Interest) एवं मनोवृत्ति (Attitude) का विशेष हाथ रहता है। जैसे—मान लीजिये कि जाड़े की रात है। सामने अँगीठी जल रही है और आप एक रुचिकर उपन्यास पढ़ने मे तल्लीन हो गये हैं। अभी आपके शरीर मे अँगीठी से निकली गर्मी लग रही है। दूर मुहल्ले से कुछ कोलाहल की आवाज आ रही है। अँगीठी मे जलती हुई लकड़ियों से चिट-चिट की धीमी ध्वनि निकल जाया करती है। आपके शरीर मे पहने गये कपड़ों के कारण स्पर्श की सवेदना हो रही है। दीवार पर लगी घड़ी टिक-टिक कर रही है। नौकर आता है और चाय रखकर चला जाता है। परन्तु आपको इसका कुछ पता नहीं चलता। इन स्पर्श उत्तेजनाओं के बीच आप उपन्यास पढ़ रहे हैं तथा उसमे पढ़ने में तल्लीन हो गये हैं। तल्लीन हो जाने का अर्थ है कि आपका ध्यान पूर्ण रूप से उपन्यास के कथानक पर लगा है अर्थात् आप उपन्यास पर ध्यान दे रहे हैं। यहाँ हम देखते हैं कि आपके प्रतीतिक्षेत्र के केन्द्र में सिर्फ उपन्यास का कथानक है और कुछ नहीं। इस कमरे के क्षेत्रअन्दर और जितनी भी अन्य उत्तेजनाएँ हैं वे आपके चेतना-केन्द्र में नहीं आ पा रही हैं। घड़ी की टिकटिक, मुहल्ले का कोलाहल यहाँ तक कि

नौकर का चाय लेकर आना और रखकर चले जाने का भी ज्ञान नहीं हो पाता। ध्यान देने की क्रिया को चयनात्मक (Selective) इसलिए कहा गया है कि इसमे प्राणी वातावरण में उपस्थित सारी उत्तेजनाओं में से एक को छोड़कर अन्य की उपेक्षा कर देता है तथा एक ही उत्तेजना जैसे उपन्यास के कथानक को चेतना-केन्द्र (Focus of consciousness) में रखता है। शेष उत्तेजनाएँ उसके मानस की उपचेतना (Sub-conscious) मे रहती हैं अर्थात् वे चेतना-केन्द्र मे न रहकर चेतना के प्रतीतिक्षेत्र की परिधि (Margin of consciousness) के बाहर चली जाती हैं।

ठीक इसी प्रकार क्लास मे प्रोफेसर साहब के भाषण पर लड़कों के ध्यान देने की क्रिया का भी उदाहरण दिया जा सकता है। जिस लड़के की अभिरुचि पढ़ने में है वे वर्ग-भवन से दूर अथवा समीप होते हुए सारे शोरगुल से उत्पन्न सारी उत्तेजनाओं की उपेक्षा कर अध्यापक के भाषण पर ध्यान देते हैं। अर्थात् उसे अपनी चेतना के केन्द्र मे बनाये रखते हैं। ध्यान का उद्देश्य ही होता है, किसी उत्तेजना-विशेष का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना।

अस्तु, हिन्दी में दी गई ध्यान की इस प्रकार की उपर्युक्त परिभाषा जँचती है "ध्यान देना एक ऐसी मानसिक क्रिया है जो व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित अनेक उत्तेजनाओं मे से अपनी मनोवृत्ति एवं अभिरुचि के अनुसार अन्य उत्तेजनाओ की उपेक्षा कर किसी एक उत्तेजना को चुन लेने तथा उसके प्रति प्रतिक्रिया करने को बाध्य करती है।" यह मनोवृत्ति एवं अभिरुचि आदि ध्यान देने के लिए उत्तेजनाविशेष के चुनाव (Selective) मे प्रेरक-शक्ति (Motivating force) का कार्य करती है।

ध्यान की विशेषताएँ
(Characteristics of Attention)

(१) **ध्यान एक चयनात्मक मानसिक क्रिया है** (Attention is a selective process)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पाठकों ने देखा है कि ध्यान की क्रिया किस प्रकार चयनात्मक है। किसी भी वस्तु-विशेष पर जब व्यक्ति ध्यान देता है तो अन्य वस्तुओं में से उस वस्तुविशेष को चुन लेता है। जब मेले में किसी खिलौने की दूकान की ओर कोई आकृष्ट हो जाता है तो अन्य दूकानों को छोड़कर अपनी पसन्द की उस

दूकान पर ही ध्यान देता पाया जाता है। इसी प्रकार उस दूकान के खिलौने में से जब अपने मनपसन्द खिलौने पर वह ध्यान देता है तो उस दूकान में सजाये गये अन्य खिलौने उसके चेतना-केन्द्र से हटकर चेतना की परिधि से प्रायः बाहर चले जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यान की क्रिया में सभी वर्तमान उत्तेजनाओं में से प्रायः किसी एक का चयन होता है।

(२) ध्यान स्वभावतः चंचल होता है (Attention is always shifting)—हमारा ध्यान सदा एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर बदलता रहता है। 'अभी इस क्षण एक वस्तु हमारे ध्यान-केन्द्र (Focus of attention) में है तो दूसरे क्षण कोई दूसरी वस्तु ध्यान में चली आती है। घर या बाहर सभी जगह हमारे दैनिक जीवन में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि जब हम एकाग्रचित्त होकर अपनी पुस्तक भी पढ़ते होते हैं तो भी हमारा ध्यान एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक अक्षर से दूसरे अक्षर पर जाता रहता है। ध्यान-नियन्त्रण (Control of attention) का यह अर्थ नहीं है कि किसी उत्तेजना अथवा वस्तुविशेष को जब तक जी चाहे अपने ध्यान-केन्द्र में रखे। व्यक्ति इसमें सफल भी नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में ध्यान-विचलन (Fluctuation of attention) अथवा ध्यान-विभाजन (Division of attention) की क्रियाए होती पायी जाती हैं। ध्यान-नियन्त्रण के द्वारा हम ध्यान की चञ्चलता को रोक नहीं सकते। हम सिर्फ इतना नियन्त्रण कर सकते हैं कि किस वस्तु के बाद हम किस वस्तु पर ध्यान देंगे। ध्यान की वस्तु (Object of attention) किसके बाद कौन होगी; ध्यान-नियन्त्रण के द्वारा बस इतना ही सम्भव है। बालकों का ध्यान वयस्कों के बनिस्बत और भी अधिक चंचल रहता है।

यदि मनुष्य प्रयास करके किसी एक ही उत्तेजना पर लगातार थोड़ी देर के लिए ध्यान देता रहता है तो भी वह उत्तेजना कभी स्पष्ट प्रतीत होती है तो कभी धूमिल, तो कभी उत्तेजना सर्वथा गायब हो गई प्रतीत होती है। उत्तेजनाविशेष की स्पष्टता की मात्रा घटती-घटती एकदम समाप्त (Disappearance) हो जाती है, तो दूसरे ही क्षण बढ़ती-बढ़ती फिर स्पष्ट (Appearance) हो जाती है। व्यक्ति को उत्तेजना की बदलती अवस्थाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसमें स्पष्टता का मात्राभेद (Difference in the degree of clearness) होता है। ध्यान

की इस अवस्था को मनोवैज्ञानिकों ने 'ध्यान-विचलन' अथवा 'ध्यान-प्रकटाप्रकट' (Fluctuation of attention) की संज्ञा दी है। जैसे—किसी टिकटिक करनेवाली घड़ी को अपने से इतनी दूर पर ले जाइये जहाँ से काफी ध्यान देने पर उसकी टिक-टिक आपको सुनाई पड़े। फिर उस टिक-टिक पर आप अपने ध्यान को काफी लगा दें और यह प्रयास करें कि आप हरेक टिक-टिक ध्वनि को सुन सकें। ध्यान की इस अवस्था में आपको टिक-टिक ध्वनि स्पष्ट, कभी कम स्पष्ट एवं कभी एक दम नहीं सुनाई पडेगी। टिक टिक ध्वनि का कभी प्रत्यक्षीकरण होना और कभी न होना, ध्यान की इसी विशेषता को ध्यान-प्रकटाप्रकट (Fluctuation of attention) की विशेषता कहते हैं।

जब हम ध्यान उचलन (Shift in attention) की विशेषता की बातें करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि यहाँ एक नहीं वरन् एक से अधिक उत्तेजनाएँ हैं और हमारा ध्यान कभी इनमें से एक उत्तेजना पर जाता है तो कभी दूसरी पर।

अस्तु, हम देखते हैं कि चाहे एक उत्तेजना के दृष्टिकोण से विचार किया जाए अथवा एक से अधिक उत्तेजनाओं के दृष्टिकोण से विचार किया जाय, प्रत्येक दशा में ध्यान की क्रिया अस्थिर एवं चंचल प्रतीत होती है।

(३) **किसी भी क्षण में ध्यान का विस्तार बहुत सीमित होता है** (Attention of one moment is limited to a narrow range)—हम एक बार में बहुत-सी उपस्थित चीजों में से सिर्फ बहुत थोड़ी-सी चीजों पर ध्यान दे पाते हैं। बहुत,सी उत्तेजनाओं को व्यक्ति के सामने उपस्थित किये जाने पर उन्हें एक क्षण मात्र में देखकर वह व्यक्ति उनमें से जितनी उत्तेजनाओं को अपने चेतना-केन्द्र में ला पाता है, उसी को उस व्यक्ति-विशेष का ध्यान विस्तार (Span of attention) कहा जाता है। प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया जा चुका है कि व्यक्ति का ध्यान-विस्तार किसी तरह की उत्तेजनाओं के लिए सीमित ही होता है। खासकर विन्दु, अक्षर अथवा अंक आदि के लिए मनुष्यो का ध्यान-विस्तार प्रायः ६ से ११ के बीच होता है। टचिस्टॉसकोप (Tachistoscope) नामक यन्त्र के सहारे यह प्रयोग करके देखा गया है कि यदि व्यक्ति को क्षण भर के लिए बहुत-से विन्दु दिखाये जायँ तो वह एक वक्त में ६ से ११ विन्दुओं पर ही अपना ध्यान दे पाता है। शेष विन्दु उसके चेतना-केन्द्र से बाहर रह

जाते हैं। सार्थक पदार्थों (Meaningful material) की दशा में निरर्थक पदार्थों की अपेक्षा ध्यान का विस्तार अधिक पाया जाता है। ध्यान देने से उत्तेजनाविशेष की स्पष्टता बढ़ जाती है।

(४) ध्यान देने से उत्तेजनाविशेष की स्पष्टता बढ़ जाती है (Attention increases the clearness of stimulus)—ध्यान देने के कारण उत्तेजनाविशेष हमारे चेतना-केन्द्र में चला आता है जिसके कारण उसकी स्पष्टता बहुत बढ़ जाती है। हम जिस वस्तु पर ध्यान देते हैं उसके छोटे से छोटे अवयवों अथवा भागों का भी हमें साफ-साफ प्रत्यक्षीकरण होता है। मैं जिस टेबुल पर अभी लिख रहा हूँ इस पर मेरी इस कॉपी के अलावे घड़ी, पेपरवेट, फोटोफ्रेम, लैम्प, दस्ती आदि बहुत-सी चीजें रखी हैं। पर अभी चूँकि मेरा ध्यान लिखने के कागज पर है अतः टेबुल पर रखे फोटो को मैं नहीं देख पा रहा हूँ। टेबुल पर जो चीज मेरे लिखने के इस कागज से जितनी दूर है वह मुझे उतना ही कम स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन जब मैं अपना ध्यान कागज से हटाकर उस फोटो की ओर ले जाता हूँ तो उस चित्र का एक-एक भाग पूर्ण स्पष्टता से देख पाता हूँ हालाँकि जब मेरा ध्यान फोटो पर चला जाता है तो इस कागज की लिखावट मेरी दृष्टि में या तो धुँधली हो जाती है या बिल्कुल लुप्त जैसी हो जाती है।

यही कारण है कि ध्यान से पुस्तक पढ़ने अथवा अध्यापक की बात सुनने से लिखी गई या कही गई बातें अधिक स्पष्टता से समझ में आती हैं।

(५) ध्यान सोद्देश्य होता है (Attention is purposive)—साधारणतः ध्यान देने की प्रक्रिया के पीछे कोई-न-कोई प्रेरक शक्ति (motive) काम करती रहती है। अस्तु, व्यक्ति जब किसी उत्तेजना-विशेष पर अपनी-अपनी अभिलाषा के अनुसार ध्यान देता है तो उसके पीछे उसके किसी-न-किसी उद्देश्य की प्राप्ति का लक्ष्य छिपा रहता है। विद्यार्थी जब अपने पुस्तकों को पढ़ने में ध्यान देता है तो उसका उद्देश्य होता है परीक्षा में अच्छी तरह उत्तीर्ण होकर प्रतिष्ठा प्राप्त करना। जब कोई विद्यार्थी पढ़ाई से अधिक अपने फैशन पर ध्यान देने लगता है तो उसका उद्देश्य होता है दूसरो का ध्यान अपनी ओर अकृष्ट करना।

परन्तु इनके अतिरिक्त, ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जब मनुष्य का ध्यान बिना किसी निश्चित उद्देश्य के भी किसी उत्तेजना-विशेष की ओर चला जाता है। ऐसी परिस्थितियों में उत्तेजना-विशेष में ऐसी विलक्षणता अथवा विशिष्ट गुण होते हैं कि हमारा ध्यान-

बरबस उनकी ओर चला जाता है। जैसे अभी अचानक अगर एक हवाई जहाज इस कमरे के ऊपर से उड़ता हुआ चला जाए तो उसकी ओर हमारा ध्यान अनायास चला जाता है। परिस्थिति की नवीनता की ओर हम ध्यान दिये बिना नहीं रहते। परन्तु ध्यान से देखा जाय तो यहाँ भी व्यक्ति में उसकी जिज्ञासा की संतुष्टि देखी जाती है। सामाजिक उद्देश्य स्वतः पूर्ण होता पाया जाता है।

(६) **ध्यान की क्रिया में शारीरिक अभियोजन सम्मिलित होता है** (Attention involves bodily adjustments)—ध्यान की क्रिया में मानसिक अभियोजन के अतिरिक्त शारीरिक अभियोजन भी पाया जाता है। जब हम किसी वस्तु को बहुत ध्यान से देखते रहते हैं तो केन्द्रीय स्नायु-मण्डल के अभियोजन (Central nervous-system's adjustment) के अतिरिक्त हमारे ग्राहकेन्द्रिय (Receptors), शरीर की मुद्रा (Pose), तथा मासपेशियों आदि में भी अभियोजन होते पाये जाते हैं। ये शारीरिक अभियोजन ध्यान के क्षेत्र में आयी हुई उत्तेजनाविशेष की स्पष्टता को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। केन्द्रीय स्नायु-मण्डल के अभियोजन के अलावे निम्नलिखित शारीरिक अभियोजन पाये जाते हैं :—

(१) **ग्राहकेन्द्रिय-अभियोजन** (Receptor adjustment)— जब हम किसी दृष्टि-उत्तेजना (Visual stimulus) पर ध्यान देते हैं तो हमारी आँखें उस उत्तेजना की ओर मुड़ जाती हैं। हम एकटक उसे देखते रहते हैं। आँखों की पलकों का उठना-गिरना कम हो जाता है। इसी प्रकार किसी ध्वनि की ओर ध्यान देने के वक्त हमारे कान उस पर लग जाते हैं तथा उसके अन्दर की पेशियों में ध्वनि-विशेष को ग्रहण करने के लिए एक विशेष तत्परता (Readiness) उत्पन्न हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब हम किसी सुगन्धि पर ध्यान देते हैं तो अपनी नाक को सुगन्धि के समीप ले जाने का प्रयास करते हैं।

(२) **शरीर की मुद्राओं के द्वारा किया गया अभियोजन**—(Postural adjustment)—वर्ग मे अध्यापक के भाषण को ध्यान से सुनते समय छात्रों का शरीर कुछ-न-कुछ अध्यापक की ओर झुक जाता है। गर्दन, हाथ-पैर आदि सबके सब एक मुद्राविशेष में हो जाते हैं। कोई अध्यापक की ओर गर्दन उठाए एकटक अध्यापक को देखता होता है। उनके कान अध्यापक की आवाज की ओर कुछ मुड़े रहते हैं। कुछ तो हथेली पर गाल रखे

भाषण पर ध्यान देता रहता है। ध्यान के समय शरीर शान्त रहता है। हिलना-डोलना भी बहुत कम हो जाता है। साँस की गति एवं रक्त-संचार में भी परिवर्तन पाये गये हैं। अत्यधिक ध्यान की अवस्था में श्वॉस अत्यन्त धीमी हो जाती है। अस्तु, इसे 'प्रशांत-ध्यान' (Breathless attention) या 'श्वाँस-रहित ध्यान' कहते हैं। यह बात किसी प्रभावोत्पादक भाषण होते समय व्यक्ति की मुद्राओं का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो सकेगी। ध्यान की अवस्था में मांसपेशियों मे कुछ तनाव भी (Muscle tension) उत्पन्न हो जाते हैं। तनाव की तीव्रता अधिकतर उत्तेजना से सम्बन्धित ग्राहकेन्द्रिय मे अधिक पायी जाती है। अस्तु, हम देखते हैं कि ध्यान देने की क्रिया मे शरीर मे बाहरी एवं भीतरी (External and Internal) दोनों प्रकार के परिवर्तन एवं अभियोजन होते हैं।

ध्यान के प्रकार (Kinds of Attention)

ध्यान देने की क्रिया मनुष्य में जन्म से लेकर मरण तक पायी जाती है। वातावरण मे उचित अभियोजन के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे उत्पन्न भिन्न-भिन्न उत्तेजनाओं पर ध्यान देना प्राणी के लिए आवश्यक होता है। मनुष्यों के ध्यान की सारी क्रियाओं को मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित प्रमुख प्रकारों से बाँटा है—
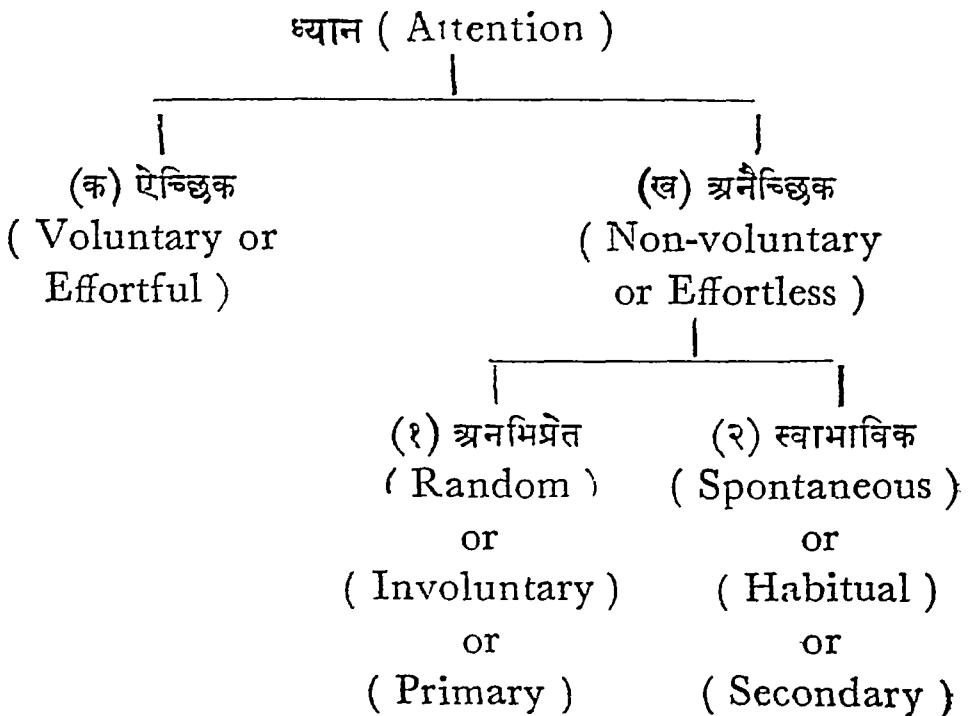
(क) ऐच्छिक ध्यान (Voluntary Attention)—ऐच्छिक ध्यान बालकों से अधिक वयस्कों में पाया जाता है। इस प्रकार के ध्यान के तीन प्रमुख तत्व हैं—

(१) व्यक्ति की इच्छा (Desire)

(२) व्यक्ति के सामने कोई लक्ष्य (Aim) या ध्येय

(३) व्यक्ति का प्रयास (Attempt or Endeavour)

इसमें मनुष्य अपनी इच्छा एवं अभिरुचि के अनुकूल किसी उत्तेजना-विशेष पर ध्यान देता है। इस प्रकार के ध्यान की क्रिया में कोई बाधक उत्तेजना (Distraction) क्रियाशील हो जाती है तो व्यक्ति उस बाधक उत्तेजना की उपेक्षा करने का भरपूर प्रयास करता है, और अपने ध्यान की क्रिया को भंग (Break of attention) नहीं होने देता। मान लीजिये कि मनोविज्ञान पढने में किसी छात्र का जी नहीं लगता। फिर भी परीक्षा नजदीक आने पर वह खेलना, घूमना-फिरना, सिनेमा, ताश आदि को छोड़कर मनोविज्ञान पढ़ने में ध्यान लगाता है। अगर घर के आस-पास के शोरगुल से बाधा भी पहुँचती है तो परीक्षा पास करने के ध्येय से इच्छापूर्ण वह पाठ्य विषय पर ध्यान लगाये रहने का प्रयास करता है। इस प्रकार के ध्यान को ऐच्छिक ध्यान (Voluntary or Effortful attention) कहते हैं।

(ख) अनैच्छिक ध्यान (Involuntary Attention)—अनैच्छिक ध्यान की क्रिया में मनुष्य जान-बूझकर ध्यान नहीं देता, बल्कि उत्तेजना-विशेष में कुछ ऐसे गुण होते हैं जिसके कारण हमारा ध्यान अनायास उस उत्तेजना-विशेष की ओर चला जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे अनैच्छिक ध्यान (Effortless attention) कहकर पुकारा है। अनैच्छिक ध्यान को मनोवैज्ञानिकों ने दो भागों में बाँटा है—पहला है, अनभिप्रेत ध्यान और दूसरा है स्वाभाविक ध्यान।

(१) अनभिप्रेत अनैच्छिक ध्यान (Random Involuntary attention)—उत्तेजनाविशेष कुछ इतनी प्रबल एवं आकर्षक होती है कि हम अपने ध्यान को उस ओर जाने देने से रोक नहीं पाते। कभी-कभी तो हम रोकने की भरपूर कोशिश अगर करते भी हैं तो भी हमारा ध्यान उस उत्तेजना-विशेष की ओर चला ही जाता है। यहाँ हमारी इच्छा तथा अभिरुचियों का स्थान गौण रहता है। जैसे बादल की गड़गड़ाहट पर हमारा ध्यान तुरत चला जाता है। अगर कॉलेज के बरामदे पर कोई

गदहा चलता नजर आये तो हमारा ध्यान, हमारी इच्छा रहे या नहीं उस ओर चला ही जाता है। मनुष्य के जीवन के प्रारम्भ में अनैच्छिक ध्यानों की ही प्रधानता रहती है। ऐच्छिक ध्यान की शक्ति मनुष्य में धीरे-धीरे परिपक्वता के साथ-साथ बढ़ती जाती है। बच्चों का ध्यान चमकीली चीजों तथा नये खिलौने अथवा भिन्न-भिन्न आवाजों पर तुरत चला जाता है। इसमे बच्चे की इच्छा से अधिक उत्तेजना की नवीनता, सामीप्य, तीव्रता, चमक आदि का महत्व रहता है। विचारार्थ दृष्टिकोण से अनैच्छिक ध्यान का विकास मनुष्यों में पहले होता है। अस्तु, इस प्रकार के ध्यान को कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रारम्भिक ध्यान (Primary attention) की संज्ञा दी है।

अगर हम ध्यान से देखें तो इस प्रकार के ध्यान मे मनुष्य की इच्छाओं की अवहेलना ही होती है। कभी-कभी तो हमें अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी उत्तेजना पर ध्यान देना पड़ता है। इस रूप मे हमारा ध्यान पूर्ण अनैच्छिक होता है। जैसे अभी मैं लिख रहा हूँ और अगर कोई मित्र महोदय आकर दरवाजे पर बार-बार खट-खट करें तो एक दफा के बाद मुझे पूर्ण अनिच्छा रहने पर भी उधर ध्यान देना ही पडेगा। अतः कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसे अनभिप्रेत ध्यान की संज्ञा देना अधिक उचित समझा है।

(२) स्वाभाविक अनैच्छिक ध्यान (Spotaneous or Habitual or Non-Voluntary attention)—स्वाभाविक ध्यान भी एक प्रकार का अनैच्छिक ध्यान ही होता है। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब किसी उत्तेजना-विशेष की ओर हमारा ध्यान सहसा चला जाना है। उत्तेजनाओं का हमारी अभिरुचि, शिक्षा, अभ्यास, मनोवृत्ति आदि से कुछ इतना निकट का सम्बन्ध होता है कि हमारा ध्यान खिचकर चला जाता है। एक विद्वान का ध्यान उसकी रुचि से सम्बन्धित किसी भी नई पुस्तक पर सहसा चला ही जाता है। संगीत प्रेमियों का ध्यान सगीत की ओर गये बिना नहीं रह सकता। एक सिविल इञ्जीनियर का ध्यान सड़क अथवा मकानों की बनावट की ओर, एक हजाम का ध्यान आपके बालों की ओर, सड़कपर दुकान खोले मोची का ध्यान आपके जूतों की ओर अथवा किसी युवक का ध्यान किसी युवती की ओर जाना स्वाभाविक अनैच्छिक ध्यान के अच्छे उदाहरण हैं। उसी प्रकार एक चित्रकार का ध्यान किसी चित्र, पेंटिंग या रंगाई (Painting) पर चला जाता है। यहाँ ध्यान

जाने के लिए चित्रकार की अपनी रुचि, अभ्यास, शिक्षा, स्वभाव आदि का हाथ रहता है। अर्जित (Acquired) प्रेरक-शक्तियों (Motivating forces) तथा जन्मजात (Inborn) शक्तियों का प्रभाव भी ध्यान देने की क्रिया पर स्पष्ट देखा जाता है। अतः भूख की अवस्था में भोजन पर, प्यास की अवस्था में पानी पर, कामोद्दीपन की अवस्था मे विपरीत योनि के व्यक्तियों पर ध्यान गये विना नहीं रहता।

किसी उत्तेजना की ओर दिये गये ऐच्छिक ध्यान को व्यक्ति यदि उसी उत्तेजना के लिए बार-बार दुहराता है तो अभ्यास के फलस्वरूप ऐच्छिक ध्यान बदलकर स्वाभाविक ध्यान का रूप धारण कर लेता है। स्वाभाविक ध्यान के लिए व्यक्ति का उस उत्तेजना पर ध्यान देने का भूतकाल में किया गया अभ्यास बहुत महत्त्वपूर्ण है। कवि को कविता पर ध्यान देने का अभ्यास बहुत हो चुका होता है। इसीलिए किसी नई कविता की ओर उसका ध्यान विना किसी उपक्रम के सहसा चला जाता है। अतः स्वाभाविक ध्यान को अभ्यासात्मक ध्यान कहा गया है।

ध्यान निर्धारक (Conditions or Determiners of Attention)—अब तक हमलोगों ने देखा है कि हम जानकर कुछ चीजों पर ध्यान देते हैं तथा कुछ पर हमारा ध्यान स्वभावतया विना विशेष प्रयास के ही चला जाता है। अब हमें देखना है कि किसी वस्तु पर ध्यान चले जाने का क्या कारण है। इन्हीं कारणों को अंग्रेजी में Causes, Reasons, Conditions, or Determiners of Attention की संज्ञा दी गई है। हिन्दी में इन्हें 'ध्यान निर्धारक' या 'ध्यान प्रतिबंधक' की संज्ञा दी गई है।

सच तो यह है कि कई कारणों से हमारा ध्यान किसी उत्तेजना-विशेष की ओर जाता है। इन कारणों को स्पष्टरूप से समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने इन्हें दो भागों में बाँटा है—

(क) वाह्य निर्धारक (Objective Conditions)।

(ख) आन्तरिक निर्धारक (Subjective Conditions)।

वाह्य निर्धारकों के अन्तर्गत हम उन अवस्थाओं (Conditions) को रखते हैं जिनमें किसी वस्तुविशेष की ओर हमारा ध्यान उस वस्तु से उत्पन्न वाह्य उत्तेजना (External stimulus) के स्वरूप, आकार, रंग, स्थिति, प्रबलता, परिवर्तन अथवा पुनरावृत्ति आदि के कारण चला

जाता है। ये कारण अथवा निर्धारक सर्वथा उस वस्तु में उत्पन्न उत्तेजना की विशेषता एवं वाह्य वातावरण से सम्बन्ध रखते हैं।

ठीक इनके विपरीत कुछ ऐसे कारण हैं जो ध्यान देने की वस्तु नहीं बल्कि ध्यान देनेवाले व्यक्ति की आन्तरिक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे—व्यक्ति की किसी उत्तेजना एवं वस्तु पर ध्यान जाने के इन आन्तरिक कारणों जैसे मनोवृत्ति, आदत, शिक्षा, जिज्ञासा आदि को आन्तरिक निर्धारक कहते हैं। यह आन्तरिक कारणों का ही प्रभाव है कि वातावरण में उपस्थित समान रूप से आकर्षक वस्तुओं के बीच भी, एक व्यक्ति, एक समय सभी पर ध्यान न देकर अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुकूल किसी एक ही उत्तेजनाविशेष पर ध्यान देता पाया जाता है।

वाह्य-निर्धारक मनुष्य के शरीर के वाहरी वातावरण में हैं तथा आन्तरिक निर्धारक मनुष्य के अन्दर। अब हम इन वाह्य एवं आन्तरिक ध्यान-निर्धारकों अथवा प्रतिवन्धकों की चर्चा अलग-अलग करें।

(क) वाह्य निर्धारक (Objective Conditions)

(१) **उत्तेजना में परिवर्तन**—यदि व्यक्ति के निकट के वातावरण में उपस्थित सामान्य उत्तेजनाओं में अचानक कोई परिवर्तन आ जाये तो उस व्यक्ति का ध्यान उस उत्तेजना के परिवर्तन की ओर चला जाता है। जैसे गर्मी के दिनों मे सहसा वर्ग में चलते बिजली के पंखे बन्द हो जाये अथवा दिन मे सारे के सारे बल्व जल उठें तो विद्यार्थियों का ध्यान उस ओर चला जायेगा। कालेज के शान्त वातावरण में अगर लड़के सहसा शोरगुल करने लगें तो शोरगुल की तरफ हमारा ध्यान चला जाता है। यहाँ पर ध्यान देने की एक बात यह है कि ये परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं—

(क) क्रमिक परिवर्तन (Gradual change)

(ख) आकस्मिक परिवर्तन (Sudden change)

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि वातावरण में होनेवाले अचानक परिवर्तन ही हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट कर पाते हैं। जो परिवर्तन धीरे-धीरे होता है उस तरफ या तो हमारा ध्यान जाता ही नहीं और जाता भी है तो कभी-कभी। जैसे, मौसम का बदलना, सुबह से प्रकाश एवं गर्मी का संध्या तक घटना या बढ़ना आदि। जो परिवर्तन जितना ही धीरे-धीरे होता है उधर हमारा ध्यान उतना ही कम जाता है।

यदि सहसा भूकम्प आ जाये, पड़ोस में आग लग जाये, रेलगाड़ी चलते-चलते सहसा रुक जाये, या कोई व्यक्ति भाषण करता हुआ गश खाकर सहसा गिर जाये, भाषण में लाउड-स्पीकर का एकाएक काम करना बन्द हो जाये, शहरों में अचानक बिजली की लाइन कट जाये आदि तो उत्तेजना के ऐसे परिवर्तनों की ओर हमारा ध्यान चला जाता है।

(२) **उत्तेजना की पुनरावृत्ति** (Repetition of the stimulus)—ध्यान आकृष्ट करने के लिए उत्तेजनाविशेष की पुनरावृत्ति आवश्यक है। हो सकता है, दरवाजे पर आये हुए आपके मित्र के एक बार दरवाजा खटखटाने पर आपका ध्यान नहीं जाये और आप अपने कमरे मे पढ़ने मे लगे रहें। परन्तु आपके मित्र अगर बार-बार दरवाजा खटखटाते चले जाएँ तो आपका ध्यान दरवाजे की ओर जरूर चला जायेगा। बार-बार एक ही उत्तेजना के उपस्थित होने पर हमारा ध्यान उसकी ओर गये बिना नहीं रहता। एक व्याख्यानदाता अपनी बातों को बार-बार जनता के सामने सिर्फ इसलिए उपस्थित करता है कि जनता का ध्यान उसकी ओर पूर्ण रूप मे जा सके। शिक्षक एक ही बात को बार-बार दुहराते हैं जिससे कि लड़के ध्यान दें और बात समझ जाएँ। यही कारण है कि प्रचारक (Propagandist) अपनी बातों का प्रचार (Advertisement) बार-बार करता है। यदि पुनरावृत्ति (Repetition) के साथ-साथ उत्तेजनाओं का परिवर्तन (Change) भी करता चला जाय तो उस उत्तेजना की ओर और ध्यान चला जाता है। अतः प्रचारक अपनी बातों का प्रचार बदलते हुए विज्ञापनों के द्वारा करता है। अखबारों के लिए चाय, सिगरेट, साबुन, साइकिल, सेंट, सेण्टेड तेल आदि के प्रचार में हम पुनरावृत्ति ही नहीं पाते वरन् हरएक बार उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन एवं नयापन (Novelty) भी पाते हैं। रेडियो-केन्द्रों के व्यापार-विभाग के द्वारा भी प्रचार के लिए पुनरावृत्ति एवं परिवर्तन की विधि खूब अपनायी जाती है। उदाहरण के लिए सिलोन रेडियो-केन्द्र का व्यापार-विभाग लिया जा सकता है।

(३) **उत्तेजना की अवधि** (Duration of the Stimulus)—जो उत्तेजना हमारे समक्ष अधिक समय तक रहती है उसपर हमारा ध्यान विशेषकर चला जाता है। अगर कोई उत्तेजना क्षण भर के लिए हमारे समक्ष उपस्थित हो तो हमारा ध्यान उस तरफ नहीं भी जा सकता है। यही कारण है कि प्रचारक होटलों के टेबुल की ऊपरी सतह पर लगे शीशे के अन्दर

तीव्रता का ही परिणाम है कि बरसाती बादलों के बीच रह-रहकर चमक उठनेवाली बिजली हमारा ध्यान खींच ही लेती है। कोई भी तीव्र खुशबू अथवा बदबू (अमोनिया) का निकलना, टायर का अचानक फटना (Tyre bursting), मिल, रेल-इञ्जिन अथवा आग बुझानेवाली गाड़ी (Fire brigade) की आवाज, अन्धकार में रोशनी का तेज 'फोक्स' (Focus) आदि अपनी तीव्रता के कारण ध्यान आकर्षित करती हैं। फुटबॉल खेलते हुए लड़के का ध्यान अचानक पैर का अँगूठा फूट जाने पर तुरत भले नहीं जाए परन्तु जब उसके अँगूठे की पीड़ा अत्यधिक तीव्र हो जाती है तो लड़के का ध्यान फूटे हुए अँगूठे की ओर चला ही जाता है। यह इसलिए होता है कि उत्तेजना की तीव्रता बहुत अंशों मे उत्तेजना को अधिक स्पष्ट बना देने में सहायक है। स्पष्ट उत्तेजनाएँ, अस्पष्ट उत्तेजनाओं की अपेक्षा ध्यान अधिक आकर्षित करती है।

(८) उत्तेजना में गति (Movement)—गतिशील उत्तेजनाओं में ध्यानाकर्षण की क्षमता स्थिर उत्तेजनाओं के बनिस्बत अधिक रहती है। स्थिर वस्तुओं पर हमारा ध्यान अपेक्षाकृत चलती चीजों की ओर से कम हो जाता है, परन्तु चलती हुई गाड़ियाँ; दौड़ता हुआ व्यक्ति; भागता हुआ जानवर, हमारे ध्यान को विशेष आकर्षित कर लेता है। शहरों में दुकानों के साइनबोर्ड के चारो तरफ अथवा प्रचार के लिए जगह-जगह बिजली के बल्बों को कुछ इस प्रकार रखा जाता है कि 'स्विच-ऑन' कर देने पर ऐसा लगता है कि रोशनी एक बल्ब से निकलकर दूसरे में प्रविष्ट कर जाती है तथा फिर दूसरे बल्ब से निकलकर तीसरे में; फिर तीसरे से निकलकर चौथे में, तथा इसी प्रकार निकलती एवं प्रविष्ट करती चली जाती है। देखने से लगता है कि ये बल्ब अलग-अलग क्रमानुसार जल एव बुझ नहीं रहे हैं बल्कि यह एक ही रोशनी है जो बल्बों के बीच से गुजरती जा रही है। ऐसा प्रबन्ध इसलिए किया जाता है कि रोशनी का चलना व्यक्ति के ध्यान को आकर्षित करने में सफल होता है। प्रचार करने के लिए बड़े-बड़े शहरों में जगह-जगह सिर्फ कागज पर छपे चित्रों को न चिपकाकर बल्कि उनसे सम्बन्धित चल-चित्रों (Motion pictures) को भी निःशुल्क दिखलाया जाता है। परिणाम यह होता है कि अधिक जनता का ध्यान आकर्षित हो पाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गतिशील उत्तेजनाएँ व्यक्ति का ध्यान विशेषकर अपनी ओर खींच लेती हैं।

(६) उत्तेजना की स्थिति (Position of stimulus)—उत्तेजना की स्थिति भी ध्यानाकर्षण के लिए एक महत्वपूर्ण निर्धारक है। अगर हम दैनिक समाचार-पत्र में नौकरी के लिए 'वाण्टेड-कौलम' (Wanted column) देखना चाहते हैं तो अखबार में इसके लिए एक निश्चित स्थान बना होता है जहाँ 'वाण्टेड का कौलम' छपा होता है। जैसे—अपने प्रान्त के दो दैनिक 'इण्डियन नेशन' तथा 'सर्चलाइट' समाचार-पत्रों में 'वाण्टेड का कौलम' प्रथम पृष्ठ की पीठ पर छपा होता है। नौकरी के उम्मीदवारों का ध्यान यह बहुत जल्द आकर्षित करता है। ठीक इसी प्रकार प्रथम पृष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों के पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। अन्तिम पृष्ठ सिनेमा प्रेमियों के लिए आकर्षण होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उत्तेजनाएँ अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ होती हैं। किसी भी सभा मे सभापति की कुर्सी पर बैठे हुए व्यक्ति पर ध्यान गये बिना रुक नहीं सकता। यह उत्तेजना की स्थिति का ही परिणाम है कि वर्गभवन में छात्रों का ध्यान शिक्षक की ओर चला जाता है। उत्तेजनाओं की स्थिति उन्हें अपनी विशिष्टता प्रदान करती है। यही कारण है कि बारात पार्टी में लोगों का ध्यान बारात में आये अन्य व्यक्तियों से अधिक मण्डप के नीचे बैठे हुए वर अथवा वधू पर चला जाता है।

(१०) उत्तेजना की विविक्तता (Isolation of stimulus)—मान लीजिए कि वर्ग में प्रोफेसर महोदय भाषण दे रहे हैं। अगर इन लड़को मे से एक उठकर कमरे के पिछले दरवाजे पर खड़ा हो जाय तो हमारा ध्यान उस लड़के पर जरूर चला जायगा। कहीं कोई उत्सव हो रहा हो और उस उत्सव में सबलोगों से अलग हटकर अगर कोई व्यक्ति चुपचाप खड़ा हो जाये तो उस व्यक्ति पर हमलोगो का ध्यान चला जाता है। लड़के या व्यक्ति के अलग अकेले खड़े होने के कारण ही हमारा ध्यान उस ओर चला जाता है। यहाँ उत्तेजना (व्यक्ति या बालक) में जिस गुण के रहने के कारण व्यक्ति का ध्यान उस ओर खिंच जाता है उस गुण को उत्तेजना का 'पार्थक्य या विविक्तता' का गुण कहते हैं।

(११) उत्तेजना का स्वरूप (Nature of Stimulus)—हमारी भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों के क्रियाशील होने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजनाओ की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—आँखों के लिए प्रकाश-

अपना विज्ञापन लगा देता है ताकि ग्राहक का ध्यान उसपर गये बिना नहीं रहे, क्योंकि वह वहाँ कुछ देर ठहरता है। अगर एक ही वस्तु का विज्ञापन सड़कों पर घण्टों किया जाय तो हमारा ध्यान उधर चला जाता है। अधिक अवधि बढ़ाने के लिए पुनरावृत्ति एवं परिवर्त्तन की विधियों का भी सहारा लेना पड़ता है।

(४) उत्तेजना का आकार (Size of the object)—जो उत्तेजना जितनी ही बड़ी है उसपर हमारा ध्यान उतना ही जल्द चला जाता है। अपेक्षाकृत छोटे उत्तेजक हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाते। यही कारण है कि समाचारपत्रों में विज्ञापनदाता अपना विज्ञापन बड़े-बड़े अक्षरो में छपवाते हैं। कभी-कभी तो वे पूरे पेज पर अपना एक ही विज्ञापन छपवाते हैं। विशाल टकी, विशाल भवन, विशालकाय आदमी या जानवर आदि पर भी हमारा ध्यान जल्द चला जाता है।

(५) उत्तेजनाओं के बीच विरोध (Contrast)—हमारा ध्यान किसी बड़े जानवर अथवा भवन पर सिर्फ इसलिए नहीं चला जाता है कि उन उत्तेजनाओं का आकार बड़ा है, बल्कि इसलिए भी चला जाता है कि बड़े उत्तेजक तथा उसी प्रकार के छोटे उत्तेजकों की उत्तेजनाओं में विरोधाभास का अन्तर है। जब बड़े हाथी पर ध्यान चला जाता है तब हमारे मस्तिष्क में उस हाथी की तुलना आपसे आप छोटे जानवरों से भी हो जाती है। अस्तु, 'विरोध और आकार', दोनो ध्यान निर्धारकों को एक दूसरे का पूरक समझना चाहिए। दो उत्तेजनाओं के बीच जितना ही अधिक विरोध है, उतना ही अधिक शीघ्र हमारा ध्यान उनपर जाता है। जैसे—पौष्टिक दवा के विज्ञापन में आपने देखा होगा कि बीच में दवा का नाम लिखा होता है तथा एक ओर एकदम ठठरी जैसा कमजोर व्यक्ति का चित्र होता है और दूसरी तरफ एक पहलवान व्यक्ति का चित्र होता है। दोनों के नीचे क्रमशः लिखा होता है, 'दवा खाने के पहले' तथा 'दवा खाने के बाद।' दोनों चित्रों के विरोध के कारण पाठकों का ध्यान उस दवा पर गये बिना नहीं रहता। इसी प्रकार ध्यान आकृष्ट करने के लिए विज्ञापन में विरोधी रंगों, ध्वनियों, बनावटो आदि का प्रयोग किया जाता है। यह विरोध का ही परिणाम है कि झोपड़ियों के गाँव में एक बड़े पक्के का घर, काले लोगो के बीच एक अंग्रेज, सामान्य कद के लोगों के बीच एक बौना हमारा ध्यान अपनी ओर खींच लेता है।

(६) नवीनता (Novelty)—उत्तेजना की नवीनता भी एक प्रमुख ध्यान-निर्धारक है। नवीन स्वरूप, गन्ध अथवा ध्वनि, हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। हम उन्हीं उत्तेजनाओं को नवीन कहते हैं जिन्हें हम साधारणतः अपने वातावरण में नहीं पाते हैं, तथा जो हमारे सम्मुख अपने नवीन रूप में उपस्थित होती हैं। नवीन वस्तु, अथवा स्थिति उन वस्तुओं एवं स्थितियों को कहते हैं जिससे हम परिचित या अभ्यस्त नहीं रहते हैं। आज अपने कॉलेज के बरामदे पर दो एक अंग्रेज गुजरता नजर आये तो हमारा ध्यान उसकी ओर चला जायेगा। गावों में अगर एक नव-दम्पति हाथ मे हाथ डाले सडकों तथा मैदानो में सैर करते हैं तो वे गाँववालों का ध्यान अपनी ओर खींच लेते हैं। नई सजावट, नया संगीत, नये विचार, वर्ग में आनेवाला नया लडका, नया फैशन, अर्थात् नये डिजाइन के कोट, कमीज, ब्लाउज, फ्राक आदि कुछ अच्छे उदाहरण हैं जिन पर हमारा ध्यान चला जाता है। यही कारण है कि बहुरुपिया जो हर रोज नया 'मेक-अप' के द्वारा नया-नया रूप धारण करता है हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहता। छोटे-छोटे शहरों मे अगर कोई स्त्री मोटर साइकिल अथवा मोटर चलाती नजर आये अथवा किसी होटल में लड़कियाँ 'वेयरा' का काम करती हों, या कोई पागल व्यक्ति नंगा अथवा अजीब-अजीब बातें बोलता हुआ फुटपाथ पर चक्कर लगाता रहे, तो हमारा ध्यान उनकी ओर गये बिना नहीं रहता। ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि उत्तेजनाओं के परिवर्तन अथवा विरोध भी हमारा ध्यान इसलिए आकर्षित कर पाते हैं, चूँकि परिवर्तन अथवा विरोध के कारण उनमें एक नवीनता आ जाती है।

(७) उत्तेजना की तीव्रता (Intensity)—कम तीव्र उत्तेजनाओं की अपेक्षा अधिक तीव्र उत्तेजनाएँ हमारा ध्यान अधिक शीघ्रता से अपनी ओर खींच लेती हैं। लाउड-स्पीकर की आवाज हमारा ध्यान साधारण बोल-चाल की आवाज के बनिस्बत अधिक जल्द आकर्षित करती है। बादल की भयंकर गड़गड़ाहट पर हमारा ध्यान गये बिना रह नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार अगर अँधेरी रात मे सड़क पर एक व्यक्ति जलती हुई लालटेन लिये जा रहा है तथा थोड़ी दूर पर दूसरा व्यक्ति जलता हुआ पेट्रोमैक्स लिये जा रहा है तो देखनेवाले तीसरे व्यक्ति का ध्यान पहले पेट्रोमैक्स की रोशनी पर जायगा। यह मुख्यतः अत्यधिक

तरंग (Light waves), कानों के लिए ध्वनि-तरंग (Sound waves) आदि।

मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि साधारणतः मनुष्यों का ध्यान, दृष्टि-संवेदना अन्य संवेदनाओं की अपेक्षा अधिक आकृष्ट कर पाती है। दृष्टि-सम्बन्धी उत्तेजनाओं में भी जो उत्तेजनाएँ रंगीन हैं, वे अन्य रंग-विहीन उत्तेजनाओं की अपेक्षा अधिक शीघ्र ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। ठीक इसी प्रकार श्रवण-सम्बन्धी उत्तेजनाओं में मधुर संगीत की उत्तेजना साधारण बोल-चाल की उत्तेजना से अधिक आकर्षक होती है।

(ख) आन्तरिक निर्धारक (Internal Conditions)—

अभी हमलोगों ने यह चर्चा की है कि रंगीन वस्तुएँ हमलोगों का ध्यान रंगविहीन वस्तुओं की अपेक्षा अधिक आकृष्ट कर पाती हैं। यदि रंगीन वस्तुओं का रंग हमारी अभिरुचि, लक्ष्य आदि के अनुसार हुआ तो हमारा ध्यान निश्चित रूप से उस पर चला जाता है। अस्तु, बाह्य-निर्धारकों को आन्तरिक-निर्धारकों से पूर्णतः भिन्न नहीं समझना चाहिए। जब किसी वस्तु पर हम ध्यान देते हैं तो साधारणतः बाह्य और आन्तरिक दोनों निर्धारक काम करते हैं। एक ही समय प्रायः एक से अधिक ध्यान-निर्धारक क्रियाशील देखे जाते हैं।

(१) अभिरुचि (Interest)—जिस वस्तु में हमारी अभिरुचि रहती है उसकी ओर हमारा ध्यान अवश्य जाता है। एक मनोवैज्ञानिक अपनी अभिरुचि के कारण ही लोगों के व्यवहारों पर ध्यान देता है। कविता प्रेमी का ध्यान कविता की ओर, विद्वानों का ध्यान नई-नई पुस्तकों की ओर, सिनेमा में रुचि रखनेवालों का ध्यान सिनेमा हॉल (Cinema Halls) अथवा सिने-पोस्टर्स अथवा सिने-मैगजिन्स की ओर चला जाता है। यही कारण है कि 'मैटिनी शो' सिनेमा देखने के इच्छुक छात्रों का ध्यान वर्ग की पढ़ाई की ओर न जाकर बार-बार घड़ी की सूई पर ही जाता रहता है।

यूँ तो अभिरुचियाँ कितनी ही प्रकार की होती हैं, परन्तु निम्नलिखित प्रकार से भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है।

(१) मूल-प्रवृत्यात्मक अभिरुचि (Instinctive)।

(२) अभ्यास-जन्य अभिरुचि (Habitual)। तथा

(३) परिस्थिति-जन्य क्षणिक अभिरुचि (Temporary)।

यह मूल प्रवृत्त्यात्मक अभिरुचि का ही परिणाम है कि बच्चे का ध्यान खेल पर, बिल्ली का ध्यान चूहे पर, कुत्ते का ध्यान बिल्ली पर, पुरुषों का ध्यान स्त्री पर, तथा तितली का ध्यान फूल पर चला जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ अभिरुचियों को मनुष्य अपनी शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा अर्जित करता है। जैसे. अखबार पढ़ते समय 'स्पोर्ट्स' (Sports) में अभिरुचि रखनेवाले व्यक्ति का ध्यान खेल-कूद की खबरों की ओर तुरत चला जाता है।

'नई रोशनी' के नवयुवकों अथवा नवयुवतियों का ध्यान 'फैशन' (Fashion) के किसी नये 'कट' की ओर अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र एव जरूर चला जाता है। जिसमें अनुसन्धान (Research) के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है उसका ध्यान 'फैशन' के नये 'कट' की ओर न जाकर अपने अनुसन्धान की समस्या से सम्बन्धित बातों की ओर गये बिना नहीं रहता।

कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमे थोड़ी देर के लिए हमारी आवश्यकताओं से सम्बन्धित वस्तुओं की ओर हमारा ध्यान चला जाता है। जैसे—पत्र लिखते समय लिफाफा एवं पोस्टकार्ड हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। अगर कोई व्यक्ति सिगरेट जलाना चाहता है तो थोड़ी देर के लिए उसकी अभिरुचि दियासलाई के प्रति हो जायेगी और उसका ध्यान सलाई पर चला जायेगा।

सिगरेट पीते समय व्यक्ति का ध्यान 'ऐश ट्रे' (Ash tray) की ओर चला जाना. टिकट साटते समय गोंद पर ध्यान चला जाना आदि परिस्थिति-जन्य क्षणिक अभिरुचि के कारण ध्यानाकर्षण के सुन्दर उदाहरण हैं।

यहाँ यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि हमारी अभिरुचियों का सम्बन्ध हमारी शारीरिक आवश्यकताओं जैसे भूख, प्यास, यौन-समागम की इच्छा तथा सामाजिक प्रेरणा दोनों से है। अस्तु, किसी वस्तु पर ध्यान देने में शारीरिक आवश्यकताओं (Bodily needs) एवं सामाजिक प्रेरणाओं (Social motives) दोनों का प्रभाव देखते हैं। जब व्यक्ति भूखा होता है तो राह चलते समय भोजनालय एवं रेस्तराँ की ओर ध्यान चला ही जाता है। प्यासे का ध्यान किसी ठण्डे शर्बत की दुकान अवश्य खींच लेती है।

(२) जिज्ञासा (Curiosity)—मनुष्य मे जिस वस्तु के विषय में जानने की उत्सुकता होती है उसकी ओर उसका ध्यान अवश्य चला जाता है। अगर मनोविज्ञान के प्रति कोई जिज्ञासु व्यक्ति किसी लाइब्रेरी (Library) में पहुँचता है और पुस्तकों को घूम-घूमकर देखना शुरू करता है तो मनोविज्ञान की किताबें उसका ध्यान तुरन्त आकर्षित कर लेंगी।

साधारतः हम नयी चीजों को जानने के लिए इच्छुक हो जाते हैं। यही कारण है कि 'नवीनता' तथा जिज्ञासा का आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा दोनों हमारे ध्यान-निर्धारक हैं।

(३) आदत (Habit)—ताड़ी, शराब, गाँजा, भाँग आदि पीनेवाले व्यक्तियों का ध्यान ताड़ीखाना, गाँजा और भाँग आदि की दुकानें अवश्य आकृष्ट कर लेती हैं। पढ़ने-लिखने की आदतवाले व्यक्ति का ध्यान पुस्तकालय, पुस्तक-केन्द्र, कॉलेज आदि तुरत अपनी ओर आकृष्ट कर पाते हैं।

नशेबाजों का ध्यान न केवल नशीली चीजों की दुकानें ही आकृष्ट कर पाती हैं बल्कि उन चीजों से सम्बन्धित बातचीत अथवा कोई घटना भी उनका ध्यान आकृष्ट कर लेती है। मुल्ला का ध्यान मस्जिद की ओर अभ्यास एवं आदत के कारण ही चला जाता है।

(४) शिक्षण (Training)—यह शिक्षण का ही परिणाम है कि एक इन्जीनियर (Engineer) का ध्यान सड़क अथवा मकानों की डिजाइन की ओर, एक मोटर ड्राइवर का ध्यान मोटर के पार्ट-पुर्जों की खराबी की ओर तथा एक कलाकार का ध्यान कलाकृतियों की ओर चला जाता है। व्यक्ति में शिक्षण के द्वारा भी एक विशेष ढंग से सोचने तथा कार्य करने मे निपुणता प्राप्त करने का अभ्यास हो पाता है। अस्तु, अभ्यास और शिक्षण बहुत मिले-जुले ध्यान-निर्धारक हैं। यही अभ्यास एक आदत का रूप ग्रहण कर पाता है जो ध्यान देने की क्रिया के निर्देशन में सहायक है। यही कारण है कि 'दर्जी' का ध्यान कपड़ों की 'फिटिंग' (Fitting) पर, 'चमार' का ध्यान जूतों पर अथवा 'नाई' का ध्यान बालों की हजामत पर, 'पाकेटमार' का ध्यान पाकेट की ओर अथवा 'डाक्टर' का ध्यान रोगी की ओर अवश्य चला जाता है।

(५) उद्देश्य अथवा अभिप्राय (Aim or Purpose)—हमारे ध्यान को किसी वस्तु की ओर ले जाने में हमारे 'उद्देश्य' अथवा लक्ष्य का भी

प्रमुख स्थान है। मान लीजिए, हम घर के फूटे बर्त्तनों की मरम्मत के लिए बाजार निकले हैं। इस समय हमारा ध्यान किसी कपड़े की दुकान पर न जाकर ठठेरे की दुकान पर शीघ्रता से चला जायगा। समाजसेवी का ध्यान समाज के कष्टों के निवारण पर, अपनी मोटर मे पेट्रोल भराने के इच्छुक व्यक्ति का ध्यान 'पेट्रोल पम्प' पर तथा परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने का लक्ष्य रखनेवाले परीक्षार्थी का ध्यान परीक्षा में आने योग्य प्रश्नों पर चला जाता है।

उद्देश्य व्यक्ति के पेशा, शिक्षण तथा आदत से भी पैदा होते हैं।

(६) **मनोवृत्ति** (Attitude)—पेशा तथा शिक्षण का प्रभाव मनुष्यों की मनोवृत्तियों पर भी पड़ता है। सभी मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यह मनोवृत्तियों की भिन्नता का ही परिणाम है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का ध्यान भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर जाता है तथा यदि एक ही वस्तु पर दो व्यक्ति ध्यान दे रहे हों तो उन दोनों व्यक्तियों का ध्यान उस एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर जाता है। मान लीजिए कि किसी ऐतिहासिक स्थल की खुदाई के कारण एक पत्थर की मूर्त्ति निकली है। उसे देखने के लिए एक मूर्त्तिकार एवं इतिहासज्ञ, एक अर्थशास्त्रज्ञ तथा एक शरीरशास्त्रज्ञ जाते हैं। मूर्त्तिकार का ध्यान खुदाई से निकली हुई प्राचीन-काल की इस मूर्त्ति की कला एवं भाव-भंगिमा पर जायगा। इतिहास के ज्ञाता का ध्यान इस प्रश्न पर जाएगा कि मूर्त्ति आज कितने—सौ वर्ष पहले की बनी हुई है तथा उस समय की सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति कैसी थी। अर्थशास्त्र का विद्वान शायद उस मूर्त्ति की प्राचीन कीमत एवं उसके द्वारा परिलक्षित तत्कालीन समाज की आर्थिक स्थिति की ओर आकर्षित होगा। और शरीरशास्त्रज्ञ उस मूर्त्ति की शारीरिक बनावट की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। हमने देखा कि मूर्ति एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने पेशा एवं शिक्षण अथवा वैयक्तिक अनुभव से उत्पन्न अलग-अलग मनोवृत्तियों के कारण उस मूर्त्ति के भिन्न-भिन्न पहलुओं की ओर आकर्षित होते हैं।

(७) **अर्थ** (Meaning)—अगर उत्तेजना-विशेष व्यक्ति के लिए सार्थक है तो उसपर व्यक्ति का ध्यान जायगा। निरर्थक उत्तेजनाओं पर ध्यान अपेक्षाकृत नहीं जाता। यही कारण है कि जिस भाषा का हमें ज्ञान नहीं, उस भाषा मे लिखी अच्छी-से-अच्छी पुस्तकों पर भी हमारा

ध्यान तब तक नहीं जाता जब तक कि उसका अनुवाद देखने को न मिले अथवा कोई उस पुस्तक से हमें परिचित न करा दे।

(८) मानस-वृत्ति अथवा मानसिक स्थिति (Mental set)—मान लीजिए कि कोई व्यक्ति आधी रात बीते भी चोर के भय से जाग रहा है। किसी भी समय चोर आकर सामान गायब कर दे सकता है। इस मानसिक स्थिति मे चूहे के द्वारा की गई एक छोटी-सी खड़खड़ाहट पर भी इस व्यक्ति का ध्यान चला जाता है। साधारण अवस्था मे ऐसी खड़खड़ाहटें उसका ध्यान आकृष्ट नहीं कर पातीं।

प्रेम की मानसिक स्थिति में प्रियपात्र के गुणों पर ही ध्यान जाता है तथा क्रोध की अवस्था में दुश्मन के सिर्फ अवगुण ही ध्यान मे आते हैं। सच पूछा जाय तो ऊपर जितने भी आन्तरिक निर्धारकों की चर्चा की गई है वे सबके सब मनुष्य की मानसिक स्थिति के अन्दर ही सम्मिलित किये जा सकते हैं। अभिरुचि, जिज्ञासा, आदत, शिक्षण, उद्देश्य आदि के कारण व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है जिसका व्यक्ति की मानसिक स्थिति से सम्बन्ध है।

प्रायः किसी वस्तु अथवा स्थिति पर ध्यान देने की क्रिया में वाह्य एवं आन्तरिक दोनों निर्धारक क्रियाशील होते हैं। यही कारण है कि ध्यान की चयनात्मक क्रिया सफल हो पाती है। वे निर्धारक पूर्णतः एक दूसरे से सदा पृथक् नहीं रहते, वरन् वे एक दूसरे के साथ भी क्रियाशील होते हैं। जब किसी तस्वीर पर हमारा ध्यान जाता है तो उसमें तस्वीर की उत्तेजना की नवीनता, स्पष्टता आदि वाह्य निर्धारकों के अतिरिक्त हमारी अभिरुचि, शिक्षा, मनोवृत्ति आदि आन्तरिक-निर्धारक भी साथ-साथ कार्य करते होते हैं।

———

नवाँ अध्याय

सीखना

(Learning)

परिचय—सीखने की क्रिया की दो आवश्यक बातें—व्यवहारों में परिवर्त्तन या परिमार्जन तथा परिवर्त्तित एवं परिमार्जित व्यवहारों का स्थायीकरण—

सीखने की परिभाषा—सीखना तथा परिपक्वता में अन्तर।

सीखने के सिद्धान्त—थार्नडाइक का प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त—थार्नडाइक का बिल्ली तथा चूहे पर प्रयोग—थार्नडाइक के सीखने के नियम—अभ्यास, नियम तथा इसकी आलोचना—प्रभाव, नियम तथा इसकी आलोचना—तत्परता का नियम।

सूझ का सिद्धान्त—कोहलर का छड़ी तथा बॉक्स समस्याओं पर प्रयोग—सूझ द्वारा सीखने की दो आवश्यक बातें—सूझ के द्वारा सीखने की क्रिया की प्रमुख विशेषताएँ—हिगिन्सन का चूहों पर प्रयोग—डेहन का चक्करदार मार्ग या घुमाव मार्ग समस्या पर प्रयोग।

पावलव का सम्बन्ध—प्रत्यावर्त्तन का सिद्धान्त—पावलव का प्रयोग, सम्बन्ध—प्रत्यावर्त्तन के लिए कुछ आवश्यक बातें—मनुष्य पर किये गये कुछ प्रयोग—वाटसन का प्रयोग—सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन सिद्धान्त की समालोचना।

सीखने की विधियाँ—आंशिक अथवा पूर्ण रीति, विराम अथवा अविराम विधि, पुन. निरीक्षण एवं आवृत्तिकरण विधि तथा रटकर अथवा समझकर सीखने की विधि।

मनुष्यों एवं पशुओं के सीखने में अन्तर।

हम सीखते हैं। हम लिखना सीखते हैं। हम पढ़ना सीखते हैं। हम यह सीखते हैं कि साइकिल कैसे चलाई जाय, मोटर ड्राइभ करने में कौन-

कौन-सी बातों पर ध्यान देना चाहिए। कैसे बोलना चाहिए, कैसे कपड़ा पहनना चाहिए, किस व्यक्ति के सामने कैसा व्यवहार करना चाहिए आदि सारी की सारी बातें मनुष्य सीखता है। सोचकर देखा जाय तो यह स्पष्ट मालूम पडेगा कि मनुष्य आजीवन कुछ न-कुछ सीखता ही रहता है।

सीखने की क्रिया वातावरण से अपने को अभियोजित करने के लिए बहुत ही जरूरी है। बिना अभियोजन के प्राणी के अस्तित्व का अधिक दिनों तक बना रहना असम्भव है। खासकर दो तरह के वातावरणों से मनुष्य को अपना अभियोजन करना पड़ता है। एक है, प्राकृतिक वातावरण (Physical environment) तथा दूसरा है, सामाजिक वातावरण (Social environment)।

जब जाडे का मौसम शुरू होता है तो हम कोट पहनना शुरू कर देते हैं। हम ठण्ढक के समय गर्म कपड़ों का व्यवहार करना सीख जाते हैं। गर्मी के मौसम में गर्म कपड़ों की जगह पंखों का प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर देते हैं। प्राकृतिक वातावरण के परिवर्तनों के साथ अगर हम अपने व्यवहारों में परिवर्तन एवं परिमार्जन (Change and modification) लाना न सीख जायँ तो हमारा जीवित रहना कठिन हो जायगा।

ठीक इसी प्रकार सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्यों को अपने समाज के रश्म-रिवाजों, रहन-सहन आदि को सीखना पड़ता है। समाज में उचित रूप से अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

केवल मनुष्यों को ही नहीं. बल्कि सभी प्राणियों को सीखने की आवश्यकता पड़ती है। जानवरों और पक्षियों मे भी सीखने की क्रिया स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। सीखे हुए भालू, कुत्ते एव बन्दर के खेल हमें अक्सर देखने के अवसर मिलते हैं। एक तोता जो पहले मनुष्य की बातें बोलना नहीं जानता था; धीरे-धीरे यह सीख लेता है कि मनुष्य के द्वारा सिखलाई (Training) गई बातें किस तरह दुहराई जाएँ। इसी शिक्षण (Training) का प्रभाव है कि भालू, बन्दर अथवा घोड़े कुछ आश्चर्यजनक कार्य करते नजर आते हैं। किसी भी सर्कस (Circus) के जीवजन्तु इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं। व्यवहारों का यह परिवर्तन एवं परिमार्जन जानवरों तथा पशु-पक्षियों, सभी में होते हैं।

व्यवहारों का यह परिवर्तन सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण से अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। मनोविज्ञान एक समर्थक

(Positive) विज्ञान होने के कारण परिवर्तनों के नैतिक दृष्टिकोण से अच्छाई अथवा बुराई पर ध्यान नहीं देता। यही कारण है कि जब किसी व्यक्ति में शराब पीने की आदत पड़ जाती है अथवा कोई सिगरेट या गाँजा पीने लगता है तो भी एक मनोवैज्ञानिक उसे "सीखना" ही कहता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान की दृष्टि में ईश्वर-पूजा प्रारम्भ कर देने के व्यवहार को "सीखने" की ही संज्ञा दी जाती है। परन्तु व्यवहारों के सभी परिवर्तनों को हम "सीखने" की संज्ञा नहीं दे सकते। "सीखने" की संज्ञा देने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है—

'सीखने' की क्रिया की दो आवश्यक बातें

(१) **व्यवहारों में किसी प्रकार के शिक्षण के कारण परिवर्तन अथवा परिमार्जन** (Dynamic changes and modification in the behaviour due to training)—यह शिक्षण किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा हो सकता है, अथवा वातावरण-विशेष में प्राणी के अन्दर उत्पन्न अपने अनुभवों के द्वारा हो सकता है या दूसरों के व्यवहारों के अनुकरण के द्वारा हो सकता है। अगर ऑफिसर अपने चपरासी को समय पर आने का आदेश देता है और यदि चपरासी दूसरे दिन से लगातार ठीक समय पर आना प्रारम्भ कर देता है तो व्यवहार के इस परिवर्तन को हम व्यक्ति-विशेष के शिक्षण (Training) के द्वारा उत्पन्न मानेंगे। शिक्षकों का शिष्यों को पढना-लिखना सिखलाना इस विषय के सुन्दर उदाहरण हैं। ये परिवर्तन प्रगतिशील (Dynamic) होते हैं और यही कारण है कि इन क्रियाओं में धीरे-धीरे सुधार एवं निपुणता आती-जाती है। दूसरी तरफ जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं जिनमें बिना किसी व्यक्ति-विशेष के शिक्षण के (Training) ही प्राणियों के व्यवहारों में अपने अनुभवों के आधार पर आप-से-आप परिवर्तन हो जाते हैं। एक दिन गर्म दूध म मुँह डालने के अनुभव को प्राप्त कर लेने पर बिल्ली स्वतः अपने अनुभवों से यह शिक्षण प्राप्त कर लेती है कि गर्म दूध में मुँह नहीं डालना चाहिए। दूसरे दिन से वह गर्म दूध में मुँह न डालना सीख जाती है। उसके व्यवहारों में नया परिवर्तन हो जाता है।

(२) **इन परिवर्त्तित एवं परिमार्जित व्यवहारों का स्थायीकरण** (Retention of the changed and modified behaviour)—व्यवहारों में जो परिवर्तन होते हैं, उन परिवर्तनों का स्थायी होना सीखने

के लिए आवश्यक है। अगर चपरासी दो एक दिन ही समय पर आता है और फिर पहले की तरह देर से आना शुरू कर देता है अथवा अगर बिल्ली फिर उस गर्म दूध में मुँह डालती हुई पायी जाती है तो हम कहेंगे कि चपरासी ने समय पर ऑफिस आना नहीं सीखा है। अथवा बिल्ली यह नहीं सीख पायी कि गर्म दूध मे मुँह नहीं डालना चाहिए। अस्तु, नये व्यवहारों का प्राणी-विशेष में अपेक्षाकृत स्थायी (Relatively permanent) रूप ग्रहण करना सीखने के लिए आवश्यक है।

ये सारे परिवर्तन वातावरण से प्राणी का उचित अभियोजन कराने के दृष्टिकोण म होते हैं।

अतः सीखने की क्रिया के लिए निम्नलिखित बातें प्रमुख हैं—

(i) वातावरण से अभियोजन (Adjustment) की आवश्यकता, (ii) अभियोजन के लिए किये गये व्यवहारों मे प्रगतिशील परिवर्तन अथवा परिमार्जन, (iii) इन परिवर्तनों अथवा परिमार्जनों का स्थायीकरण, (iv) किसी प्रकार के शिक्षण (Training) का प्रभाव।

सीखने की क्रिया में व्यवहारों के परिवर्तन के लिए किसी भी प्रकार के शिक्षण (Training) की आवश्यकता इसीलिए आवश्यक मानी गयी है कि प्राणियों के व्यवहारों में परिवर्तन अथवा परिमाजन परिपक्वता (Maturation) की प्राप्ति के कारण भी हो जाते हैं। और ये परिवर्तन (Change) अपेक्षाकृत स्थायी (Relatively permanent) भी हो जाते हैं। जैसे, नवजात शिशु उठकर बैठने में समर्थ नहीं होता है, परन्तु जैसे-जैसे उसके शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में शक्ति आती जाती है, वैसे-वैसे वह 'चित' लेटने की अवस्था से 'पट' लेटने की अवस्था में हो जाता है और फिर धीरे-धीरे बैठना भी शुरू कर देता है। परन्तु इस 'बैठने की क्रिया' को हम मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से 'सीखना' तब तक नहीं कह सकते हैं जब तक कि उस क्रिया को अपनाने में किसी भी प्रकार का शिक्षण (Training) नहीं दिया गया हो। ध्यान से देखने पर स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि क्रिया में शिक्षण और परिपक्वता दोनों कुछ इस तरह शामिल होते हैं कि एक के प्रभाव को दूसरे के प्रभाव से एकदम अलग कर लेना बहुत कठिन है। जब बच्चा ठीक-ठीक बोलना सीख लेता है तो इस पर जीभ एवं कण्ठ के नीचे लगे स्वर के तारों (Vocal chords) पर परिपक्वता का काफी असर पड़ता है। साथ-साथ बच्चा के स्नायु-मण्डल (Nervous system) में भी धीरे-धीरे

परिपक्वता आती-जाती है जिसके कारण बच्चा सीखी हुई ध्वनि अथवा सीखे हुए शब्दों एवं वाक्यों को याद रख पाता है। बोल-चाल में भाषा के शुद्ध प्रयोग को सिखलाने मे ट्रेनिंग या शिक्षण का भी उतना ही ज़बर्दस्त असर पड़ता है। शिक्षण या ट्रेनिंग के कारण वह बार-बार दुहराकर सीखता है तथा भूल मे सुधार करता है। परन्तु अगर सिर्फ शिक्षण का प्रभाव ही सब कुछ होता तो दो महीने का बच्चा भी शायद भाषण करना सीख लेता। इस विषय की चर्चा हम आगे और भी अधिक स्पष्ट रूप से करेंगे। अभी सिर्फ इतना समझना आवश्यक है कि व्यवहारों मे किसी भी प्रकार के उन परिवर्तनों अथवा परिमार्जनों को हम सीखना कहेंगे जो सिर्फ परिपक्वता के कारण नहीं हुए हैं, बल्कि शिक्षण के कारण उत्पन्न हुए हैं। और जिन्होंने प्राणी-विशेष में एक अपेक्षाकृत स्थायी रूप भी ग्रहण कर लिया है।

परिभाषा—Learning की परिभाषा निम्नलिखित ढग से दी जा सकती है—

"Some modification in the behaviour of the organism as a result of experience (due to some sort of training) which is retained for at least a certain period of time by the organism".

"Morgan & Gilliland". (मॉर्गन और गिलिलैण्ड)

भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने Learning का भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी है।

1. "Any activity can be called learning in so far as it develops the individual in any respect, good or bad and makes his *latter* behaviours different from what they would otherwise have been"

"Woodworth". (उडवर्थ)

2. "Learning, as we measure it, is a relatively permanent change in behaviour as a function of practice. In most cases, this change has a direction which satisfies the current motivating conditions of the individuals".

—*Mc Geoch*. (मैग्यू)

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी ने सीखने की क्रिया को एक प्रगतिशील प्रक्रिया (Developmental process) मानी है। सीखने की क्रिया में प्राणी की शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं का प्रमुख हाथ रहता है। ये आवश्यकताएँ उसे सीखने के लिए प्रेरित (Motivate) करती रहती हैं। प्यास से व्याकुल व्यक्ति पानी पीने की शारीरिक आवश्यकता के कारण कुएँ अथवा नल आदि की जगहों पर जाना सीख जाता है। यही कारण है कि पिजड़े में बन्द कर दी गई भूखी बिल्ली—पिंजड़े से बाहर रक्खे खाना पाने के प्रयास में पिंजड़े की छिटकिली को खोलना सीख जाती है।

ठीक इसी प्रकार अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता रखनेवाला छात्र बहुत-सी नयी-नयी बातें प्रतिदिन सीखता जाता है।

सीखने में प्राणी की जाति (Race), उम्र (Age), मानसिक अवस्था (Mental condition) आदि से गहरा सम्बन्ध है। जिस प्राणी का स्नायुमण्डल (Nervous system) जितना ही अधिक विकसित एवं जटिल (Complex) है वह उतना ही अधिक से अधिक एव कठिन से कठिन विषयों को शीघ्रता से एवं ठीक-ठीक ढंग से (Quickly & Accurately) सीख पाता है। साथ-साथ इस पर सीखने की विधि, समय आदि वातावरण की अन्य बातों का भी काफी प्रभाव पड़ता है।

सीखना तथा परिपक्वता
(Learning and Maturation)

व्यवहारों में परिवर्त्तन शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के सहज विकास अथवा परिपक्वता पर निर्भर करते हैं। परिपक्वता का सम्बन्ध अंग-प्रत्यंगों के सहज एव स्वाभाविक विकास से है। एक नवजात शिशु के हाथ पैर न केवल छोटे-छोटे ही होते हैं बल्कि उनमे शक्ति का भी अभाव रहता है। जैसे-जैसे नवजातशिशु में परिपक्वता आती-जाती है वैसे-वैसे न केवल उसके हाथ-पैर एवं उसके शरीर के आकार में विकास होता जाता है बल्कि धीरे-धीरे उसमें शक्ति भी आती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से व्यवहार जो वह पहले नहीं कर पाता था, परिपक्वता प्राप्त करने के बाद उन व्यवहारों को वह करने में समर्थ हो जाता है, जैसे—लेटने की अवस्था, फिर बैठना तथा घुसकना, खड़ा होना, चलना,

दौड़ना आदि के व्यवहार। धीरे-धीरे बच्चा दौड़ने लगता है, फुटबॉल खेलने लगता है।

परिपक्वता की यह क्रिया जन्म के पहले ही से शुरू हो जाती है। जिस समय से गर्भाधान होता है उसी समय से परिपक्व होने की क्रिया भी शुरू हो जाती है। बच्चा धीरे-धीरे माँ के गर्भ मे विकसित होता है और विकास का यह क्रम जन्म के बाद भी चलता जाता है। अस्तु, इसका प्रभाव बच्चों के जन्म के पहले (Pre-natal stage) तथा उनके जन्म के बाद (Post-natal) दोनों ही अवस्थाओं में देखने को मिलते हैं। फिर भी परिपक्वता के विकास पर वातावरण से अधिक वंशानुक्रम का प्रभाव मनोवैज्ञानिकों ने माना है। अच्छी हवा, अच्छा भोजन, अच्छी देख-रेख आदि का प्रभाव भी परिपक्वता पर पड़ता है परन्तु यह क्रिया अधिक अंश में वंशानुक्रम के द्वारा ही निर्देशित होती है।

अस्तु, परिपक्वता एक ऐसी लगातार होने वाली क्रिया है जो सहज रूप मे हमारे अंग-प्रत्यंगों के विकास के द्वारा प्रकट होती रहती है। हमारे शरीर के अन्दर रहनेवाली ग्रन्थियों (Glands) की क्रियाओं से इसका गहरा सम्बन्ध है जो हमें अपने वंशानुक्रम के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं। इसीलिए 'जैंगविल' (Zangwill) नामक शरीरशास्त्रज्ञ एव मनोवैज्ञानिक ने कहा है कि—

"Maturation is an endogenous process which depends only in a very broad way upon the external environment. It is determined largely, if not exclusively by inherited mechanisms."

हमने व्यवहारों के परिवर्त्तनों की चर्चा की है। व्यवहारों के फलस्वरूप उत्पन्न अनुभूतियों (experiences) में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। ये परिवर्तन परिपक्वता के कारण भी होते हैं और शिक्षण के द्वारा भी। सीखने की क्रिया में दोनों का प्रमुख सहयोग है। अतः सीखना और परिपक्वता के अन्तर को भी समझना आवश्यक है।

"Maturation is growth of a structure in response to the diffuse stimulation received from its sourroundings while learning is growth in response to the functioning of that structure".

—*Woodworth* (उडवर्थ)

सीखना तथा परिपक्वता में अन्तर

(Distinction between Learning and Maturation)

सीखना तथा परिपक्वता में निम्नलिखित अन्तर हैं:—

(१) परिपक्वता शरीर के अंगों के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक विकास की एक क्रिया है। परन्तु सीखना एक कृत्रिम क्रिया है जिसका सम्बन्ध शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के विकास से नहीं, वल्कि उन विकसित अंगों के द्वारा उत्पन्न नये व्यवहारों मे नया परिवर्तन लाने से है। शिक्षण का सम्बन्ध अंगों की क्रियाओं से है परन्तु परिपक्वता का अधिक सम्बन्ध अगों की रचना से है।

(२) परिपक्वता की क्रिया प्राणी के जाति-विशेष भर में प्रायः एक ही जैसी देखी जाती है। मनुष्य का शिशु अपनी उम्र की खास अवस्था प्राप्त कर लेने पर वैठने लगता है, दूसरी अवस्था-विशेष आने पर चलने लगता है—तीसरी अवस्था-विशेष प्राप्त होने पर दौड़ने लगता है। किस अवस्था-विशेष पर कैसा व्यवहार होगा यह मनुष्य जाति के प्रायः हर प्राणी में लगभग एक जैसा ही देखा जाता है। इसी तरह के प्रायः समान क्रमिक विकास (Regular stage of development) जीव-जन्तुओं में भी अपने-अपने ढंग से देखने को मिलते हैं।

परन्तु "सीखने" की क्रिया में हम एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में वहुत अधिक अन्तर पा सकते (Individual differences) हैं, जैसे—एक १६ वर्ष का लड़का मैट्रिक की योग्यता प्राप्त कर ले और एक १८ वर्ष का लड़का आठवें वर्ग की योग्यता भी प्राप्त नहीं कर पाये। यह कभी सम्भव नहीं है कि मनुष्यों के समान उम्र के सभी वच्चों में समान शिक्षण (Learning) भी हो सके। इसीलिए कहा गया है कि परिपक्वता जातीय (Racial) एकरूपता (Uniformity) लाती है और सीखना (Learning) असमानता (Variability) अथवा इसे हम इस प्रकार मे कह सकते हैं कि परिपक्वता से जातीय विशेषताओं (Racial characteristics) का प्रकटीकरण होता है तथा शिक्षण से व्यक्तिगत विशेषताओं (Individual differences) का।

(३) परिपक्वता की क्रिया लगातार जारी रहती है परन्तु सीखने की क्रिया वीच-वीच मे छूट भी जा सकती है।

(४) 'जैंगविल' (Zangwill) तथा 'कारमीकायल' (Carmichael) ने स्पष्ट बतलाया है कि व्यवहारों के प्रारम्भिक विकास में परिपक्वता का ही हाथ अधिक रहता है परन्तु धीरे-धीरे बाद में चलकर अत्यधिक विकास के लिए शिक्षण (Training) की आवश्यकता पड़ने लगती है।

(५) परिपक्वता जन्मजात (Inborn) प्रक्रिया है परन्तु शिक्षण अर्जित (Acquired)।

(६) यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सीखने की क्रियाओं में अभ्यास का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु परिपक्वता में अभ्यास का स्थान नगण्य है।

(७) परिपक्वता के कारण शरीर के अन्दर कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिससे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की पुष्टि में सहायता मिलती है। यही कारण है कि यौन-सम्बन्धी जैसे विकास शिक्षण से अधिक परिपक्वता पर निर्भर करते हैं। शिक्षण के द्वारा वाह्य वातावरण में ही परिवर्तन लाना सम्भव है, शरीर के आन्तरिक वातावरण में नहीं।

(८) बिना शिक्षण (Learning) के परिपक्वता बहुत अंशों में सम्भव है परन्तु बिना परिपक्वता के शिक्षण असम्भव है।

इतने अन्तरों के होने का यह अभिप्राय नहीं है कि शिक्षण और परिपक्वता में किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है। सच तो यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं—दोनों का एक दूसरे से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का कार्य, सीखने के विकास के दृष्टिकोण से अधूरा रह जायगा। 'शर्ले' (Shirley), 'क्रुज' (Cruze), 'स्टोन' (Stone), 'गेसेल' (Gessel) आदि के द्वारा किये गये प्रयोगों ने इन दोनों के आपसी सम्बन्ध पर काफी प्रकाश डाला है। एक बच्चे को साइकिल चलाने की लाख ट्रेनिंग दी जाए फिर भी जब तक उसके पैर लम्बे तथा परिपक्व नहीं होंगे तब तक साइकिल चलाना नहीं सीख सकता। ठीक इसके विपरीत अगर किसी के पैर परिपक्व हो गये हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह साइकिल चलाना बिना शिक्षण एवं अभ्यास के ही आप-से-आप सीख जायगा। ठीक यही बात टेलीग्राफी, टाइपराइटिंग, सूत कातना, दर्जी का काम, खेल खेलने आदि कार्यों को सीखने में स्पष्ट मालूम पड़ती है।

अर्थात् सीखने के लिए शिक्षण और परिपक्वता दोनों चाहिए। दोनों की सहायता अनिवार्य है। 'हिलगार्ड' (Hilgard) की निम्नलिखित पंक्तियाँ इन दोनों के सम्बन्ध पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं—

"For effective learning, the two, training and maturation, should go together like an ideal married couple each facilitating and helping the process of the other."

सीखने के सिद्धान्त
(Theoris of Learning)

सीखने की क्रियाओं को हम कई पहलुओं से देख सकते हैं—जैसे,

(क) प्राणी क्या (What) सीखता है ?, (ख) प्राणी कब (When) सीखता है ?, (ग) प्राणी क्यों (Why) सीखता है, ? (घ) प्राणी कैसे (How) सीखता है ? आदि।

प्रथम तीन प्रश्नों की व्याख्या एवं उत्तर के सिलसिले में मनोवैज्ञानिकों मे आपस मे अपेक्षाकृत कम मतभेद है। परन्तु सबसे अधिक मतभेद है अन्तिम प्रश्न के उत्तर मे।

मनोवैज्ञानिकों ने सीखने की क्रिया के अध्ययन के हेतु पशुओं एवं मनुष्यों दोनों पर प्रयोग किये हैं। किये गये प्रयोगों के फलस्वरूप तीन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है—

(१) 'थार्नडाइक' का प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त (Trial and Error Theory by Thorndike), (२) 'कोहलर' तथा 'कफका' का अन्तर्दृष्टि अथवा सूझ का सिद्धान्त (Theory of Insight by Kohler and Koffka), (३) 'पावलव' एवं 'वाटसन' का सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का सिद्धान्त (Theory of Conditioning by Pavlov and Watson).

ये सारे सिद्धान्त हमें यह बतलाने का अधिक प्रयास करते हैं कि हम किसलिए (Why) सीखते हैं तथा किस प्रकार (How) सीखते हैं। अब इन सिद्धान्तों पर हम अलग-अलग एक-एक कर विचार करेंगे।

(१) प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त
(Trial and Error Theory)

यह हमलोगों का साधारण अनुभव है कि जब हमलोग किसी नई प्रक्रिया को करना सीखते हैं तो प्रारम्भ में हम बहुत-सी भूलें करते हैं।

जैसे—कोई लड़का जब अंग्रेजी सीखना शुरू करता है तो प्रारम्भ में बहुत-सी गलतियाँ करता है। फिर धीरे-धीरे गलतियों का सुधार होता है। अभ्यास करते-करते एक ऐसी अवस्था आती है जब वह अंग्रेजी पढ़ना-लिखना अच्छी तरह सीख लेता है और एक दिन वह विद्वान् कहलाने योग्य हो जाता है। इसी प्रकार टेनिस, बैडमिंटन, कैरम आदि के खेल सीखने में भी मनुष्य प्रयत्न करता है, भूलें भी करता है परन्तु उस क्रिया को बार-बार दुहराने से वह कुशल खिलाड़ी बन जाता है। मनुष्य उस क्रिया को बार-बार करके सीख जाता है। अस्तु, साधारणतया सीखने की क्रिया में निम्नलिखित अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं—

(i) सीखने की आवश्यकता का अनुभव, (ii) प्राणी द्वारा सीखने का प्रयत्न, (iii) प्रारम्भ में प्रत्येक प्रयत्न में अधिक समय लगना तथा अधिक गलतियों का होना, (iv) बार-बार प्रयत्न तथा बार-बार भूलों का होना, (v) भूलों में क्रमशः सुधार, (vi) क्रमशः कार्य-कुशलता की प्राप्ति।

प्राणी का बार-बार प्रयत्न करना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि भूलों में सुधार होना। इस विधि से सीखने की क्रिया के सिद्धान्त का प्रतिपादन थार्नडाइक (Thorndike) नामक मनोवैज्ञानिक ने किया। उन्होंने जानवरों तथा मनुष्यों दोनों पर प्रयोग करने के बाद सीखने की क्रिया के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख निष्कर्ष निकाला। सर्वप्रथम हम उनके कुछ प्रयोगों पर ध्यान दें:—

थार्नडाइक का बिल्ली पर प्रयोग या भ्रांति-बॉक्स प्रयोग (Thorndike's experiment on cat or puzzle-box experiment)—थार्नडाइक ने एक बिल्ली को २४ घण्टे तक भूखा रक्खा। दूसरे दिन उसे एक बड़े पिंजड़े में डाल दिया। उस पिंजड़े से बाहर निकलने का एक ही दरवाजा था। उस दरवाजा के साथ एक 'लिवर' लगा हुआ था जिसको दबा देने से पिंजड़े का दरवाजा खुल जाता था। पिंजड़े के भीतर भूखी बिल्ली रख दी गई और पिंजड़े के बाहर एक बर्तन में बिल्ली का प्रिय भोजन मछली रख दी गई। मछली इस प्रकार रक्खी गई थी कि बिल्ली को मछली स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। भूखी होने के कारण वह बिल्ली उछल-कूद करने लगी, परन्तु वह मछली तबतक नहीं खा सकती थी जबतक पिंजड़े का दरवाजा नहीं खुल जाता। अस्तु, पिंजड़े से बाहर निकलकर मछली खाकर वह बिल्ली अपनी भूख की संतुष्टि कर सके इसके लिए उसे पिंजड़े का दरवाजा खोलने की क्रिया को सीखना आवश्यक था।

गया कि चूहा उस भूल-भुलैया के बीच में रक्खे भोजन तक पहुँचना किस प्रकार सीखता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के भूल-भुलैयों में कई एक इस प्रकार के प्रयोग किये गये। किसी-किसी में भोजन चूहे को दिखलाई पड़ता था परन्तु वहाँ पहुँचने का मार्ग सीखना पड़ता था। ऐसी अवस्था में भूल-भुलैया में बीच-बीच में शीशे अथवा जाली की दीवारें खड़ी की गई थीं। किसी-किसी में तो चूहे को भोजन की गंध भी मिलती थी।

भूल-भुलैया के ऐसे प्रयोग मानव-शिशुओं पर भी किये गये हैं।

निष्कर्ष—इन प्रयगों मे भी थार्नडाइक ने देखा कि—(i) सीखने में प्रेरक-शक्ति (motivating force) का महत्वपूर्ण स्थान है, (ii) प्राणी अभ्यास के द्वारा ठीक व्यवहार सीख पाता है, (iii) जिन व्यवहारों के करने से प्राणी को सन्तुष्टि प्राप्त होती है—उन व्यवहारों को वह (समान परिस्थितियों में) फिर से दुहराना चाहता है जिसके परिणाम स्वरूप वह उन व्यवहारों को सीख लेता है।

'थार्नडाइक प्रदत्त सीखने के नियम'
(Thorndike's Laws of Learning)

अपने प्रयोगों तथा उससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर थार्नडाइक ने सीखने के कई नियमों का प्रतिपादन किया; जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—(१) अभ्यास-नियम (Law of Exercise), (२) प्रभाव-नियम (Law of Effect), (३) तत्परता-नियम (Law of Readiness).

(१) 'अभ्यास-नियम'

यह नियम बतलाता है कि किसी भी प्रक्रिया को सीखने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(i) प्राणी किसी प्रक्रिया को खुद करके सीखता (Learning by doing) है। और (ii) प्रक्रिया को जितना ही अधिक बार दुहराता है अथवा अभ्यास करता (Exercise through repetition) है उतनी ही अधिक योग्यता उस कार्य-विशेष के करने से उसे प्राप्त होती जाती है। इसी बार-बार अभ्यास के कारण धीरे-धीरे भूलों में कमी और उस कार्य-विशेष को करने की योग्यता बढ़ती जाती है। बिल्ली पिंजड़े का दरवाजा खोलना इसलिए सीख गई चूँकि बिल्ली खुद प्रयास कर रही थी और बार-बार प्रयास कर रही थी।

किसी व्यक्ति को लाख मौखिक शिक्षा दे दी जाय कि किस प्रकार तैरना चाहिये फिर भी तैरने के लिए उसे खुद ही प्रयास करना होगा और बार-बार इस क्रिया को करने के बाद ही वह तैराक हो सकेगा। ठीक यही अवस्था साइकिल चलाना अथवा टाइप करना सीखनेवाले के साथ भी पाते हैं। अभ्यास-नियम किसी कला को सीखने के लिए अत्यावश्यक है।

इस नियम के भी निम्नलिखित दो भाग कये गए हैं—(क) 'उपयोग-नियम' (Law of use), (ख) 'अनुपयोग-नियम' (Law of disuse)

अर्थात् किसी क्रिया को जितना ही अधिक व्यवहार में रक्खा जाय तथा उसे जितना अधिक दुहराया जाय उससे उतनी ही जल्दी ठीक-ठीक तथा अधिक स्थायी योग्यता प्राप्त होगी।

ठीक इसके विपरीत यदि उस क्रिया को दुहराना बन्द करा दिया जाय (disuse of behaviour) तो उसे करना व्यक्ति उतनी ही जल्दी भूल जाता है।

'थार्नडाइक' ने अपने इस अभ्यास-नियम पर इतना अधिक जोर दिया कि उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि संसार की सभी चीजों के सीखने की व्याख्या इसी 'अभ्यास-नियम' (Law of exercise) के द्वारा की जा सकती है। उनका कहना था कि किसी क्रिया के सीखने के लिए उस क्रिया में प्राणी की 'सूझ' का होना कोई आवश्यक नहीं है। सभी प्रकार का सीखना इस अभ्यास पर ही आधारित है। उन्होंने लिखा है—
"For learning there need be no reasoning, no process of inference or comparison, there need be no thinking about things, no two and two together, there need be no ideas".

अर्थात्, सीखने की क्रिया में न किसी तर्क-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और न व्यवहारों में किसी प्रकार की समानता-असमानता पर विचार करने की आवश्यकता पड़ती है और न किसी निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता है और न किसी चिन्तन की ही। सीखने की क्रिया में सोचने-समझने या विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं, केवल अभ्यास ही के कारण वह क्रिया सीख ली जाती है।

परन्तु बाद में स्वयं अपने प्रयोगों के आधार पर ही थार्नडाइक महोदय ने कहा कि 'अभ्यास को सीखने की क्रिया में इतना अधिक महत्व देना मेरी भूल थी'—'I was wrong'.

बिल्ली बार-बार पिंजडे से बाहर निकलने का प्रयास करने लगी। पिंजड़े को हिलाना, नोचना, उछलना, कूदना आदि व्यवहार उस बिल्ली मे देखे गये। इसी उछल-कूद के सिलसिले म कुछ समय के बाद अकस्मात् बिल्ली का पंजा पिंजडे के दरवाजे मे लगे 'लिवर' पर पड गया जिसके कारण दरवाजा खुल गया और बिल्ली बाहर निकलकर मछली खा गई जिससे उसकी भूख मिट गई।
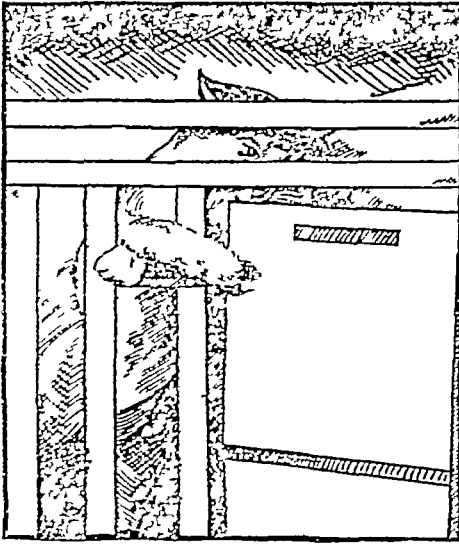
(क) (ख)

चित्र न० १२—थार्नडाइक द्वारा भ्राति या उलझन (Puzzle box) बॉक्स सम्बन्धी बिल्ली पर किये गये प्रयोग का चित्र।

(क) बिल्ली उलझन-बॉक्स की कुण्डी को खोलने का प्रयास कर रही है।

(ख) बिल्ली कुण्डी को खोलने में समर्थ हो गयी है तथा मछली खाने के लिए बढ रही है।

पिंजड़े के अन्दर बिल्ली के द्वारा किये गये व्यवहारों का थार्नडाइक ने वैज्ञानिक निरीक्षण (Scientific observation) किया। दूसरे दिन फिर बिल्ली को भूख की अवस्था मे उसी प्रकार पिंजड़े के भीतर डाल दिया गया। मछली भी ठीक पहले जैसा पिंजड़े के बाहर बिल्ली के सामने रख दी गई। उस बिल्ली में ठीक पहले जैसा व्यवहार देखने को मिला और फिर अचानक 'लिवर' के दब जाने से दरवाजा खुल गया और बिल्ली बाहर निकलकर मछली खा गई।

उस बिल्ली को लगभग कुछ दिनों तक इस प्रकार की परिस्थिति में रखकर उसके व्यवहारों का अध्ययन किया गया।

'थार्नडाइक' ने बिल्ली के व्यवहारों में निम्नलिखित बातें पायीं—

(i) भूख के कारण बिल्ली में पिंजड़े से बाहर निकलने की आवश्यकता का अनुभव, (ii) पहले बिल्ली ने बहुत से उछल कूद जैसे बेमतलब के व्यवहार (Random behaviours) किये, (iii) बार-बार पिंजड़े से बाहर निकलने का प्रयास, (iv) काफी देर के बाद अचानक दरवाजा के 'लिवर' पर बिल्ली के पंजे का पड़ना एवं दरवाजे का खुलना, (v) कुछ दिनों में धीरे-धीरे बेमतलब के व्यवहारों की कमी होना तथा भूलों की सख्या में भी कमी होना, (vi) दरवाजा खोलने में धीरे-धीरे कम समय लगना तथा एक ऐसी अवस्था का आना, जब बिल्ली ने बिना किसी विलम्ब के चट दरवाजे को खोल दिया और निकलकर मछली को खा लिया, तथा (vii) दरवाजा खोलने की विधि का ठीक-ठीक सीख लेना।

'थार्नडाइक' ने देखा कि ऐसी क्रियाएँ जिनके करने से बिल्ली को संतुष्टि की प्राप्ति हुई; उन क्रियाओं को करना बिल्ली सीख गई। (Stamping in of the satisfying behaviour) तथा जिन क्रियाओं को करने से बिल्ली को असंतुष्टि मिलो थी, वे क्रियाएँ बिल्ली नहीं सीख पायी (Stamping out of the annoying behaviour). बिल्ली दरवाजा खोलने की क्रिया इसलिए सीख गई, चूँकि दरवाजा खोलने पर उसे भूखे रहने पर मछली मिलती थी जिसे खाकर वह संतुष्ट होती थी।

परन्तु छड़ों को नोचना, उछलना अथवा पिंजड़े को तोड़ने के प्रयास से उसे असंतुष्टि होती थी। अस्तु, ऐसे अकारण (Random) व्यवहारों की संख्या आप से आप बिल्ली के व्यवहारों में कम होती चली गई। अभ्यास के कारण संतुष्टि-प्रदान करनेवाली प्रक्रियाएँ बिल्ली सीखती गयी और असंतुष्टि प्रदान करनेवाली क्रियाएँ बिल्ली के व्यवहारों से लुप्त होती चली गईं।

भूल-भुलैया में सीखने का चूहों पर किये गये प्रयोग (Maze learning experiment on rats)—एक भूखे चूहे को एक भूल-भुलैया में रखा गया। भूल-भुलैया उसे कहते हैं जिसमें निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का एक ही रास्ता होता है। परन्तु जिनमें कई एक अन्ध-पथ (blind alleys) होते हैं। भूल-भुलैया के बीच में भोजन रक्खा था। वहाँ पहुँचने के लिए चूहे को कई एक रुकावटों तथा अन्ध-गलियों (Blocks and blind alleys) से होकर गुजरना पड़ता था। भूखे चूहे को भूल-भुलैया के दरवाजे पर छोड़ दिया गया और यह अध्ययन किया

'अभ्यास-नियम की आलोचना'
(Criticism of Law of Exercise)

(१) सीखने की क्रिया में अभ्यास का प्रमुख हाथ अवश्य है, परन्तु सीखने के लिए अभ्यास ही सब कुछ है, यह कहना गलत है। साथ-साथ प्रत्येक क्रिया अभ्यास के द्वारा ही सीखी जाय, यह भी सदैव आवश्यक नहीं है। जब किसी लड़के की अँगुली चाकू से कट जाती है अथवा जब गर्म लोहे से जल जाती है, तब वह एक ही बार में यह सीख लेता है कि चाकू अथवा गर्म लोहे से बचकर रहना चाहिए। यह सीखने के लिए उसे बार-बार अपनी उँगली को काटकर या जलाकर सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(२) साथ-साथ बिना 'सूझ' (Insight) के केवल अभ्यास के द्वारा किसी क्रिया को सीखना कठिन है। यह समस्या कठिन विषयों को सीखने में साफ मालूम पड़ती है। इञ्जीनियरिंग, डाक्टरी अथवा दर्शन की बातों को सीखने के लिए अभ्यास के अतिरिक्त तर्कशीलता, चिन्तन-मनन आदि की कितनी आवश्यकता पड़ती है, यह हम सभी जानते हैं।

(३) 'विपरीत अभियोजन' (Negative adaptation) की परिस्थितियों में भी यह लागू नहीं। मान लीजिये कि आपके घर के ठीक बगल में आँटा पीसने की मशीन चलती है। शुरू-शुरू में आप मशीन के द्वारा उत्पन्न कर्कश ध्वनि के द्वारा अत्यधिक बाधा (Disturbance) का अनुभव करते हैं। परन्तु धीरे-धीरे दूसरे, तीसरे तथा चौथे दिन होते-होते किसी भी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं करते है। आँटा-कल चलता रहता है, उससे कर्कश ध्वनि निकलती रहती है, फिर भी आप अपनी पढ़ाई में लगे रहते हैं तथा आपको कोई बाधा नहीं मालूम पड़ती है। यह वातावरण से आपके विपरीत अभियोजन का परिणाम है।

'अभ्यास-नियम' इस परिस्थिति में 'थार्नडाइक' के अनुसार लागू होता तो प्रतिदिन आप आँटे-कल की कर्कश ध्वनि के कारण पढ़ने-लिखने में अधिक-से-अधिक बाधाओं एवं कठिनाइओं का अनुभव करते। ठीक यही बात हम उन लोगों में भी पाते हैं जो श्रमिक (Worker) कारखाने में कार्य करते हैं अथवा जिनके क्वार्टर के पीछे से रेलवे लाइन गुजरती है।

'पेकहम' (Pekham) ने प्राणियों में विपरीत अभियोजन की क्रिया पर अच्छा प्रकाश डाला है। मकड़ा के पास पहली बार 'नाद' (Sound),

किया गया तो मकड़ा शीघ्र जाल से छुटकर गिर गया, लेकिन धीरे-धीरे मकड़े ने उस ध्वनि के प्रति अपना विपरीत अभियोजन कर लिया जिसके परिणामस्वरूप मकड़ा धीरे-धीरे नाद (Sound) किये जाने पर भी जाल से नहीं गिरना सीख गया।

(४) कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पिंजड़े में भूखी बिल्ली के द्वारा किये गये सारे व्यवहारों का चलचित्र तैयार किया और उसे फिर 'प्रोजेक्टर' (Projector) के सहारे फिल्म की गति को बहुत धीमी करके बिल्ली के प्रत्येक व्यवहार को पर्दे पर देखा। ध्यान से देखने पर मनोवैज्ञानिकों ने पाया कि बिल्ली सर्वदा एक ही तरह से पिंजडे का 'लिवर' नहीं दबा पाती है। कभी एक पंजे से दबाती है, कभी दोनों से, कभी मुँह के अग्रभाग से। अस्तु, आलोचकों ने कहा कि पहले किये गये व्यवहारों को ठीक-ठीक उसी प्रकार वह बिल्ली नहीं दुहराती। प्रत्येक बार 'लिवर' दबाने की क्रिया में भिन्नता पाई गयी। अस्तु, इसे हम एक ही व्यवहार का पूर्णरूप से पुनः दुहराया जाना नहीं कह सकते जैसा कि थार्नडाइक ने कहा था।

(५) 'कोहलर' (Kohler) आदि मनोवैज्ञानिकों ने दो प्रकार की गलतियों की चर्चा की है—

(i) 'अच्छी गलतियाँ' (Good Errors), (ii) 'बुरी गलतियाँ' (Bad Errors).

बिल्ली पिंजडे में छड़ों को तोड़ने की भी कोशिशें कर रही थी और अपनी जगह पर या इधर-उधर उछल-कूद भी रही थी। छडों को तोड़ने का प्रयास अथवा उछलना-कूदना दोनों प्रकार के व्यवहार मछली को प्राप्त करने के लिए उस परिस्थिति में गलत थे। उसका एक व्यवहार ठीक था कि किसी प्रकार दरवाजे को खोलना सीख लिया जाए।

पर 'कोहलर' (Kohler) ने बतलाया कि छड़ को तोड़कर बाहर निकलने का प्रयास गलत होते हुए भी कम गलत था क्योंकि एक ही जगह उछलने-कूदने के व्यवहार से छड़ के टूट जाने और बिल्ली के बाहर निकल आने की सम्भावना नहीं थी। अतः छड़ को तोड़कर बाहर निकलने के प्रयास को 'कोहलर' (Kohler) ने 'अच्छी गलती' (Good Error) की संज्ञा दी है। उनका कथन है कि अच्छी गलती में कुछ-न-कुछ 'सूझ' (Insight) भी अवश्य रहती है। बिल्ली के द्वारा किये गये सारे व्यवहार पूर्णतः निरर्थक नहीं थे वरन् कुछ-न-कुछ सूझ भी कार्य कर रही थी।

'थार्नडाइक' महोदय के प्रयोग में एक प्रमुख भूल यह भी मानी गई है कि जिन परिस्थितियों को उन्होंने प्रयोग के सिलसिले मे बिल्ली, चूहे आदि के समक्ष रक्खा; वे उन प्राणियों की योग्यता (Capacity) के अनुपात में अधिक कठिन थीं। अतः प्रयत्न और भूल का अधिक होना स्वाभाविक था। बहुत-सी ऐसी भी क्रियाएँ हैं जिनको हम एक ही बार में अनुभव के द्वारा सीख लेते हैं। अक्सर ऐसी अनुभूतियाँ, संवेगात्मक होती हैं, जैसे यदि एक बार किसी की उँगली चाकू से कट जाती है तो वह एक ही बार में सीख लेता है कि चाकू से उँगली कट जाती है। ठीक इसी प्रकार यह सीखने के लिए कि आग से हाथ जल जाता है, बार-बार हाथ को जलाना नहीं पड़ता है। मनुष्य एक बार मे ही अच्छी तरह सीख लेता है कि बिजली का 'करेंट' (Electric current) मारने से शरीर झनझना उठता है अतएव इससे बचकर रहना चाहिए। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि यदि अभ्यास ही सीखने का सबसे बड़ा कारण होता तो बिल्ली को गलत व्यवहारों को ही सीख लेना चाहिए था क्योंकि प्रयोग के सिलसिले में बिल्ली ने गलत व्यवहारों को ही अधिक बार दुहराया था। अतः हम देखते हैं कि सिर्फ अभ्यास ही सीखने के लिए पूर्ण अंशों में सहायक नहीं है।

(२) 'प्रभाव-नियम' (Law of Effect)

सीखने की क्रिया की बहुत-सी बातों की व्याख्या अभ्यास नियम के द्वारा नहीं हो पाती है। अस्तु, 'थार्नडाइक' (Thorndike) ने और भी नियम, पूरक के रूप में दिये।

'थार्नडाइक' ने अपने प्रयोगों में यह स्पष्ट देखा कि जिस क्रिया को करने से प्राणी में सन्तुष्टि (Satisfaction) की प्राप्ति होती है, उस क्रिया को वह बार-बार दुहराना चाहता है और बार बार दुहराने के फलस्वरूप प्राणी उस क्रिया को करना सीख लेता है। प्राणी चाहता है कि उन क्रियाओं को वह बार-बार करे। ऐसी क्रियाएँ प्राणी में घर कर लेती हैं (Stamped in). ठीक इसके विपरीत असन्तुष्टि (Annoyance) प्रदान करनेवाली क्रियाएँ प्राणी नहीं दुहराना चाहता और फलस्वरूप वह उन क्रियाओं को नहीं सीख पाता। प्राणी से ऐसी क्रियाओं (Annoying) का लोप हो जाता (Stamping out) है।

भूखी बिल्ली पिंजड़े का दरवाजा खोलना इसलिए सीख गई कि दरवाजा खोलने से मछली मिल पाती थी जिसे खाकर वह सन्तुष्ट हो जाती थी।

अस्तु, दरवाजा खोलने की क्रिया बिल्ली को सन्तुष्टि प्रदान करती है। यही कारण है कि बिल्ली 'लिवर' (Lever) दबाकर दरवाजा खोलने की क्रिया सीख जाती है। ठीक इसके विपरीत उछलने कूदने-नोचने-खिसोटने की क्रियाएँ धीरे-धीरे घटती जाती हैं और बिल्ली उन क्रियाओं को जिनको करने से उसे अपनी समस्या (कैसे दरवाजा खोलकर मछली खाई जाए) के समाधान में कोई सन्तुष्टि नहीं मिलती, नहीं सीखती है।

यह हमारे दैनिक अनुभव की बात है कि जिन व्यवहारों से हमें सफलता मिलती है, उन्हें करना हम इसलिए सीख जाते हैं कि सफलता से हमें मानसिक अथवा शारीरिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। साधारणतः विद्यार्थियों को जिस कार्य को करने के लिए पुरस्कार मिलते हैं अथवा प्रतिष्ठा मिलती है, वे कार्य विद्यार्थी सीख लेते हैं, परन्तु जिस कार्य को करने से उन्हें दण्ड (Punishment) मिलता है; उस काम को करना वे छोड़ देते हैं। पुरस्कार से सन्तुष्टि मिलती है तथा दण्ड से असन्तुष्टि।

'प्रभाव-नियम की आलोचना'

(Criticism of the Law of Effect)

ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि यह नियम 'अभ्यास-नियम' के पूरक जैसा है। प्राणी उन्हीं क्रियाओं को बार-बार दुहराता है (Exercise) जिनको करने से उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अस्तु, 'अभ्यास और प्रभाव-नियम' का आपस में गहरा सम्बन्ध है।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने इसमें कई एक दोषारोपण किये हैं; परन्तु उनका दोषारोपण पूर्णरूपेण ठीक नहीं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि किसी वस्तु अथवा घटना का 'प्रभाव' (Effect) तो आगे आनेवाले समय में देखा जाता है न कि पीछे बीते हुए समय में। प्रभाव (Effect) सदा आगे की ओर (Forward) पड़ता है। यहाँ प्रभाव आगे आनेवाले समय में (Forward effect) न होकर पीछे की ओर (Backward effect) पड़ता है। मछली खा जाने से उत्पन्न सन्तुष्टि का प्रभाव पीछे की क्रिया (दरवाजा खोलना) पर पड़ता है। इस 'पृष्ठोन्मुख-प्रभाव' (Backward effect) की व्याख्या जिसे 'थार्नडाइक' ने प्रस्तुत की है; सभी मनोवैज्ञानिकों को मान्य नहीं। मनोवैज्ञानिकों ने अपने कुछ प्रयोगों में प्राणी को असन्तुष्टि

प्रदान करनेवाली क्रियाओं को भी सीख लेते पाया है। साधारणतः 'प्रभाव-नियम' के अनुसार व्यक्ति के सीखने पर 'पुरस्कार' का प्रभाव इसलिए पड़ता है कि पुरस्कार मिलने पर व्यक्ति को एक प्रकार की सन्तुष्टि की प्राप्ति होती है। परन्तु 'म्युयेनजिंगर' (Muenzinger) नामक मनोवैज्ञानिक ने अपने प्रयोग में पाया कि प्राणी ने उन क्रियाओं को भी शीघ्रता से और ठीक-ठीक सीख लिया जिनके लिए उन्हें दण्ड दिया गया। उन्होंने कई एक प्रयोग किये, जिनमें एक प्रयोग इस प्रकार था—

एक लकड़ी का बड़ा-सा बोर्ड था जिसमें कई एक बराबर आकार के छेद बने थे। उन छिद्रों की परिधिनुमा किनारी 'मेटल' से मढ़ी थी। व्यक्ति (प्रयोज्य अथवा Subject) के हाथ मे एक 'मेटल' (Metal) का टेकुआ (Stylus) दे दिया गया। कुछ छेदों के पीछे बिजली का ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि उन छेदों में टेकुआ डालते ही व्यक्ति को बिजली का 'करेण्ट' लग जाता था। बिजली का 'करेण्ट' लगना व्यक्ति के लिए दण्ड स्वरूप था जो व्यक्ति में असन्तुष्टि (Annoyance) उत्पन्न करता था। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी छेद थे जिनमें टेकुआ डालने पर व्यक्ति के हाथ में कोई 'करेण्ट' नहीं लगता था।

जिन-जिन छेदों में टेकुआ डालने पर करेण्ट लगता था, उन छेदों को 'म्युयेनजिंगर' ने 'राइट होल्स' (Right Holes) की संज्ञा दी थी तथा जिन जिन छेदों में टेकुआ डालने पर करेण्ट नहीं लगता था, उन छेदों का नाम उन्होंने 'रौंग हौल्स' (Wrong Holes) रक्खा था।

'म्युयेनजिंगर' ने पाया कि कुछ प्रयत्नों के बाद ही व्यक्ति यह सीख गया कि उस बोर्ड के अन्दर कौन-कौन-से छेद 'राइट होल्स' (Right Holes) है। अर्थात् किन-किन छेदों में टेकुआ डालने पर 'करेण्ट' लगता है।

फलस्वरूप उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति दण्ड के द्वारा भी सीखता है। जिन क्रियाओं को करने से व्यक्ति को असन्तुष्टि मिलती है उन क्रियाओं को भी वह सीख लेता है।

अस्तु, 'म्युयेनजिंगर' के अनुसार 'प्रभाव-नियम' में आंशिक सत्यता ही वर्तमान है। हम अपने दैनिक जीवन में भी पाते हैं कि छात्र को बहुत सी बातों को सिखलाने के लिए दण्ड की भी आवश्यकता पड़ जाती है। तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि दण्ड (Punishment) भी व्यक्ति को सीखने में प्रायः सहायक होता है।

'प्रभाव-नियम' के समर्थकों जैसे, 'हल' (Hull) का कहना है कि एक बार दण्ड पाने पर सीखनेवाला व्यक्ति अपने सीखने के लिए किये गये दूसरे प्रयत्नों में यह प्रयास करता है कि किस प्रकार वह दण्ड से अपने को बचा (Escape from punishment) सके। यदि वह अपने दूसरे प्रयत्न में भी फिर दण्ड पाता है तो फिर तीसरे प्रयत्न (Trial) में वह फिर प्रयास करता है कि किस प्रकार ऐसे व्यवहार किये जाएँ कि दण्ड मिले ही नहीं और इस प्रकार धीरे-धीरे अनेक प्रयत्नों के बाद वह उस सीखी जानेवाली क्रिया को करना इस ढंग से सीख लेता है कि फिर उसे दण्डित नहीं होना पड़ता। यहाँ दण्ड पाने पर अगले प्रयत्नों (Trials) में दण्ड मे अपने को बचा लेने (Escape from punishment) के सफल प्रयासों से चूँकि प्राणी को क्रमशः अपेक्षाकृत (Relatively) अधिक संतुष्टि (Satisfaction) प्राप्त होती जाती है, इसीलिए प्राणी दण्ड पाकर भी प्रायः सीखता पाया जाता है। दण्ड से बच पाना भी प्राणी को सतुष्टि प्रदान करता है। अस्तु, प्रभाव-नियम के समर्थकों के अनुसार प्रभाव-नियम की 'म्युयेनजिंगर' द्वारा की गई आलोचना ठीक नहीं।

'म्युयेनजिंगर' (Muenzinger) के प्रयोग में व्यक्ति दो-चार प्रयत्नों में ही, बोर्ड में 'राइट होल्स' (Right holes) कौन-कौन है—यह इसलिए सीख गया कि प्राणी बारम्बार नहीं सीख सकने के कारण दण्डित होना नहीं चाहता। दण्ड पाने पर व्यक्ति दण्ड से छुटकारा पाना चाहता है जो उसे संतुष्टि प्रदान करती है। (Escape from punishment is satisfying to the organism) इसीलिए दंड की अवस्था में भी प्राणी प्रायः सीखता पाया जाता है।

सीखने की क्रिया में प्राप्त 'संतुष्टि' और 'असंतुष्टि' दोनों के महत्व को देखने हुए 'माउरर' (Mowrer) नामक मनोवैज्ञानिक के 'प्रभाव नियम' को 'प्रभाव-नियम' (Law of effect) न कहकर 'प्रभावों का नियम' (Law of effects) कहना अधिक उपयुक्त समझा है।

उनका कहना है कि सीखने की क्रिया ऐसी भी हो सकती है जिसमें क्रमशः सतुष्टि और असंतुष्टि दोनों ही प्राणी को प्राप्त होती है। उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि मान लीजिए कि किसी व्यक्ति के दाँतों में किसी खराबी के कारण भयंकर दर्द हो रहा है। अब दर्द से छुटकारा पाने का एकमात्र यही उपाय है कि उन दाँतों को तुड़वा दिया

जाय। वह सोचता है कि दाँतों को तुड़वाने से दाँत का दर्द छूट जायेगा। इससे उसे चैन मिलेगा। दाँतों को तुड़वा लेना उसे संतुष्टि प्रदान करेगा। परन्तु वह फिर सोचता है कि दाँत तुड़वाते समय उसे कष्ट होगा। फिर दाँतो के टूट जाने पर तो उसे कोई नया दाँत नहीं निकलनेवाला होगा। उसका मुँह बूढ़ों के जैसा लगेगा। नकली दाँत बनवाकर लगाने पर भी तो यह बात छिप नहीं सकेगी और आखिर वे बनावटी दाँत भी पहले जैसे अब कभी नहीं लगेंगे। अस्तु, ये विचार उसी समय उसके अन्दर असंतुष्टि (Annoyance) उत्पन्न करते हैं। दाँत तुड़वाना उसे संतुष्टि और असंतुष्टि दोनों एक साथ ही प्रदान करता है। फिर भी वह सोचता है कि दाँत तुड़वा लेना ही अच्छा है चूँकि वह इस दर्द की हालत में अधिक दिनों तक जीवित भी शायद नहीं रह सकता है और वह दाँत तुड़वा लेता है। कुछ दिनों के बाद उस व्यक्ति के दूसरे दाँत में फिर दर्द होता है— फिर उसके सामने सतुष्टि एवं असंतुष्टि की प्रायः वैसी ही समस्या उत्पन्न हो जाती है। भिन्न-भिन्न असतुष्टियों के बीच भी वह फिर तात्कालिक सतुष्टि के लिए दाँत तुड़वा लेता है जो उसके लिए अधिक आवश्यक (Needed) है। इसी प्रकार व्यक्ति यह सीख लेता है कि जब फिर कभी दाँत के सड़ने अथवा भयंकर रोग के कारण दर्द हो तो उसे तुड़वा ही लेना चाहिए।

अस्तु, हम पाते हैं कि व्यक्ति के सीखने पर 'सतुष्टि' (Satisfaction) एवं 'असंतुष्टि' (Annoyance) दोनों का प्रभाव पड़ता है।

(३) 'तत्परता का नियम'
(Law of Readiness)

इस नियम में दो प्रमुख बातें जानने की हैं।

(१) प्राणी की शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाएँ जब किसी उत्तेजना को ग्रहण करने, स्नायुमण्डल में उस उत्तेजना से उत्पन्न स्नायु-प्रवाह (Nerve impulse) का परिवहन (Conduction) करने एवं उसके प्रति प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने के लिए तत्पर (Ready) रहती हैं तो ऐसी अवस्था मे यदि उस प्राणी को उपर्युक्त कार्य करने का अवसर दिया जाये तो वह कार्य प्राणी में सन्तुष्टि (Satisfaction) उत्पन्न करेगा।

(२) दूसरी बात यह है कि जब प्राणी में उपरोक्त शारीरिक अथवा मानसिक तत्परता (Readiness) नहीं रहती है तब यदि उसे किसी

कार्य को करना पड़ता है तो उस कार्य को करने से उसमें असन्तुष्टि (Annoyance) उत्पन्न होती है।

पाठक यहाँ ध्यान रक्खें कि इस तत्परता के पीछे कोई-न-कोई प्रेरक (Motive) अवश्य कार्य करता है। इस विषय की विशद् व्याख्या यहाँ अभीष्ट नहीं है।

'सूझ का सिद्धान्त'
(Insight Theory)

'कोहलर' (Kohler) तथा 'कफका' (Koffka) ने 'सीखने' (Learning) की क्रियाओं की व्याख्या 'सूझ के सिद्धान्त' के द्वारा की है। उनका कहना है कि प्राणी अपनी सूझ के कारण ही सीख पाता है। यदि प्राणी में सूझ न हो तो वह किसी भी क्रिया को नहीं सीख सकेगा। समस्यापूर्ण परिस्थिति मे प्राणी में 'सूझ' का उत्पन्न हो जाना समस्या के समाधान के लिए आवश्यक है। सूझ खासकर अधिक जटिल प्रक्रियाओं को सीखने में और भी आवश्यक है। डाक्टरी की कला, इञ्जीनियरिंग, साहित्य-रचना, चित्रकारी, संगीत आदि सभी कलाओ को सीखने तथा उसमें निपुण होने के लिए सूझ की आवश्यकता है। बिना 'सूझ' के ही यदि 'प्रयत्न और भूल' के द्वारा सीखने का प्रयास किया जाय तो सीखना असम्भव है।

'सूझ' निम्न स्तर के प्राणियों में बहुत कम पायी जाती है। इसी से वे अधिक जटिल क्रियाओं को करना नहीं सीख पाते। निम्न स्तर के प्राणियों की शारीरिक बनावट भी उन्हें अधिक बातें सीखने में बाधा डालती है। परन्तु सूझ की कमी के कारण जो स्नायुमण्डल के विकास और जटिलता पर निर्भर करती है, प्राणी को जहाँ तक नई-नई क्रियाओ के सीखने का प्रश्न है, एक सीमा में बाँध देती है। यही कारण है कि कुत्ते और बन्दर, बिल्ली और खरहों मे अधिक जटिल कार्य करने मे समर्थ हैं। मनुष्य मे सूझ की अधिकता के कारण ही कुत्ते और बन्दरो की क्रियाओं से कहीं अधिक जटिल क्रियाओ को सीख पाता है। विज्ञान की उन्नति सूझ के महत्त्व को प्रमाणित करने के लिए सबसे अधिक सुन्दर उदाहरण है।

जैसे-जैसे हम निम्न स्तर के प्राणियों से उच्च स्तर के जीव-जन्तुओं की ओर बढ़ते जाते हैं, सूझ की मात्रा में भी क्रमशः वैसे-वैसे विकास पाते जाते हैं। 'डार्विन' (Darwin) महोदय के विकासवाद के सिद्धान्त पर ध्यान देने से इस विषय को समझने मे अधिक सहायता मिल सकती है।

'कोहलर' (Kohler) ने अपने इस 'सूझ के सिद्धान्त' का प्रतिपादन अपने कुछ प्रयोगों के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर किया। उनके प्रयोग अधिकतर बनमानुषों (Apes) पर हुए। बाद में चलकर मनुष्यों पर तो और भी अनेक प्रयोग किये गये। 'कोहलर' (Kohler) के द्वारा बनमानुषों पर किये गये प्रयोगो को हम निम्नलिखित दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) छड़ी की समस्याओ पर प्रयोग (Experiment on stick-problem), (२) बक्सों की समस्याओं पर प्रयोग (Experiment on Box-problems).

(१) 'छड़ी की समस्याओं पर प्रयोग'
(Experiment on Stick-problems)

'कोहलर' ने एक भूखे बनमानुष को एक बहुत बडे पिंजड़े मे बन्द कर दिया।

पिंजड़े के भीतर दो छड़ियाँ रक्खी हुई थीं। उन दोनों की बनावट ऐसी थी कि एक छड़ी दूसरी छड़ी से जोड़ दी जा सकती थी। पिंजड़े के बाहर बनमानुष के सामने केले रख दिये गये थे। बनमानुष को भूखा रक्खा गया था। उसके सामने यह समस्या उत्पन्न हो गयी कि पिंजड़े के सामने पड़े उन केलों को किस प्रकार खाया जाय। बनमानुष ने पिंजड़े की छड़ो के बीच से पहले अपना हाथ बढ़ाया, फिर पैर बढ़ाकर देखा। केलों की दूरी पिंजड़े से कुछ अधिक थी। अतः बनमानुष के हाथ अथवा पैर केले तक नहीं पहुँच सके, जिसके फलस्वरूप वह केला नहीं पा सका। भूखा होने के कारण उसने बार-बार कोशिशें की। सहसा पिंजड़े के अन्दर रक्खी गयी छड़ियों पर उसका ध्यान गया।

उसने बारी-बारी से दोनों छड़ियों से केलों को खींचकर पिंजड़े के भीतर ले आने का प्रयत्न किया। इन छड़ियों की अलग-अलग लम्बाई उसके हाथ अथवा पैर की लम्बाई से अधिक थी। फिर भी वह केलों को प्राप्त करने में असमर्थ ही रहा। लगातार के प्रयासों के पश्चात् भी उसे निराशा प्राप्त होती गयी। 'कोहलर' (Kohler) ने देखा कि धीरे-धीरे बनमानुष जैसे केलों की ओर से निराश हो गया, वह उन्हीं छड़ियों को लेकर पिंजडे के अन्दर इधर-उधर कुछ खेल जैसे व्यवहार प्रदर्शित करने लगा। सहसा खेल-खेल में दोनों छड़ियाँ जुट गयीं। आपस में जुट जाने के कारण वह छड़ी लम्बी हो गयी। बनमानुष में अचानक अधिक
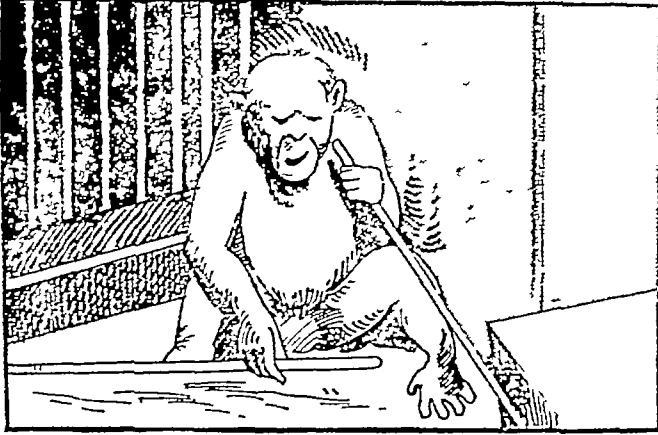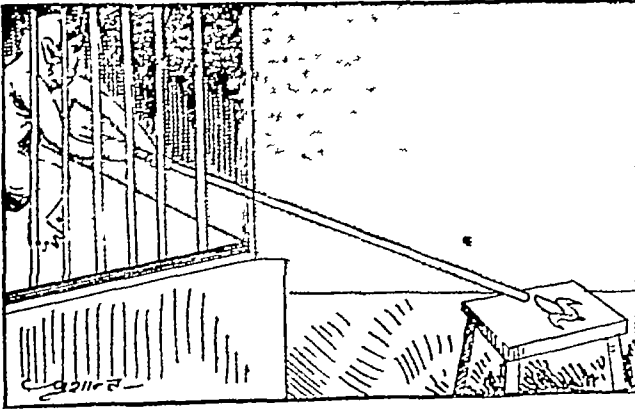
चित्र न० १३—कोहलर द्वारा वनमानुष पर छडीवाली
समस्या पर किये गये प्रयोग का चित्र

(क) वनमानुष पिंजड़े के भीतर छड़ियों से खेल रहा है। (ख) खेलते-खेलते एकाएक एक छड़ी दूसरी छडी के छेद में घुस जाती है। (ग) वनमानुष इन जुडी हुई दो छडियो के सहारे पिंजड़े से बाहर टेबुल पर रक्खे केले को अपने पास लाने की चेष्टा कर रहा है।

उत्साह दिखाई पड़ा। उसने फिर इस जुड़ी हुई छड़ी के द्वारा केले को अपनी ओर खींचने का प्रयास किया। अतः इस बार वह इस छड़ी के द्वारा केलों को प्राप्त करने में सफलीभूत हुआ तथा उनको खाकर सन्तुष्ट हुआ। अब वह यह सीख गया था कि एक छड़ी दूसरी छड़ी से जुट जाती है और केले को पिंजड़े में लाने के लिए उसका जुटना अनिवार्य है। अगली बार मे वह शीघ्र ही दोनों छड़ियों को जोड़कर केले को खींच लेता तथा उन्हें खाकर वह सन्तुष्ट हो जाता था। (चित्र नं० १३ को देखें)

(२) 'बक्स समस्याओं पर प्रयोग'
(Experiment on Box-problems)

इसी प्रकार एक दूसरे प्रयोग मे 'कोहलर' ने एक कमरे में कुछ केलों को छत मे कील के सहारे लटका दिया। कमरे में छोटे-बड़े तीन बक्से रख दिये गये। फिर कमरे में एक भूखे वनमानुष को रखकर कमरा बन्द कर दिया गया। कमरे से लगे ही 'कोहलर' ऐसी जगह बैठे थे जहाँ से वे वनमानुष के सारे व्यवहार देख सकते थे, परन्तु वनमानुष को जरा भी पता नहीं चल सकता था कि उसे कोई देख भी रहा है।

कमरे में आते ही वनमानुष ने कमरे में इधर-उधर नजर डालकर देखना शुरू किया। भूखा होने के कारण केलो ने उसका ध्यान तुरत आकर्षित कर लिया। वनमानुष ने पहले तो उछल-उछलकर केलों को पा लेने की कोशिशें कीं, परन्तु केलों की ऊँचाई इतनी रक्खी गयी थी कि वनमानुष उसे उछलकर प्राप्त नहीं कर सकता था। 'कोहलर' ने देखा कि कुछ समय के बाद वनमानुष ने एक 'बक्सा' (Box) लटकते हुए केलों के नीचे लाकर रख दिया तथा उस पर चढ़कर उसने केलों को पाने का प्रयास किया। परन्तु फिर भी उसको अभी और अधिक ऊँचाई की आवश्यकता थी। थोड़ी देर मे वनमानुष ने दूसरा बक्स लाकर पहले बक्से के ऊपर रख दिया। फिर दोनों बक्सों के ऊपर चढकर उसने केलों तक पहुँचने की कोशिशें कीं। परन्तु फिर भी वह निराश रहा। सहसा उसने कमरे में पड़ा तीसरा बक्सा भी लाकर एक दूसरे पर रक्खे गये दोनों बक्सों के ऊपर डाल दिया। अब तीनों बक्सों के एक दूसरे पर रख दिये जाने से उनकी सम्मिलित ऊँचाई इतनी हो गई थी कि उन पर चढ़ जाने पर वनमानुष ने शीघ्र केलों को पा लिया तथा उन्हें खाकर उसने अपनी भूख मिटा ली।

अगले दिन जब इस प्रयोग को दुहराया गया तो बनमानुष ने शीघ्र बक्सों को एक दूसरे पर डाल दिया और केलों को खाकर सन्तुष्टि प्राप्त की।

'कोहलर' ने पाया कि कुछ समय तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति में विफल होने के बाद बनमानुष चुपचाप बैठ जाता था, परन्तु एकाएक उसमें एक 'नई सूझ' (अपनी समस्या का सुलझाने का एक नया तरीका) आ जाती थी। वह अचानक अत्यधिक उत्साहित होकर इस नये तरीके को प्रयोग में लाता था। 'कोलहर' ने इस अचानक उत्साहित हो जाने की क्रिया को 'सूझ के आगमन का परिचायक-व्यवहार' माना है। और इस अनुभव को 'आहा अनुभव' (Aha Experience) की सज्ञा दी है।

यह 'आहा अनुभव' (Aha Experience) मनुष्यों में अक्सर देखने को मिलता है। मान लीजिए कि आप 'अलजबरा' (Algebra) का कोई प्रश्न बना रहे हैं। सवाल आपको कठिन मालूम पड़ता है। थोड़ी देर के लिए आप समझ नहीं पाते हैं कि इस सवाल को बनाने के लिए कौन-सा सूत्र (Formula), कौन-सी विधि सबसे अधिक उपयुक्त होगी। आप थोड़ी देर के लिए मौन हो जाते हैं—सोचने लगते हैं। अचानक आपको उचित विधि अथवा उत्तर मिल जाता है। आपका हृदय प्रसन्नता से उछल पड़ता है। आप बोल पड़ते हैं—'बन गया! बन गया!' प्रसन्नता का अनुभव तब होता है, जब उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में आपको सफलता मिल जाती है। इसी अनुभव को 'कोहलर' ने 'आहा अनुभव' (Aha Experience) कहा है। 'आहा अनुभव' व्यक्ति मे सूझ के आगमन का द्योतक है।

उपर्युक्त दोनों प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि समस्याओं के विभिन्न पहलुओं के बीच के सम्बन्ध के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न 'आकस्मिक समस्या-समाधान' (Sudden solution of the problem) को ही 'सूझ' की संज्ञा दी गई है। (Sudden solution of a problem, apparently by seeing thc relation between one aspect of it and its other aspects, has been designated as 'Insight')।

पहले प्रयोग में पिंजड़े से केले की दूरी तथा दोनों छड़ियों के आपस में जुट जाने के कारण जो उनकी लम्बाई हो गई, उनके बीच के सम्बन्ध

के प्रत्यक्षीकरण को ही 'सूझ' कहेंगे। इसी 'सम्बन्ध के प्रत्यक्षीकरण' क फलस्वरूप उस समस्या का 'आकस्मिक समाधान' हो पाया।

इसी प्रकार दूसरे प्रयोग में बक्सों को एक दूसरे पर रखने से जो उसकी ऊँचाई हो गई और उससे केले की दूरी के बीच के सम्बन्ध के प्रत्यक्षीकरण के कारण ही उस समस्या का आकस्मिक समाधान हो पाया। अतः इसे ही 'सूझ' की संज्ञा दी गई है।

'सूझ द्वारा सीखने की दो आवश्यक बातें'

'सूझ' के द्वारा सीखने के लिए भी 'थार्नडाइक' के प्रयोगों के समान निम्नलिखित दो आवश्यक बातों का होना अनिवार्य है—

(१) प्राणी के सामने समस्या का उपस्थित होना—यह सबसे पहली और आवश्यक बात है। समस्या एक ऐसी परिस्थिति को कहते हैं जिसके साथ अभियोजन करने में पुराने सभी सीखे हुए अनुभव बेकार मालूम पड़ने लगते हैं। (Problematic situation is a situation in which all our past modes of behaviour fail to adjust with it.) बनमानुष के सामने केले को पिंजडे के अन्दर खींचकर लाना इसलिए एक समस्या हो गई कि उसके भूतकाल के सीखे अनुभव एवं व्यवहार केले को खींचने में उसकी सहायता कर सकने में असमर्थ प्रमाणित होने लगे।

(२) प्राणी के अन्दर कुछ प्रेरक शक्ति का क्रियाशील होना—यदि प्राणी के अन्दर प्रेरणा क्रियाशील नहीं होगी तो प्राणी उपस्थित-समस्या पर ध्यान ही नहीं देगा। फलतः समस्या के समाधान का प्रश्न ही नहीं उठेगा। यदि बनमानुष भूखा नहीं रहता तो 'केलों को कैसे पाया जाय' की समस्या उसके सामने नहीं उपस्थित होती। यदि उसके सामने की समस्या को सुलझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती तो 'सूझ' के व्यवहार प्रकट ही नहीं हो पाते।

'सूझ' के द्वारा सीखने की क्रिया की प्रमुख विशेषताएँ (Criteria of Insightful Learning)

'अर्केस' (Yerkes) नामक मनोवैज्ञानिक ने भी इस विषय पर कई एक प्रयोग किये हैं। अपने प्रयोगों के आधार पर उन्होंने 'सूझ' से सीखने की क्रिया की कुछ विशेषताएँ बतलायी हैं—वे विशेषताएँ संक्षेप में प्रायः इस प्रकार उद्धृत की जा सकती हैं—

(१) समस्यापूर्ण परिस्थिति का प्राणी के द्वारा अनुभव एवं निरीक्षण, (२) प्राणी में "क्या करे, क्या नहीं करे" का उलझन (Hesitation) तथा फिर चुप एवं शान्त स्थिति, (३) समस्या-समाधान के लिए प्राणी के द्वारा किये गये प्रयत्न एवं भूल, (४) समस्या-समाधान के लिए एक व्यवहार के असफल होने पर दूसरे व्यवहारों का प्रयोग, (५) प्राणी में प्रेरणा का बना रहना तथा प्राणी का उद्देश्य-प्राप्ति की ओर ध्यान का लगा रहना, (६) परिस्थिति के प्रति अभियोजन की दृष्टि से व्यवहारों की उपयुक्तता, (७) एक समस्या का समाधान पा लेने पर उसे सीखने के लिए फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं, (८) काफी दिनों तक सफल क्रियाओं का याद रखना तथा (६) सूझ के द्वारा एक परिस्थिति में समस्या का हल सीख लेने पर दूसरी समान परिस्थितियों में समस्या के समाधान में सहायता मिलना।

अन्तिम दो विशेषताओं पर "टेलर तथा कैटोना" (Taylor and Katona) नामक मनोवैज्ञानिक ने अधिक जोर दिया है।

'हिगिन्सन (Higginson) का चूहों पर प्रयोग'

चूहों पर प्रयोग—'कोहलर' (Kohler) तथा 'कफका' (Koffka) के प्रयोगों के बाद ये तो सीखने की क्रिया पर सैकड़ों प्रयाग किये जा चुके हैं। आवश्यकता के अनुसार सिर्फ दो प्रमुख प्रयोगों को हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

'हिगिन्सन' (Higginson) ने नौ चूहों को एक 'T' के आकार के भूलभुलैया में भोजन के कमरे तक पहुँचने की ट्रेनिंग दी। भोजन के स्थान पर पहुँचना सीखने के लिए २५ प्रयत्न (Trials) काफी थे। परन्तु 'हिगिन्सन' ने सभी को सौ-सौ प्रयत्नों के द्वारा (Trials) भोजन के स्थान तक पहुँचना सिखलाया। नतीजा यह हुआ कि चूहे भूलभुलैया के दरवाजे से लेकर भोजन तक पहुँचने में निपुण हो गये।

ये सारे के सारे प्रयत्न चूहों को 'एक नम्बर के रास्ते' से भोजन तक जाना सिखलाने के लिए दिये गये। जब चूहे 'एक नम्बर के रास्ते' से भोजन तक पहुँचने में अत्यन्त निपुण हो गये तो उसके बाद एक 'नया रास्ता' (दूसरा मार्ग) बनाया गया जो भोजन तक पहुँचने में पहले की

तुलना में छोटा पड़ता था। १०१वाँ प्रयत्न (Trial) में देखा गया कि नौ चूहों में से पाँच ने भोजन रखे गये निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए 'छोटा मार्ग' (दो नम्बर का मार्ग) अपना लिया। अगर कुछ प्रयत्नों में सभी चूहों ने 'बड़े मार्ग' को छोड़कर 'छोटा मार्ग' अपना लिया।

भोजन तक पहुँचने के लिए 'छोटा मार्ग' अपना लेना तथा अत्यधिक सीखे हुए उस 'लम्बे मार्ग' को छोड़ देना निश्चय ही सूझ का परिचायक है। 'छोटे मार्ग' को अपना लेने से शक्ति (Energy) और समय (Time) दोनों की बचत होती है। चूहों ने दोनों मार्गों की लम्बाइयों का 'तुलनात्मक प्रत्यक्षीकरण' के द्वारा ही यह जाना कि 'छोटे मार्ग' को अपना लेने से समय और शक्ति दोनों की बचत होगी। 'सूझ' प्राणी को अपनी परिस्थिति
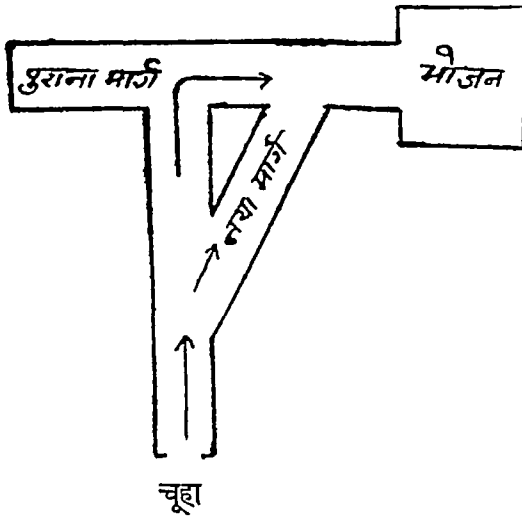
चित्र १४—'हिंगिसन' महोदय का चूहों पर 'T' की शक्ल के भूलभुलैया पर प्रयोग
(एक नम्बर का मार्ग=पुराना एव लम्बा मार्ग तथा दो नम्बर का मार्ग=नया एव छोटा मार्ग)

के भिन्न-भिन्न पहलुओं के आपसी सम्बन्ध को समझने (प्रत्यक्षीकरण) को कहते हैं जो समस्या के 'आकस्मिक समाधान' में सहायता प्रदान करती है। ('Insight' is seeing relationship between the different aspects of the field leading to a sudden solution of the problem.) यदि 'थार्नडाइक' का सिद्धान्त पूर्णतः ठीक होता अर्थात् सीखना यदि एकदम यान्त्रिक (Mechanistic) क्रिया होती तो लम्बे और छोटे मार्गों के आपसी सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण प्राणी के लिए असम्भव हो जाता।

'डेहन का चक्करदार या घुमाव-मार्गवाला प्रयोग'
(Dehan's Detour problem)

यह प्रयोग एक भूखे कुत्ते पर किया गया। एक जालीदार घेरे के एक तरफ उस कुत्ते को रख दिया गया तथा दूसरी तरफ उसके लिए भोजन रखा गया। वह भूखा कुत्ता अपने भोजन को साफ-साफ देख रहा था। भूख के कारण वह जाली को तड़पकर उस पार जाने के लिए छलाँगें मारने लगा। पर जाली काफी ऊँची और मजबूत थी। कुत्ता निराश रहा। वह एक जगह थककर बैठ गया और थोड़ी देर बाद अचानक फुर्ती से उठा और जाली की एक छोर के किनारे की ओर से घूमकर जाली की दूसरी ओर चला गया जहाँ उसके लिए खाना रखा
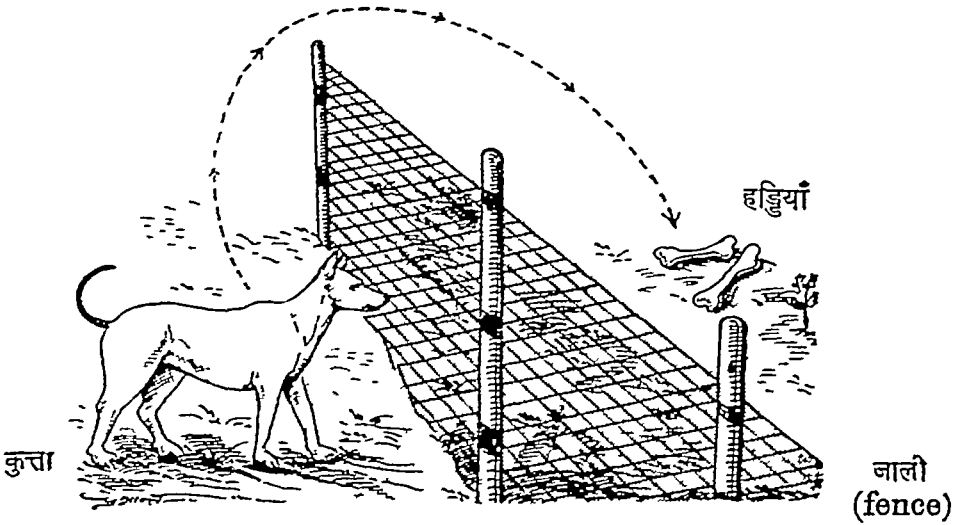
चित्र नं० १५—'डेहन' महोदय द्वारा 'चक्करदार-मार्ग' (Detour problem) समस्या-सम्बन्धी कुत्ते पर किये प्रयोग का चित्र।

था। खाना खाकर वह सतुष्ट हो गया (चित्र नं० १५ देखें)। दूसरे दिन के प्रयोगों में यह देखा गया कि कुत्ते ने छलाँग मारनी बन्द कर दी है और वह 'घुमाव-मार्ग' (Detour route) या 'चक्करदार-मार्ग' द्वारा जाकर भोजन पाने की क्रिया सीख गया है।

भोजन कुत्ते के समीप था पर बीच में रुकावट होने के कारण कुत्ता भोजन पाने में असमर्थ था। 'घुमाव-मार्ग' मे भोजन तक पहुँचने में अधिक दूरी तय करनी पड़ती थी, परन्तु यह व्यवहार उस परिस्थिति में अधिक उपयुक्त था। अन्त मे इस नये उपयुक्त व्यवहार का (उस परिस्थिति)

कुत्ते के द्वारा प्रदर्शन उसकी सूझ का परिचायक था। "अस्तु भोजन कैसे प्राप्त किया जाय" की समस्या का समाधान यहाँ 'सूझ' के द्वारा होता है न कि केवल 'प्रयत्न अथवा भूल' के द्वारा।

इन प्रयोगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीखने की क्रिया में प्रयत्न और भूल से अधिक महत्व 'अन्तर्दृष्टि अथवा सूझ' का है। बिना कुछ सोचे-समझे तथा बिना किसी चिन्तन के सीखना असम्भव है। सूझ भी प्राणी की बुद्धि, सोचने-समझने, गत अनुभव आदि की मात्रा पर निर्भर करती है।

(३) 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का सिद्धान्त'
(Conditioned-Reflex Theory)

'पावलव' (Pavlov) नामक रूसी मनोवैज्ञानिक ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

'पावलव का प्रयोग'—'पावलव' ने एक कुत्ते पर प्रयोग किया। कुत्ते को एक ऐसे कमरे में रखा गया जिसमें बाहर से किसी प्रकार की आवाज नहीं पहुँच सकती थी। कुत्ता भूखा था। प्रत्येक बार एक घण्टी बजा दी जाती थी और घण्टी बजने के लगभग तीन सेकेण्ड के बाद कुत्ते के सामने भोजन दिया जाता था। घण्टी बजने के कुछ देर बाद भोजन देने की क्रिया कई दिनों तक दुहरायी गयी। धीरे-धीरे कुत्ता सीख गया कि घण्टी का बजना भोजन के आने का द्योतक है। कुछ दिनों के बाद केवल घण्टी ही बजाई गयी किन्तु भोजन नहीं दिया गया। परिणाम यह हुआ कि कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगा। धीरे-धीरे ऐसा हुआ कि घण्टी बजते ही कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगता था।

'पावलव' ने बतलाया कि भोजन देखकर भूखे कुत्ते के मुख से लार का टपकना एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। भोजन को देखना और लार का निकलना दोनों का आपस मे स्वाभाविक (Natural) सम्बन्ध है। परन्तु घण्टी के बजने और लार के टपकने मे कुछ भी स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता। घण्टी बार-बार भोजन आने के पहले बजायी जाती थी अतः भोजन और घण्टी के बजने में एक नया सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस नये सम्बन्ध के स्थापित हो जाने का वह परिणाम हुआ कि कुत्ते के मुख से लार, जो पहले भोजन देखकर टपकता था, अब केवल घण्टी की ही आवाज पर टपकने लगा।

'पावलव' (Pavlov) ने देखा कि कुत्ता ने अब एक नया सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। 'पहला सम्बन्ध' भोजन और लार का था किन्तु अब 'नया सम्बन्ध', घण्टी के बजने और लार के टपकने में हो गया। इस 'स्वाभाविक प्रतिक्रिया' (Natural Response) को "अनकनडिसन्ड रेसपोन्स" (Unconditioned response) कहेंगे। यही स्वाभाविक प्रतिक्रिया जब किसी 'अस्वाभाविक उत्तेजक' जैसे यहाँ घण्टी का बजना एक अस्वाभाविक उत्तेजना (Unnatural stimulus) के प्रति होने लग जाती है तो इस नये सम्बन्ध की स्थापना को 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन' (Conditioning) कहते हैं। इसी अस्वाभाविक उत्तेजक को, नये सम्बन्ध की स्थापना के बाद 'कनडिसन्ड एसटीमुलस' या अस्वाभाविक उत्तेजना (Conditioned stimulus) कहा जाता है तथा वह स्वाभाविक प्रतिक्रिया जो अब इस Conditioned stimulus के प्रति होने लगी है, 'कनडिसन्ड रेसपोन्स' (Conditioned response) कहलाती है।
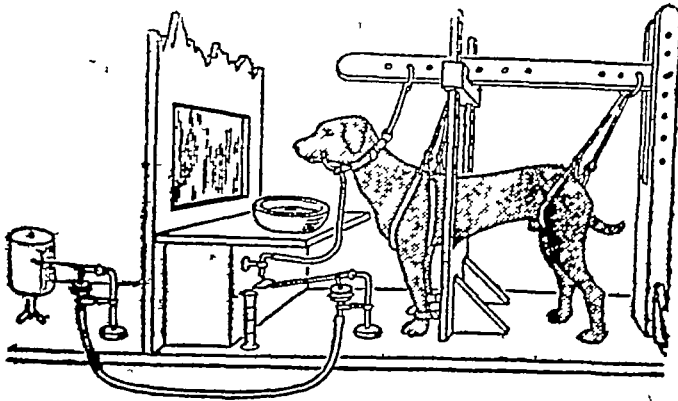
चित्र न० १६—'पावलव' महोदय द्वारा कुत्ते पर किये 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन' वाले प्रयोग का चित्र

भोजन एक स्वाभाविक उत्तेजना है लार के गिरने की प्रतिक्रिया के लिए तथा लार का गिरना भोजन के प्रति एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। घंटी का बजना लार गिरने की प्रतिक्रिया के लिए एक अस्वाभाविक उत्तेजक है। परन्तु यही लार गिरने की क्रिया जब स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में घण्टी की ध्वनि के प्रति होने लगती है तो इसे 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन' कहते हैं। 'पावलव' ने इसे 'कनडीशनिंग' (Coditioning) के नाम से पुकारा है, तथा कहा है कि सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन (Conditioning) के द्वारा ही प्राणी के प्रत्येक सीखने की क्रिया सम्पन्न होती है।

सम्बन्ध प्रत्यावर्त्तन के पूर्व की अवस्था—

(स्वाभाविक उत्तेजक) → भोजन (unconditioned stimulus) ————→ लार का टपकना (स्वाभाविक प्रतिक्रिया) (unconditioned response)
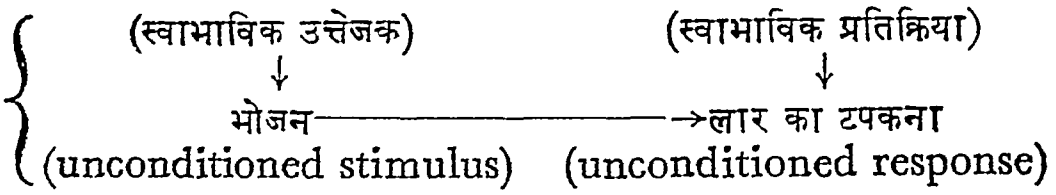
सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन के बाद की अवस्था—

(अस्वाभाविक उत्तेजना) → घंटी का बजना (conditioned stimulus) ————→ लार का टपकना
भोजन स्वाभाविक उत्तेजना (unconditioned stimulus) ————→ लार का टपकना स्वाभाविक प्रतिक्रिया (unconditioned response)
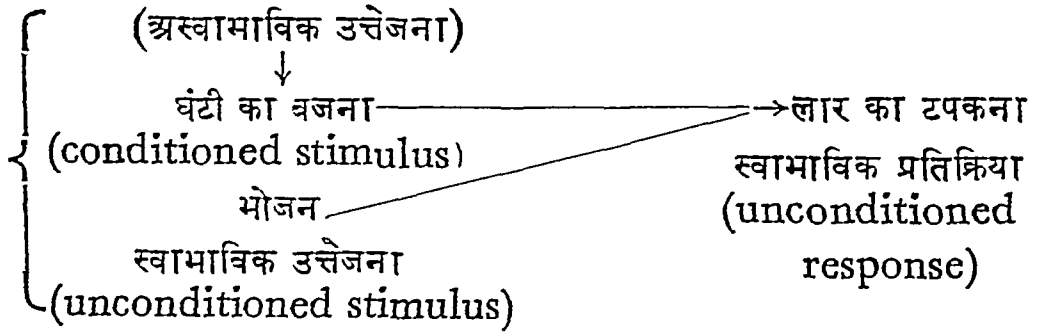
'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन के लिए कुछ आवश्यक बातें'

(i) 'न्यूट्रल' या तटस्थ (Neutral) या अस्वाभाविक उत्तेजना को 'औरिजनल' या मौलिक या स्वाभाविक उत्तेजना (Original or natural stimulus) के पहले प्रस्तुत किया जाना चाहिए। जैसे—घण्टी की ध्वनि की उत्तेजना को यदि भोजन के पहले प्रस्तुत नहीं किया जाये तो घण्टी की ध्वनि सुनकर प्राणी में लार टपकने की अभिसन्धित प्रतिक्रिया (Conditioned Response) नहीं उत्पन्न हो सकेगी।

(ii) प्राणी (प्रयोज्य) मे किसी-न-किसी सम्बन्धित प्रेरक (Motive) को सक्रिय (Active) रहना चाहिए। कुत्ता यदि भूखा न रहता तो उसे घण्टी की ध्वनि सुनकर लार न टपकता। यहाँ भूख एक प्रेरक का कार्य करती है।

(iii) प्राणी (प्रयोज्य) स्वयं सोया अथवा सुस्त न हो।

(iv) जहाँ प्राणी (प्रयोज्य) हो, वहाँ घण्टी के अतिरिक्त और कुछ भी ध्वनि न होने पाये।

(v) प्राणी (प्रयोज्य) का स्नायुमण्डल खासकर मस्तिष्क दुरुस्त रहनी चाहिए। कुत्ते के वृहत मस्तिष्क के कुछ आवश्यक भागों को काट दिये जाने पर कुत्ते मे सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन की प्रतिक्रियाएँ नहीं उत्पन्न होती देखी गयीं।

'मनुष्यों पर किये गये कुछ प्रयोग'

प्रयोगों की संख्या तो बहुत अधिक है किन्तु यहाँ एक का ही वर्णन यथेष्ट होगा।

'वाटसन' का प्रयोग (Watson's Experiment)—एक बहुत छोटा बच्चा था। उसके सामने एक सुन्दर उजला चूहा (खिलौना) रक्खा गया। खिलौना के पीछे एक पर्दा लगा था। चूहा (खिलौना) देखते ही बालक की स्वभाविक प्रतिक्रिया हुई, खिलौने की ओर अपने हाथ को बढ़ाना, प्रसन्न होना आदि। अचानक चूहे के पीछे टगे हुए पर्दे के पीछे से एक बड़े जोर की भयंकर आवाज की गयी। भयंकर आवाज को सुनते ही बालक भयभीत हो गया और उसने खिलौने की ओर बढ़ा हुआ अपना हाथ चट पीछे खींच लिया। बच्चे को बार-बार ऐसी परिस्थिति में डाला गया। जैसे ही बच्चा खिलौना की ओर आकर्षित होकर उसे छूने के लिए आगे बढ़ता था कि अचानक आवाज कर दी जाती थी। बच्चा प्रत्येक बार उस आवाज से अत्यन्त भयभीत हो जाता था।

धीरे-धीरे बच्चा बिना आवाज हुए ही सिर्फ उस खिलौने को देखकर डरने लगा। जैसे ही वह खिलौना उसके सामने लाया जाता था वैसे ही तुरत वह भयभीत हो जाया करता था। जो भय उसमें आवाज की प्रतिक्रिया के स्वरूप पैदा हुआ था, वह भय अब चूहा देखने मात्र से उत्पन्न हो जाता था। पहले वह चूहा से खेलना पसन्द करता था, परन्तु अब धीरे-धीरे न वह केवल चूहा से भयभीत होने लगा बल्कि प्रायः उस प्रकार के प्रत्येक रोंयेदार जानवर से डरने लगा जैसे—खरगोश, उजली बिल्ली, छोटे कुत्ते आदि। यहाँ तक कि एक दिन जब उसकी माँ ने रोंयेदार कोट (Fur Coat) पहनकर उसे अपनी गोद में उठा लिया। रोंयेदार कोट के सम्पर्क में आते ही बच्चा भयभीत हो गया तथा रोने लगा। 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन' की स्थापना के पूर्व बच्चा रोंयेदार कोट से कभी भयभीत होता हुआ नहीं देखा गया था।

इस प्रकार के सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन के उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन में अनेक मिलते हैं। प्राणी के बहुत से अनुभव ऐसे होते हैं जो सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन के कारण उसमें विशेष प्रकार का भय, आकर्षण अथवा घृणा पैदा कर देते हैं।

यह सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का ही परिणाम है कि हम अपने दोस्त के दोस्त को भी अपना दोस्त मानने लगते हैं। गणित के शिक्षक यदि बहुत बेरहम और खूँखार प्रकृति के हों तो बच्चा न केवल गणित के शिक्षक से ही डरता है, बल्कि धीरे-धीरे वह गणित से भी भागने लगता है। छोटे-छोटे सवाल भी उसे भयभीत करने लगते हैं। वह गणित से घृणा करने लगता है।

मनोवृत्ति (Attitude), विश्वास, धर्म, भाषा आदि के सीखने में तो सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का और भी महत्वपूर्ण स्थान है। यह सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का ही परिणाम है कि अमेरिकन, निग्रो को; गोरे, काले को; अथवा धनी, गरीबों को घृणा तथा उपेक्षा की भावना से देखते हैं। नादान बच्चा पहले साँप से बिल्कुल नहीं डरता है। परन्तु धीरे-धीरे वह साँप से इतना भयभीत होना सीख जाता है कि साँप का सीधा अर्थ मौत ही समझता है।

साधारणतः जब माँ का स्तन शिशु के मुख में पड़ता है तो शिशु में चूसने की प्रतिक्रिया देखी जाती है। परन्तु जब हम कभी शिशु में सिर्फ माँ की बोली सुनते ही चूसने जैसा मुख चलाने की प्रतिक्रिया देखें तो हमें यह तुरत समझ लेना चाहिए कि यह सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का ही परिणाम है।

'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन-सिद्धान्त की समालोचना'
(Criticism of the Conditioned—Response Theory)

सोवियत रूस के मनोवैज्ञानिक 'पावलव' (Pavlov) ने कहा था कि समाज में मनुष्यों के द्वारा होनेवाली सारी प्रतिक्रियाओं की व्याख्या सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन (Conditioning) के आधार पर की जा सकती है। बहुत अंशों तक यह बात ठीक भी है। खासकर 'सामाजिक मनोविज्ञान' में इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी विशेष मनोवृत्ति (Attitude) अथवा विश्वास आदि में आस्था उत्पन्न होना एवं दलों के बनने (Formation of the groups) अथवा उनके बिखरने (Disintegration) आदि की समस्याओं की व्याख्या करने के लिए यह सिद्धान्त काफी उपयुक्त मालूम पड़ता है। मनुष्यों की अच्छी-बूरी आदतों के निर्माण, उनके संवेग के संतुलन (Emotional balance), भय, क्रोध, अथवा प्रेम (Affection) की प्रतिक्रियाओं का निर्माण या यह

कहा जाय कि उनके व्यक्तित्व के निर्माण में सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन का महत्वपूर्ण स्थान है।

'पशु-विज्ञान' के क्षेत्र में सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन पद्धति का अपना विशेष स्थान है। पशु मनुष्यों की तरह अन्तर्निरीक्षण (Introspection) करके अपने अनुभवों को मनुष्यों के समझने के लायक भाषा में बोल नहीं सकते। परन्तु इस पद्धति (Technique) ने उनकी मानसिक प्रक्रियाओं को जैसे—दो उत्तेजकों के आपस के अन्तर एवं समानता को समझने की क्रिया आदि को एक निष्पक्ष ढंग (Objective) से व्याख्या करने में सहायता प्रदान की है। सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन अपने सिद्धान्त (Theory) से भी अधिक अपनी प्रयोगात्मक पद्धति के लिए मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

परन्तु इतना होते हुए भी यह कहना कि यह सिद्धान्त सर्वथा दोषरहित है अथवा इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं, गलत होगा। सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन की क्रिया पूर्णतः यान्त्रिक (Mechanical) मानी गई है।

साथ-साथ यह सिद्धान्त अभ्यास एवं पुनरावृत्ति को सीखने की क्रिया में अत्यधिक महत्व प्रदान करता है। घण्टी की ध्वनि सुनते ही कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगे, इस प्रतिक्रिया को सिखलाने के लिये घण्टी की ध्वनि के बाद भोजन प्रस्तुत करने की क्रिया बार-बार दुहराने की आवश्यकता पड़ती थी। परन्तु जीवन में प्रत्येक क्रिया को सीखने के लिए इस प्रकार की पुनरावृत्ति अथवा अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। बहुधा ऐसे अवसर भी आते हैं जब कि मनुष्य किसी क्रिया विशेष को एक ही बार करने पर सीख जाता है, जैसे—किसी व्यक्ति को यदि एक बार बिजली का 'करेंट' छू जाता है तो वह एक बार के 'शॉक (Shock) में ही सीख लेता है कि बिजली का तार जब स्वीच 'ऑन' हो तो इसे नहीं छूना चाहिए। ठीक इसी प्रकार आग छूने से उँगली जल जाती है, इस बात को सीखने के लिये किसी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती है। एक बार का एक यथेष्ट अनुभव (Adequate experience) काफी है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि यह पद्धति मनुष्य की केवल अचेतन क्रियाओं पर ही प्रभाव डालने में समर्थ है, चेतन क्रियाओं पर नहीं।

प्रयोगों मे यह पाया गया है कि सम्बन्ध प्रत्यावर्त्तन की पद्धति से सीखी हुई क्रियाएँ अधिक चिरस्थायी (Stable) नहीं होती हैं। घण्टी की आवाज को सुनकर कुत्ते के मुँह से लार गिरने की प्रतिक्रिया तभी तक देखी गयी जब तक घण्टी की आवाज के बाद भोजन भी दिया जाता रहा। कुछ दिनों तक घण्टी की आवाज के बाद भोजन नहीं दिया जाने लगा तो पाया गया कि घण्टी की आवाज को सुनकर लार का गिरना भी बन्द हो गया।

इतना तो स्पष्ट है कि सीखने की क्रिया के लिये सिर्फ यही आवश्यक नहीं कि अस्वाभाविक उत्तेजनाओं के साथ स्वाभाविक उत्तेजनाओं को बार-बार प्राणी के समक्ष उपस्थित किया जाय, बल्कि सीखने की क्रिया में सीखनेवाले की रुचि, स्वभाव, अन्तर्दृष्टि, मनोवृत्ति आदि का भी स्थान होता है। यह सिद्धान्त प्राणी की रुचि, अन्तर्दृष्टि, मनोवृत्ति आदि पर समुचित प्रकाश नहीं डालता। इसके अतिरिक्त प्राणी बहुत से कार्य अनुकरण, अथवा प्रयत्न एवं भूल के द्वारा भी सीखता है।

'सीखने की विधियाँ'
(Methods of Learning)

यूँ तो सीखने की कई एक विधियाँ है परन्तु उनमें निम्नलिखित प्रमुख माने जाते हैं—

(i) आंशिक अथवा पूर्णरीति से सीखने की विधि (Part or whole method of learning), (ii) विराम अथवा अविराम विधि (Learning by spaced and massed method.), (iii) पुनःनिरीक्षण एवं आवृत्तिकरण विधि (Revision or Recitation method.), (iv) रटकर अथवा समझकर सीखने की विधि (Learning by Rote or understanding).

अब हम इन्हें संक्षेप मे अलग-अलग देखें—

(१) आंशिक अथवा पूर्णरीति से सीखने की विधि
(Part or whole method of learning)

एक ही पाठ्य विषय को कई एक विधियों के द्वारा सीखा जा सकता है। 'आंशिक रीति' से सीखने की विधि, वह विधि है जिसमें पाठ्य विषय को कई एक छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर अलग-अलग याद किया जाता

है। ठीक इसके विपरीत 'पूर्णरीति' से सीखने की विधि में पाठ्य-विषय को टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त न कर, वरन् सम्पूर्णरूप में ही आदि से अन्त तक पढ़कर सीखते हैं।

पूर्णरीति से याद करने से हम एक साथ ही पूरे पाठ्यविषय का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। हमें पाठ्य विषय में कही गई भिन्न-भिन्न बातों का एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है, इस बात का भी ज्ञान हो पाता है। परन्तु यदि पाठ्यविषय बहुत अधिक लम्बा हो तो इस विधि का अनुसरण करने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। परन्तु यदि पाठ्यविषय मे निहित विचारें (Ideas) एक दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित हैं कि पाठ्य विषय को कुछ भागों में बाँटना उचित नहीं हो तो ऐसी दशा मे पूर्णरीति का उपयोग ही श्रेयस्कर होगा।

बालकों में पाठ्य-विषय में निहित बहुत से विचारों के सम्यक् समीकरण (Assimilation) की शक्ति वयस्कों की तुलना में बहुत कम होती है, अस्तु, कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि उन्हें आंशिक रीति से ही पाठ्य विषय को याद करना चाहिए।

यदि पाठ्यविषय को आंशिक रीति से याद किया जाय तो यह देखा गया है कि पाठक प्रायः जल्दी नहीं थकता। एक भाग को सीख लेने के बाद इसमें अपने कार्य की सफलता के कारण सन्तोष की भावना (Work pride) उत्पन्न होती है जा आगे के खण्डों को और भी अधिक उत्साहपूर्वक सीखने में प्रेरक शक्ति (Motivating force) का कार्य करती है। इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक आसानी से एक खण्ड के बाद दूसरे खण्डों को सीखते हुए वह पूरे पाठ्य विषय को सीख लेता है।

इन विधियों के साथ-साथ 'विंच' (Winch) 'लोटी स्टीफोन्स' (Lotti Steffens), 'रीड' (Reed) आदि मनोवैज्ञानिकों ने सीखने के लिए 'प्रगतिशील आंशिक रीति' (Progressive-Part-Method) की भी चर्चा की है। मान लीलिए कि किसो व्यक्ति को चार सन्दर्भों की एक कविता याद करनी है, तो वह व्यक्ति पहले उस पूरी कविता को चार छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देगा और सर्वप्रथम पहले सन्दर्भ (Stanza) को सीखेगा। पहले सन्दर्भ को सीखने के बाद वह दूसरे सन्दर्भ को सीखेगा। फिर पहले सन्दर्भ का सम्बन्ध दूसरे सन्दर्भ से स्थापित करेगा। जब इन दोनों सन्दर्भों का आपसी सम्बन्ध भी वह व्यक्ति स्थापित कर लेगा तब वह फिर आगे सीखने अर्थात् तीसरे सन्दर्भ को सीखना शुरू करेगा।

इस प्रकार अन्तिम सन्दर्भ को भी याद कर चुकने के बाद वह उन चारों सन्दर्भों के आपसी सम्बन्ध को स्थापित करेगा और तब अन्त में पूरी कविता को सम्पूर्ण रीति से सीखकर सभी सन्दर्भों का सम्बन्ध समझ लेगा।

स्पष्ट है कि इस विधि में 'आंशिक रीति' एवं 'पूर्ण रीति' दोनों का सम्मिश्रण पाते हैं।

यहाँ 'रीड' (Reed) मनोवैज्ञानिक के द्वारा किये गये प्रयोग को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस मनोवैज्ञानिक महोदय ने छात्रों पर यह प्रयोग निम्नलिखित ढंग से किया—

छात्रों की संख्या ११३ थी। उन छात्रों को कुछ पाठ्य-विषय याद करने को दिये गये। छात्रों के द्वारा प्रायः समान (Comparable) पाठ्य-विषयों को अलग-अलग भिन्न-भिन्न रीतियों से याद करवाया गया— अर्थात् आंशिक रीति से, फिर सम्पूर्ण रीति से तथा फिर प्रगतिशील आंशिक रीति से। इस प्रकार उस विषय को किस रीति से याद करने में छात्रों को कितना औसत समय लगा, इस बात की तालिका तैयार की गई, वह तालिका इस प्रकार है—

सीखने की रीति→	पूर्ण रीति	आंशिक रीति	प्रगतिशील आंशिक रीति
समय→	५·६५ मि०	५·२५ मि०	५·२१ मि०

फलस्वरूप 'रीड' महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपर्युक्त तीनों विधियों में प्रगतिशील आंशिक रीति ही सर्वश्रेष्ठ है।

परन्तु कौन-सी रीति कब सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होगी यह पाठ्य-विषय के स्वरूप (Nature of the material to be learnt) एवं पाठक की योग्यताएँ (Capacities of the Reader) तथा परिस्थिति (situation) पर निर्भर करती है।

'वुडवर्थ' (Woodworth) महोदय को यह राय है कि सामान्य रूप से (Generally) हमें पाठ्य-विषय को सीखने के हेतु 'पूर्ण रीति'

को ही अपनाना चाहिये। हाँ, यदि पाठ्य-विषय में किसी स्थल विशेष पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता पड़े तो व्यक्ति को तुरत ही उस स्थलविशेष पर स्वतन्त्रतापूर्वक ध्यान देना चाहिये, और तब फिर आगे बढ़ना चाहिए।

(२) 'विराम अथवा अविराम विधि'

(Learning by spaced or massed method)

आंशिक रीति से सीखने की विधि मे हमलोगों ने देखा है कि पाठ्य-विषय को कई एक भागों में बाँट दिया जाता है और तब अलग-अलग भागों को पाठक एक-एक कर याद करता है। परन्तु 'विराम-विधि' (Spaced method) से सीखमे में पाठ्य-विषय को कई एक भागों में नहीं बाँटकर सीखने के लिए पूर्वनिर्धारित समय की अवधि (Duration of time) को ही कई एक भागों मे बाँट दिया जाता है। मान लिया जाय कि किसी वस्तु को याद करने के लिए हम दो घंटे समय दे सकते हैं।

अब यदि हम 'विराम-विधि' से याद करना चाहें तो इन दो घटों की अवधि को कई एक छोटे-छोटे भागों में बाँट देंगे। मान लीजिए कि हम दो घण्टों को चार भागों मे बाँट देना उपयुक्त समझते हैं, तो हम आधा घंटा पढ़ेंगे, थोड़ी देर विश्राम करेंगे, फिर उसके बाद आधा घंटा पढ़ेंगे। दूसरे आधा घंटा के समाप्त हो जाने पर फिर थोड़ा विश्राम लेकर तीसरे आधा घंटा को पढ़ने में लगायेंगे—और फिर थोड़ी देर के लिए पढ़ाई स्थगित कर देने के बाद अन्तिम आधा घंटा पढ़ने में लगायेंगे। इस प्रकार हम विराम दे-देकर पढ़ाई के लिए दी गई निश्चित अवधि को कई भागों में विभक्त कर देते हैं।

'विराम-विधि' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लगातार पढ़ाई जारी रखने के सिलसिले मे थोड़ी-थोड़ी देर के लिए विश्राम ले लेने से सीखने के फलस्वरूप हमारे स्नायु-मंडल (Nervous system) में बने स्मृति-चिह्नों (Memory traces or engrams) को सुदृढ़ (Consolidate) बनने का अवसर भी प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि 'विराम-विधि' से सीखी गई बातें अधिक समय तक याद रह पाती हैं।

पढाई के समय बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा विश्राम मिलते रहने के कारण पाठक थकावट का भी अनुभव नहीं कर पाता तथा साथ ही साथ पाठक मे और काम करने की प्रेरणा बनी ही रहती है। बीच-बीच में अवकाश मिलते रहने के कारण पठित सामग्रियों (Learnt material) के मानसिक संगठन (Mental organisation) एवं समीकरण (Assimilation) भी अपेक्षाकृत अधिक ही हो पाता है।

परन्तु ठीक इसके विपरीत 'अविराम-विधि' (Massed method) से सीखने में समय को टुकड़ो में नहीं बाँटा जाता। अगर याद करने की अवधि दो घंटों की है तो लगातार दोनों घंटों के आदि से अन्त तक पाठक याद करने की क्रिया निरन्तर (Continuously) जारी रखेगा। उसे दो घण्टों के बीच में कोई भी विश्राम न दिया जायेगा।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से पता चला है कि 'अविराम विधि' को अपनाने पर सीखने की क्रियाओं से उत्पन्न स्मृति-चिह्न सुदृढ़ नहीं हो पाते जिसके कारण पाठक अपेक्षाकृत कम दिनों तक सीखी हुई बातों को याद रख पाते हैं। साथ ही साथ थकावट के आ जाने से धीरे-धीरे पाठक में याद करने का उत्साह एवं प्रेरणा भी घटती जाती है।

अस्तु, 'मस्सियो' (Musciò), 'जोस्ट' (Jost) आदि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार 'विराम-विधि', 'अविराम-विधि' से अधिक उपयोगी है।

(३) 'पुनः निरीक्षण एवं आवृत्तिकरण विधि'
(Revision and Recitation method)

साधारणतः किसी पाठ्य-विषय को याद करने के लिए उसे बार-बार पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है। पाठक एक बार पूरे पाठ्य-विषय को पढ़ लेने के पश्चात् उसका आवृत्तिकरण करता है, अर्थात् एक बार पढ़ लेने के बाद पाठ्य-विषय को ढँककर तथा बिना देखे ही उसे फिर से दुहराने की क्रिया को आवृत्तिकरण (Recitation) की क्रिया कहते हैं। यदि आवृत्तिकरण के सिलसिले में कोई बात भूल गई तो पाठक तुरत पाठ्य-विषय का पुनःनिरीक्षण (Revision) करता है ताकि वह पता कर सके कि वह कौन-सी बात है जो उसे आवृतिकरण के समय याद नहीं आ पा रही थी। अस्तु, देखा जाय तो आवृत्तिकरण की विधि में

पुनःनिरीक्षण की क्रिया भी शामिल है। अस्तु, कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पुनःनिरीक्षण को एक अलग विधि न मानकर उसे आवृत्तिकरण विधि के ही एक आवश्यक अंग के रूप मे स्वीकार किया है। कुछ लोगों ने इसे 'पुनर्निरीक्षण एवं आवृत्तिकरण' की विधि न कहकर 'आवृत्तिकरण एवं संकेत' (Recitation and Prompting method) की विधि कहना अधिक उचित समझा है।

'स्कैग्स' (Skaggs) और 'क्रूगर' (Krueger) आदि मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सिर्फ पढ़ने की क्रिया (Only reading) करने से कहीं अधिक उपयोगी है पढ़ना + आवृत्तिकरण (Reading + Recitation) अर्थात् पढ़ना और आवृत्तिकरण दोनों का सहरा लिया जाय।

परन्तु तब प्रश्न उठता है कि कितना समय पढ़ाई में लगाया जाना चाहिए तथा कितना समय पढ़े हुए विषय के आवृत्तिकरण में लगाना चाहिए। 'गेट्स' (Gates) नामक मनोवैज्ञानिक का एक प्रयोग यहाँ उल्लेखनीय है।

उन्होंने कुछ व्यक्तियों को अपना पाठ्य-विषय पढ़ने के लिए दिया। पढ़ने के लिए निर्धारित समय कुल नौ (९) मिनट था।

कुछ लोगों को लगातार नौ मिनट तक पढ़ते-रहने के लिए कहा गया। कुछ लोगों को इसी नौ मिनट समय में नौ मिनट का २०% समय आवृत्तिकरण के लिए दिया गया। तीसरे, चौथे एवं पाँचवें 'ग्रूप' (Group) को नौ मिनट के ही क्रमशः ४०%, ६०% एवं ८०% समय तक आवृत्तिकरण करने का आदेश दिया गया। पुनः सभी 'ग्रुपों' का अलग-अलग यह औसत प्रदत्त (Data) प्राप्त किया गया कि वे पढाई एवं आवृत्तिकरण समाप्त करने के बाद (अर्थात् नौ मिनट के बाद) तुरत पढ़ी हुई बातों में से कितनी बातों का प्रत्याह्वान कर पाते हैं तथा चार घण्टों के बाद वे पुनः उसी पठित सामग्री की कितनी बातो का प्रत्याह्वान (Recal l) कर पाते हैं।

जो प्रदत्त (Data) प्राप्त हुए उन्हें निम्नलिखित तालिका द्वारा अधिक स्पष्टतापूर्वक रक्खा जा सकता है :—

याद करने का निश्चित समय	'ग्रुप'	निश्चित समय का वह अंग जो आवृत्तिकरण मे लगाया गया था	तुरत किया गया प्रत्याह्वान औसत प्रतिशत	चार घंटों के वाद का प्रत्यह्वान औसत प्रतिशत
नौ मिनट	क	सम्पूर्ण समय पढ़ने में लगाया तथा आवृत्ति-करण एकदम नहीं किया	३५%	१५%
,,	ख	नौ मिनट का २०% समय आवृत्तिकरण में लगाया।	५०%	२६%
,,	ग	नौ मिनट का ४०% समय आवृत्तिकरण में लगाया	५४%	२८%
,,	घ	नौ मिनट का ६०% समय आवृत्तिकरण में लगाया	५७%	३७%
,,	ङ	नौ मिनट का ८०% समय आवृत्तिकरण में लगाया।	७४%	४८%

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जिस 'ग्रुप' को निश्चित समय का अस्सी (८०%) प्रतिशत समय आवृत्तिकरण के लिए दिया गया उसके द्वारा तुरत किया गया प्रत्याह्वान और चार घण्टों के बाद किया गया प्रत्याह्वान दोनों की मात्रा (Degree) अधिक रही। साथ-ही-साथ तालिका से 'गेट्स' (Gates) ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि जिस 'ग्रुप' को क्रमशः जितना ही अधिक समय आवृत्तकरण के लिए मिला वह 'ग्रुप' उतनी हा बातें अधिक याद रख सका।

आवृत्तिकरण विधि इसलिए अधिक प्रभावोत्पादक प्रमाणित हो पायी चूँकि यह एक सक्रिय प्रक्रिया (Active process) है। 'स्मृति-चिह्नों' को बार-बार क्रियाशील होने के कारण वे अधिक टिकाऊ हो पाते हैं। यह बार-बार आवृत्ति करक पढ़ना तभी सहायक सिद्ध होता है जब कि प्रत्येक बार व्यक्ति सक्रिय रूप से आवृत्ति करें।

यदि कोई व्यक्ति गद्दीदार बिछावन पर तकिया लगाकर एवं पंखा लगाकर आराम से (Half heartedly) पढ़ें तथा तन्द्रिल अवस्था जैसो आवृत्ति करना शुरू कर तो बार-बार आवृत्ति करने का कोई भी प्रभाव 'स्मृति-चिह्नों' को सुदृढ़ नहीं बना पायेगा। ऐसा इसलिए होता है कि यहाँ पढ़ने एवं आवृत्तिकरण की विधि सक्रिय न होकर निष्क्रिय (Passive) है। इस प्रकार की अन्य निष्क्रिय विधियाँ नहीं अपनानी चाहिए। ऐसी अवस्था में पाठक थोडी देर म ही पढ़ने में अनमनस्कता एवं थकान का अनुभव करने लगता है

इस विधि की दूसरी विशेषता यह है कि इसम की गई भूलें तुरत सुधार दी जाती हैं। फलतः व्यक्ति ठीक (Correct) बातों को सीखता जाता है, तथा गलतियों को दूर करता जाता है।

ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर जाने क कारण व्यक्ति में सन्तोष की भावना आ जाती हैं जो उसे और अधिक सीखने को प्रोत्साहित करती है। इस प्रेरणा का एक कारण यह भी है कि व्यक्ति ने कितना सीख लिया है तथा कितना और सीखना बाकी है—अर्थात् अपने प्राप्त फल का ज्ञान (Knowledge of the Result) भी उसे साथ-साथ होता रहता है।

बार-बार दुहराये एवं सुधार लाते रहने के कारण पाठ्य-विषय विस्तारपूर्वक याद हो जाता है। परन्तु आवृत्तिकरण प्रारम्भ करने के पहले कम-से-कम एक दो बार पूरी पाठ्य-सामग्री को आदि से अन्त तक ध्यान से अवश्य पढ लेना चाहिए।

(४) "रटकर अथवा समझकर सीखने की विधि"
(Learning by Rote or Understanding method)

प्रत्येक वर्ग में प्रायः कुछ-न-कुछ छात्र ऐसे जरूर रहते हैं जो पाठ्य-विषय के बहुत से अंश समझ नहीं पाते हैं। यदि इस नहीं समझे हुए अंश को परीक्षा में पूछे जाने की सम्भावना उन्हें मालूम पड़ती है तो वे उस पाठ्य-अंश को बिना समझे-बूझे ही रटकर याद कर लेते हैं।

रटने के लिए वे बार-बार उस पाठ्य-विषय को दुहराते हैं और दुहराते-दुहराते ही पठित शब्दों को बिना देखे ही दुहरा सकने मे समर्थ हो पाते हैं। 'आवृत्तिकरण-विधि' (Recitation method) में भी दुहराने की आवश्यकता पड़ती है पर 'आवृत्तिकरण-विधि' में समझ-समझकर पुनरावृत्ति की जाती है। परन्तु रटने की विधि में समझ-समझकर पुनरावृत्ति नहीं की जाती।

कुछ लोगों में पढने की विधि के बुरे शिक्षण (Bad training) के कारण रटने की आदत पड़ जाती है। कुछ लोग पाठ्य-विषय के उन्हीं स्थलों (Portions) को रटते हैं जो स्थल उन्हें कठिन प्रतीत होता है। उन्हें ऐसा लगता है कि वे उनकी समझने की योग्यता (Capacity of understanding) से परे की बात है। साथ-साथ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो जबतक किसी विषय को समझ न लेंगे तबतक वे उस विषय को याद करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते।

इस 'समझ-समझकर सीखने की विधि' मे व्यक्ति पूरे पाठ्य-विषय में निहित विचारों के सम्यक् अर्थ समझने का प्रयास करता है। फिर भिन्न-भिन्न विचारों का एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करता है और तब अन्त में उन विचारों से एक सार-स्वरूप (Central Idea) तथ्य को निकालकर अपने स्मरण में आत्मसात (Interiorize) करने का प्रयास करता है।

यह देखा गया है कि निरर्थक सामग्रियों (Nonsense materials) को व्यक्ति रटकर याद करता है। परन्तु मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा यह भी पता लगाया है कि यदि निरर्थक सामग्रियों अथवा शब्दों में व्यक्ति अपनी ओर से कोई विशेष अर्थ जोड़ देता है तो वह निरर्थक शब्द, उस व्यक्ति-विशेष के लिए सार्थक जैसा बन जाता है। मान लीजिए कि व्यक्ति को निम्नलिखित निरर्थक शब्द-खण्डो (Nonsense syllables) को याद करने को दिया गया—DOQ, PIR, HIN, FOZ आदि।

ये शब्द-खण्ड निरर्थक हैं। अतः समझ-बूझकर याद करने का प्रयत्न कठिन है। अस्तु, साधारणतः व्यक्ति इन्हें रटकर ही याद कर पायेगा।

परन्तु व्यक्ति यदि मन-ही-मन DOQ का 'डौग' से PIR का 'पीर' के मजार मे, HIN का 'हीनता' से तथा FOZ का 'फौज' शब्द से साहचर्य (Association) स्थापित कर लेता है तो रटकर याद करने की आवश्यकता प्रायः कम हो जाती है।

'मनुष्यों एवं पशुओं के सीखने में अन्तर' (Distinction between Human and Animal Learning)

मनुष्य सृष्टि की सबसे अच्छी रचना है। यह न केवल देखने में ही सुन्दर है बल्कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित स्नायुमण्डल भी रखता है। जानवरों मे भी स्नायुमण्डल होते हैं, परन्तु वे मनुष्यों की तरह विकसित एवं जटिल नहीं होते। यही कारण है कि मनुष्य जटिल से जटिल विषय पर भी सोच अधिक सकता है, समझ अधिक सकता है। और साथ ही सीख सकने मे समर्थ भी हो जाता है। परन्तु पशु उतनी अधिक जटिल बातो को नहीं सीख पाते। पशुओं का सीखना अपेक्षाकृत सरल क्रियाओं तक ही सीमित रहता है। यही कारण है कि कोई बन्दर लाख शिक्षण (Training) दिये जाने पर भी कभी बी० ए० नहीं पास कर सकता, पर मनुष्यों के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं।

इसी विकसित एवं जटिल स्नायुमण्डल का प्रभाव है कि मनुष्य सीखने की क्रिया में अपनी अनुभूतियों एवं अपने साहचर्य (Past experiences and Associations) से लाभ उठा पाता है। पशु मनुष्यों की तुलना में इस सुविधा से प्रायः वंचित है। पूर्व अनुभूति से सीखने में सहायता पाना बन्दर, बिल्ली आदि में तो कुछ अंशों में पाया भी जाता है, मगर जैसे-जैसे हम निम्नकोटि के जीवों की तरफ जाते हैं वैसे-वैसे यह योग्यता और भी घटती पायी जाती है।

मनुष्य का सीखना बुद्धि एव अन्तर्दृष्टि के द्वारा अधिक सम्पादित होता है। यही कारण है कि मनुष्य, किसी क्रिया को जानवरों की अपेक्षा न केवल जल्दी सीख सकने में ही समर्थ होता है वरन् वह सीखी हुई क्रियाओं को अधिक दिनों तक याद भी रख पाता है।

सीखने की क्रियाओं में मनुष्यों में तर्कशीलता एवं चिन्तन की शक्ति की अधिकता देखी जाती है। तर्क, चिन्तन एवं कल्पना की अधिकता के कारण मनुष्य न केवल उपस्थित परिस्थितियों की उलझनों एवं उसके समाधान को ही समझ पाता है बल्कि अनुपस्थित परिस्थितियों एवं उनके भूतकाल तथा भविष्य से सम्बन्ध को भी स्थापित कर लेता है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्यों का सीखना प्रायः अधिकतर 'विचारात्मक' होता है तथा

जानवरों का सीखना अधिकतर 'क्रियात्मक' (Trial and Error) होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सीखने की क्रिया में 'प्रयत्न और भूल' (Trial and Error) का सहारा लेते ही नहीं। फर्क इतना ही है कि मनुष्यों में 'प्रयत्न और भूल' अधिकतर 'मानसिक स्तर' (Mental level) पर होता है, मगर पशु में 'व्यावहारिक स्तर' (Behavioural level) पर।

मनुष्यों मे सीखने की क्रिया के लिये यथेष्ट भाषा, नामावलियाँ, सख्या आदि के प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त है। इसी कारण से मनुष्य रोज ज्ञान-विज्ञान की नयी-नयी बातें सीखता एवं आविष्कार करता जाता है। परन्तु जानवरों के पास न कोई ऐसी विकसित भाषा ही है और न कोई संख्याओं का गणित ही। फलस्वरूप उनका सीखना सरल प्रकार की क्रियाओं से आगे नहीं हो पाता।

मनुष्य हस्त-कौशल मे भी जानवरों की तुलना में अत्यन्त श्रेष्ठ होता है। वस्तुतः यही कारण है कि मनुष्य तबला, मृदंग, सितार, आदि के बजाने, लिखने; चित्रकारी; दस्तकारी; नृत्य आदि सभी कलाओं में पशुओं से कहीं आगे बढ़ा-चढ़ा है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्यों का सीखना जानवरों के बनिस्बत कहीं अधिक उन्नत होता है।

डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राणियों के विकास की सीढ़ी (Ladder of Evolution) पर जीव जितना की विकसित एवं उच्च स्थान पर है वह व्यक्ति उतनी ही अधिक बातों को सीख सकने में समर्थ है और जो जीव जितने ही नीचे के पादान पर है वह सीखने की क्रिया में उतना ही अधिक अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर है। विकास की इस सीढ़ी पर मनुष्य को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सारे के सारे अन्य जीव इससे नीचे स्थान रखते हैं।

जानवरों में भी जो जानवर मनुष्यों के विकास के सर्वोच्च पादान से जितना ही समीप के पादान पर है वे उतने ही अधिक बातें सीख सकने में समर्थ हो पाते हैं। विकासात्मक दृष्टिकोण से जो प्राणी मनुष्य स्तर से जितना ही दूर है—वह उतना ही कम सीखने की योग्यता रखता है।

यही कारण है कि कीड़ों से अधिक चूहे, चूहे से अधिक कुत्ते तथा कुत्तों से भी अधिक बनमानुष एवं बन्दर सीखने में समर्थ होते हैं और मनुष्य तो सभी म श्रेष्ठ है ही।

———

दसवाँ अध्याय

स्मरण

(Remembering)

स्मरण की परिभाषा—स्मृति-क्रिया के चार प्रमुख अंग—सीखना; धारण करना; प्रत्याह्वान करना तथा पहचानना।

धारण-क्रिया को प्रभावित करनेवाली कुछ मुख्य बातें—मस्तिष्क की बनावट, सीखने की मात्रा, धारण करनेवाले की विशेषताएँ—तथा अभिरुचि एवं मनोवृत्ति।

सीखने की मात्रा—सीखे हुए विषय का स्वरूप तथा सीखने की विधियाँ, स्मृति में संकेत का उपयोग कर सीखना, सीखने की इच्छा, सीखे हुए विषय का उपयोग किस प्रकार से किया जायगा।

सीखे हुए विषय का स्वरूप—विषय की सार्थकता, सीखे हुए विषय की लम्बाई, सीखे हुए विषय का क्रम में स्थान, सीखे हुए विषय का वातावरण, सीखे हुए विषय की अनुभवानुभूति।

सीखने की विधियाँ—आंशिक अथवा पूर्णरीति, विराम अथवा अविराम विधि, पुनःनिरीक्षण एवं आवृत्तिकरण विधि तथा रटकर अथवा समझकर सीखने की विधि (इनका वर्णन 'सीखने' के अध्याय में कर दिया गया है)।

धारण करनेवाले की विशेषताएँ— धारण करनेवाले की उम्र, लिंग, बुद्धि तथा स्वास्थ्य।

प्रत्याह्वान करना—प्रत्याह्वान क्रिया के प्रकार—प्रत्याह्वान का स्वरूप—प्रत्याह्वान को प्रभावित करनेवाली बातें—

प्रत्याह्वान में उत्तेजना का स्थान—प्रत्याह्वान में साहचर्य का स्थान।

पहचानने की क्रिया—पहचानने की क्रिया या प्रतिभिज्ञा के प्रकार—प्रत्याह्वान तथा प्रतिभिज्ञा में अन्तर—पुनः सीखने की विधि।

'स्मृति' की परिभाषा या स्मरण किसे कहते हैं ?
(Definition of Remembering or what is Remembering ?)

पहले यह समझा जाता था कि स्मृति एक आन्तरिक शक्ति है, जिसे अभ्यास से बढ़ा तथा सुधार सकते हैं। पर आजकल इस पर किये गये प्रयोगात्मक अध्ययनों ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। दूसरी मानसिक क्रियाएँ, जैसे चिन्तन, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण आदि की तरह यह भी एक मानसिक प्रक्रिया है। अस्तु, आजकल 'स्मरण-शक्ति' न कहकर 'स्मरण करने की क्रिया' या 'याद करना' (Remembering) कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह एक 'आन्तरिक शक्ति' नही वरन् एक 'मानसिक-प्रक्रिया' (Mental process) है।

दूसरी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"स्मृति वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम अपनी पूर्व (भूतकाल की) अनुभूतियों तथा घटनाओं को वर्तमान चेतना मे लाते है।" (Remembering has been defined as a process through which we bring our past experiences into our present consciousness.) इससे स्पष्ट है कि स्मरण की क्रिया का सम्बन्ध 'गत अनुभवों' (Past experiences) अर्थात् व्यक्ति के भूतकाल क अनुभवो से ही रहता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति अपने किसी मित्र का नाम स्मरण करना चाहता है, जिससे उसकी भेंट दो वष पहले दिल्ली में हुई थी, और अन्त में उसके नाम को फिर से अपनी स्मृति मे लाने मे समर्थ होता है तो हम कहते हैं कि उसको अपने मित्र का नाम याद है। यहाँ वह व्यक्ति अपनी इस पूर्व अनुभूति (मित्र का नाम) को अपने वर्तमान चेतना में लाने में सफल होता है।

स्मरण करने की क्रिया में निम्नलिखित बातों का होना अनिवार्य है—

(१) किसी भी प्रक्रिया को 'सीखना' (Learning), (२) उस प्रक्रिया को 'धारण करना' (Retaining), (३) उसका प्रत्याह्वान करना' (Recalling) तथा (४) उसे 'पहचानना' (Recognizing).

अर्थात् स्मरण की क्रिया सीखने की क्रिया की पूर्व कल्पना (Presuppose) करता है (पहले से ही मान लेता है)। बिना किसी घटना को सीखे उसे स्मरण करने की बात ही नहीं उठती है। जब हम

किसी में स्मरण क्रिया देखते हैं तो हमें इस बात की पूर्व कल्पना होता है कि उसने कभी भूतकाल में इस बात को सीखा भी होगा। फिर जो सीखा जाता है उसे 'स्मृति चिह्न' (Memory-trace) के रूप में मस्तिष्क में धारण किया जाता है (Retaining Process), पर यह कैसे माना जा सकता है कि जो सीखा गया है उसे धारण भी किया गया है। इसके लिए धारण करने की क्रिया की जाँच (Test of Retention process) अत्यावश्यक है जो इन दो निम्नलिखित विधियों 'प्रत्याह्वान करना' (Recalling) तथा 'पहचानना' (Recognizing) द्वारा की जाती है। स्मृति की क्रिया को पूर्ण होने के लिए इसके उपरोक्त चारों अंग 'सीखना', 'धारण करना', 'प्रत्याह्वान' तथा 'पहचानना' का होना आवश्यक हैं।

'प्रत्याह्वान' की क्रिया उसे कहते हैं, जिसके द्वारा भूतकाल में सीखी हुई घटनाओं को उनके वास्तविक प्रत्यक्षीकरण के अभाव में ही वर्त्तमान चेतना में लाया जाता है। इसके लिए प्रतिमाओं (Images) की आवश्यकता पड़ती है या शब्दों (Words) की अथवा दोनों की। पर कभी-कभी यह पाया जाता है कि व्यक्ति अपने सीखे हुए विषय एवं अनुभव की हुई घटनाओ का प्रत्याह्वान जिस समय चाहता है उसी समय नहीं कर पाता है। परन्तु बाद में वह वैसा करने मे सफल होता है। इसलिए इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि चूँकि उस समय विशेष में वह उस बात का प्रत्याह्वान करने में असमर्थ हुआ इसलिए उसके मस्तिष्क ने उस बात को धारण ही नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त किसी घटना के प्रत्याह्वान नहीं होने पर जब उसी बात या घटना को अन्य कई घटनाओं के साथ फेंटकर (Mix) उसके सामने प्रस्तुत किया जाता है तो वह अपनी सीखी हुई बातें अथवा अनुभव की हुई घटनाओं को सही-सही पहचान लेता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—जैसे मान लीजिए कि हम अपने किसी मित्र का नाम इस समय स्मरण नहीं कर पा रहे हैं परन्तु यदि पास बैठा मेरा दूसरा मित्र बहुत से नामों को बतलाया है तो हम उन बतलाये गये नामों में अपने मित्र के नाम को पहचान लेते हैं।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्मृति की क्रिया में पूर्व सीखे हुए विषय या अनुभव की हुई घटनाओं को मस्तिष्क में स्मृति-चिह्नों के रूप में धारण किया जाता है। पर बिना धारण-क्रिया की जाँच किये हुए यह

कहना सम्भव नहीं कि अमुक घटना या वस्तु को व्यक्ति ने धारण किया या नहीं। इसकी जाँच दो प्रकार से की जाती है। पूर्व सीखे हुए विषय अथवा पूर्व अनुभव की हुई घटनाओं का (क) 'प्रत्याह्वान करना' या (ख) उसको 'पहचानना।'

स्मृति की क्रिया के उपर्युक्त चारों अंगो को निम्नलिखित तालिका द्वारा अत्यधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है—

धारण की क्रिया के अंग

(Process of Memorization or Remembering)

(१) सीखना (Learning)	(२) धारण करना (Retaining)	(३) प्रत्याह्वान करना (Recalling)	(४) पहचानना (Recognizing)
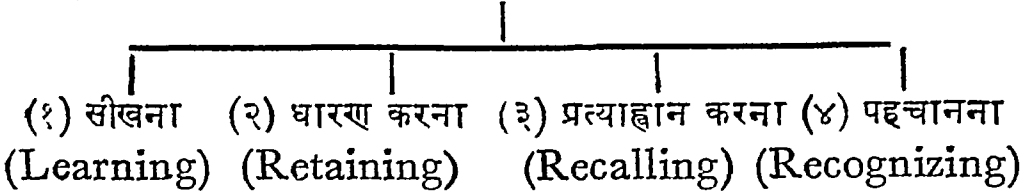
कोई भी व्यक्ति चाहे समझ-बूझकर अथवा रटकर किसी विषय या घटना को याद कर ले, दोनों ही अवस्थाओं में उपरोक्त चारों अंगों का संयोग रहता है। अब हम इसपर विस्तार में प्रकाश डालेंगे।

(१) सीखना (Learning)—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, धारण की क्रिया सीखने की क्रिया के बिना सम्भव नहीं है। अर्थात् सीखी हुई बातों एवं घटनाओं को ही स्मरण किया जाता है। सीखने की क्रिया जितनी ही कुशलता के साथ सम्पादित हुई है उसकी उतनी ही अच्छी स्मृति होने की सम्भावना है।

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि सीखने की क्रिया निम्नलिखित दो बातों से विशेष रूप से प्रभावित होती है—

(क) क्या सीखा गया है? अथवा 'सीखी हुई वस्तु का स्वरूप' (What is learnt ? or Nature of the material learnt),
(ख) कैसे सीखा गया है? अथवा 'सीखने की विधियाँ' (How it has been learnt or Methods of Learning).

आगे चलकर हम यह भी देखेंगे कि कैसे धारण करने की क्रिया भी इन दो बातों पर बहुत हद तक निर्भर करती है। इसका उल्लेख हम विस्तार में धारण करने की क्रिया को प्रभावित करनेवाली कुछ मुख्य बातों पर प्रकाश डालते समय आगे करेंगे।

(२) धारण करने की क्रिया (Process of Retaining)—मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के द्वारा प्राप्त सामग्रियों के आधार पर इस नियम की स्थापना की है कि जो हम सीखते हैं उसको हम अपने मस्तिष्क में "स्मृति-चिह्न" के रूप में धारण कर लेते हैं। पर जो भी हम सीखते हैं, बाद में उसका प्रत्याह्वान करने या उसको पहचानने मे सदा समर्थ नहीं होते हैं, और यदि वैसा करने मे समर्थ भी हो जाते हैं, तो आंशिक रूप में। इसका यह अर्थ हुआ कि उनके द्वारा हमारे मस्तिष्क में बने 'स्मृति-चिह्न' स्थायी रूप से बने नहीं रहते हैं बल्कि सीखने तथा प्रत्याह्वान करने के बीच के समय के बीतने के कारण वे धीरे-धीरे क्षीण (Fade) होते जाते हैं। पर अब प्रश्न उठता है कि ऐसा कहना कहाँ तक उचित है। चूँकि 'स्मृति-चिह्न' के स्वरूप पर ठीक-ठीक प्रकाश डालना कठिन है, अतः इसके सम्बन्ध मे कोई निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हमारे 'स्मृति-चिह्न' सदा स्थायी रूप से हमारे मस्तिष्क में बने नहीं रहते हैं, बल्कि उनमें परिवर्तन होता रहता है और वे क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। यही कारण है कि हम पहले की सीखी हुई अधिकांश बातों को भूल जाते हैं। पर यहाँ दूसरा प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों होता है। इसके उत्तर में धारण करने की क्रिया को प्रभावित करनेवाली कुछ निम्नलिखित मुख्य बातों पर ध्यान देना होगा।

'धारण करने की क्रिया को प्रभावित करनेवाली कुछ मुख्य बातें'

(Some Important Factors influencing the Process of Retaining)

(१) मस्तिष्क की बनावट (Structure of the brain); (२) सीखने की मात्रा (Amount of Fixation or Learning); (३) धारण करनेवाले की विशेषताएँ (Characteristics of the Retainer), जैसे—(क) उम्र (Age), (ख) स्वास्थ्य (Health), (शारीरिक तथा मानसिक), (ग) लिंग (Sex), (घ) बुद्धि (Intelligence) आदि एवं (४) अभिरुचि तथा मनोवृत्ति (Interest and Aptitude).

अब हम एक-एक करके इनपर प्रकाश डालेंगे।

(१) 'मस्तिष्क की बनावट'
(Structure of the Brain)

जिस घटना या विषय को हम स्मरण करते हैं उसे पहले सीखते हैं। सीखने की क्रिया बहुत हद तक मस्तिष्क की बनावट पर भी निर्भर करती है। जो हम सीखते हैं उसे 'स्मृति-चिह्न' के रूप में मस्तिष्क मे ही ग्रहण करते हैं। अस्तु, मस्तिष्क की बनावट पर भी स्मरण-क्रिया का स्वरूप निर्भर करता है। इसके प्रमाण में हम कह सकते हैं कि पशुओं तथा मनुष्यों के मस्तिष्क की बनावट में अन्तर रहता है। मनुष्यों के मस्तिष्क की बनावट पशुओं के मस्तिष्क की बनावट से जटिल होने के फलस्वरूप ही पशुओं के अपेक्षाकृत मनुष्यो के मस्तिष्क मे कठिन-से-कठिन तथा जटिल-से-जटिल विषयों के भी 'स्मृति-चिह्न' अधिक टिकाऊ रहते हैं। पशुओं तथा मनुष्यों के मस्तिष्क की बनावट की जटिलता में अन्तर के कारण ही उनकी स्मृति-क्रिया में भी विभिन्नता पाई जाती है। अस्तु, जहाँ मनुष्यों की 'धारण-क्रिया' प्रबल होती है, वहाँ पशुओं की दुर्बल।

(२) 'सीखने की मात्रा'
(Amount of Learning)

जिस घटना अथवा विषय को हम सीखते हैं, उसी को धारण करते हैं। धारण की क्रिया बहुत हद तक 'सीखी हुई वस्तु के स्वरूप', 'सीखने की विधियों' आदि पर भी निर्भर करती है। अर्थात् जिस वस्तु को व्यक्ति ने जितनी ही अधिक निपुणता के साथ सीख लिया है उसका 'स्मृति-चिह्न' भी उतना ही प्रबल होगा। फलस्वरूप वह उस वस्तु को बहुत दिनों तक अपने मस्तिष्क मे धारण कर सकेगा।

सीखने की क्रिया को मुख्यतः निम्नलिखित दो बातें प्रभावित करती हैं। (क) 'सीखे हुए विषय का स्वरूप' तथा (ख) 'सीखने की विधियाँ'। ये दोनों भी स्वयं कई बातों पर निर्भर करती हैं।

(क) सीखे हुए विषय का स्वरूप—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें जो सीखने की क्रिया को प्रभावित करती हैं, पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) निरर्थक एवं सार्थक विषय (Meaningless & Meaningful material), (२) सीखे हुए विषय की लम्बाई (Length of the material), (३) सीखे हुए विषयों का क्रम मे स्थान (Position of the material in the series), (४) सीखे हुए विषय का वातावरण

(Environment of the material), (५) सीखे हुए विषय की अनुभवानुभूति (Feeling tone of the material learnt) ।

(ख) सीखने की विधियाँ (Methods of Learning)—सीखने की निम्नलिखित विधियाँ हैं, जो सीखने की मात्रा को प्रभावित करती हैं—(१) विराम अथवा अविराम रीति से सीखना (Spaced Vs Massed method of learning), (२) पूर्ण अथवा आंशिक विधि (Whole or Part method), (३) स्वतः दुहराकर सीखने की विधि (Self-recitation method), (४) स्मृति में संकेत का उपयोग कर सीखना (Use of cue in memorizing) ।

अब एक-एक कर इनका वर्णन करते हुए हम देखेंगे कि किस प्रकार ये सीखने की क्रिया को प्रभावित करती हैं ।

(क) 'सीखे हुए विषय का स्वरूप'
(Nature of the material learnt)

सीखे हुए विषय एवं अनुभव की हुई घटना के स्वरूप पर सीखने की क्रिया की कुशलता बहुत हद तक निर्भर करती है, जो निम्नलिखित बातों पर आश्रित है—

(१) विषय की सार्थकता—'निरर्थक विषयों' (Meaningless materials) को सीखने में 'सार्थक विषयों' (Meaningful materials) को सीखने के अपेक्षाकृत अधिक बार दुहराने की आवश्यकता पड़ती है। जिन विषयों को आसानी से समझा जा सकता है उनके सीखने में उन विषयों से जिन्हें आसानी से समझा नहीं जा सकता है, अधिक पुनरावृत्ति की आवश्यकता पड़ती है ।

जैसे 'निरर्थक पदों' (Nonsense syllables) की सूची तथा 'सार्थक शब्दों' की सूची को याद करने में भिन्नता है । प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि सार्थक शब्दों की एक सूची को याद करने में समान लम्बाई के एक निरर्थक शब्द खण्डों की सूची को याद करने से कम प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। इसे एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति को निम्नलिखित निरर्थक शब्द-खण्डों की एक सूची याद करने को दी जाती हैं—LUZ, QOS, RAV, BIJ, COS, DIK, NUR, XOL, SAF, ZIG, REC, YIP.

फिर इस सूची को याद करने के कुछ समय वाद उसे सार्थक शब्दों की एक सूची को यदि करने को दिया जाता है, जो इस प्रकार है—LIP, RUN, SON, CAT, FED, JAR, PUT, BAN, DOG, HIM, WAX.

इस प्रयोग से प्राप्त सामग्रियों (Data) को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि पहली सूची (निरर्थक शब्द खण्डों) को याद करने में दूसरी सूची (सार्थक शब्दों) से अधिक प्रयासों (Trials) की आवश्यकता पड़ती है। इतना ही नहीं वल्कि सीखे हुए निरर्थक शब्द-खण्डों में से अधिकांश को व्यक्ति शीघ्र भूल जाता है। पर दूसरी ओर सार्थक शब्द-खण्डों को वह अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक याद रख पाता है।

(२) विषय की लम्बाई (Length of the material)—एक विषय को सीखने में उसकी कितनी पुनरावृत्ति की आवश्यकता पड़ेगी, यह विषय की लम्बाई पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जो विषय लम्बा होगा उसे छोटे विषयों के अपेक्षाकृत अधिक दुहराना पड़ेगा। चूँकि लम्बे विषयों को अपेक्षाकृत अधिक वार दुहराना पड़ता है, इसलिए उनसे मस्तिष्क में बने 'स्मृति-चिह्न' भी अधिक सुदृढ़ एवं टिकाऊ होते हैं। इसके विपरीत छोटे विषयों को कम ही बार दुहरा कर सीखा जाता है फलस्वरूप इनसे हमारे मस्तिष्क मे वने 'स्मृति-चिह्न' कम सुदृढ़ होने के कारण लम्बे विषयों के 'स्मृति-चिह्न' के अपेक्षाकृत कम टिकाऊ होते हैं। फलतः लम्बे विषयों की स्मृति छोटे विषयों की स्मृति से अच्छी रहती है।

(३) सीखे हुए विषय का क्रम में स्थान (Position of the material in the series)—निरर्थक पदों की सूची (List of nonsense syllables) में जिन्हें पूर्णतः सीखा नहीं गया है, उनके आरम्भ तथा अन्तवाले पदों को याद रखने की सम्भावना अधिक रहती है तथा वीचवाले पदों को नहीं। अतः आरम्भ और अन्त (Beginning and End) वाले पदों की स्मृति, सूची के 'वीच' (Middle) वाले पदों की स्मृति से पहले होगी तथा अधिक समय तक भी बनी रहेगी। यदि किसी पूर्णतः सीखे हुए एक निरर्थक पदों की सूची का प्रत्याह्वान उसके सीखने के कुछ समय वाद किया जाय, तब भी उपर्युक्त बातें पाई जाती हैं। 'लायन' (Lyon) ने इसको प्रयोग द्वारा भी प्रमाणित किया है। इसे एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यदि निम्नलिखित निरर्थक शब्द-खण्डों की 'सूची'

जैसे, LUZ, QOS, RAV, BIJ, COS, DIK, NUR, XOL, SAF, ZIG, REC and YIP को किसी व्यक्ति ने अपूर्ण रूप से सीखा है (Incomplete learning), तो विभिन्न प्रयासों के बाद उसके द्वारा यदि किये गये शब्द-खण्डों पर ध्यान दिया जाय, तो स्पष्ट होगा कि उसने सिर्फ आरम्भ के शब्द-खण्ड LUZ, QOS, RAV, और अन्त के शब्द-खण्ड ZIG, REC तथा YIP को ही वह याद कर पाया है। अर्थात् अब तक वह सूची के बीचवाले शब्द-खण्डों—BIJ, COS, DIK, NUR, XOL तथा SAF को नहीं याद कर सका है।

(४) सीखे हुए विषय का वातावरण (Environment of the material learnt)—सीखने की क्रिया की निपुणता सीखे हुए विषय के वातावरण पर भी निर्भर करती है। अर्थात् जिस विषय को किसी व्यक्ति ने सीखा है उसके पहले और बाद में क्रमशः उसने किन-किन विषयों को सीखा है इसकी जानकारी आवश्यक है।

'मायर्स' महोदय (Myers) का कहना है कि एक ही व्यक्ति द्वारा एक क्रिया 'क' और दूसरी क्रिया 'ख' में साहचर्य स्थापित करने के तुरत बाद यदि क्रिया 'ग' (तीसरी क्रिया) और क्रिया 'घ' (चौथी क्रिया) में साहचर्य स्थापित किया जाता है तो बाद की क्रियाओं (क्रिया 'ग' और 'घ') में स्थापित किया गया साहचर्य पहले की क्रियाओ (क और ख) के साहचर्य से उत्पन्न स्मृति मे बाधा पहुँचा है, चूँकि क्रियाएँ 'ग' और 'घ' के 'स्मृति-चिह्न' क्रियाएँ 'क' एवं 'ख' के साहचर्य के आधार पर बने हुए 'स्मृति-चिह्नों' को सुदृढ़ होने के पहले ही क्षीण बना देते हैं। इसे 'रेट्रोऐक्टिभ इनहिबिसन' अथवा 'पृष्ठोन्मुख अवरोध' की संज्ञा दी जाती है। इसको एक दूसरे सरल उदाहरण से भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है, जैसे—

अवस्था नं० (१) साहित्य का अध्ययन करना (आधे घण्टे के लिए)—आराम करना (१५ मिनटों तक)—अध्ययन किये हुए साहित्य का प्रत्याह्वान करना।

अवस्था नं० (२) साहित्य का अध्ययन करना (आधे घण्टे के लिए)—१५ मिनटों तक इतिहास का अध्ययन करना—अध्ययन किये हुए साहित्य को प्रत्याह्वान करना।

दूसरी अवस्था मे पहली अवस्था के अपेक्षाकृत अध्ययन किये हुए साहित्य के प्रत्याह्वान की मात्रा में काफी कमी होगी, चूँकि इस अवस्था में साहित्य के अध्ययन करने के पश्चात् पहली अवस्था की तरह आराम न कर इतिहास का अध्ययन किया गया।

अतः साहित्य के अध्ययन करने से मस्तिस्क में बने 'स्मृति-चिह्नों' को सुदृढ़ होने का मौका ही नहीं मिल पाया। फलतः व्यक्ति अध्ययन किये हुए साहित्य के अधिकांश भाग को दूसरी अवस्था में भूल जाता है। परन्तु पहली अवस्था में साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् आराम करने से उनसे मस्तिष्क में बने 'स्मृति-चिह्न' सुदृढ़ हो पाते हैं। यही कारण है कि पहली अवस्था मे सीखे हुए साहित्य का प्रत्याह्वान दूसरी अवस्था की अपेक्षा अधिक हो पाता है।

अर्थात् इससे यह स्पष्ट है कि सीखने के पश्चात् आराम करना या सो जाना, सीखे हुए विषय के 'स्मृति-चिह्नों' को सुदृढ़ बनाने में मदद पहुँचाता है। परन्तु यदि आराम करने का मौका नहीं मिलता है और किसी दूसरे विषय का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है, तो बाद में अध्ययन किये गये विषय से बने 'स्मृति-चिह्न' पहले अध्ययन किये हुए विषय स बने 'स्मृति-चिह्नों' को सुदृढ़ होने में बाधा पहुँचाते हैं। इसी बाधा को 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' (Retro-active inhibition) की संज्ञा दी जाती है। 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' की मात्रा निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है:—

(१) किसी विषय को सीखने और प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि (Retention-interval) मे किये गये कार्य (या अध्ययन किये गये विषय) का स्वरूप (Nature of the Interpolated task or activity), (२) 'धारणा-अवधि' में सीखे गये विषय का बीतते हुए (Temporal Location of the Interpolated activity) समय मे स्थान, (३) 'धारणा-अवधि' के पूर्व सीखे हुए विषय की मात्रा (Degree of Original Learning), (४) 'धारणा-अवधि' के बीच मे सीखे गये विषय की मात्रा (Strength of Interpolated task or Learning) आदि।

परन्तु इनका वर्णन यहाँ विस्तार में करना अभीष्ट नहीं है।

'मूलर तथा पिलजेकर' (Muller and Pilzecker) नामक दो मनोवैज्ञानिकों ने इस धारणा की पुष्टीकरण अपने प्रयोगों द्वारा भी की है।

(५) सीखे हुए विषय की अनुभवानुभूति (Feeling tone of the material learnt)—जिस विषय को हम पसन्द करते हैं या जिसमें हमारी अभिरुचि रहती है उन्हें हम उसी प्रकार के दूसरे विषयों की अपेक्षा जिन्हें हम पसन्द नहीं करते हैं, अधिक आसानी से सीख लेते हैं। प्रयोग द्वारा भी मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य (Fact) को स्थापित कर दिया है कि 'सुखकर विषयों' की स्मृति 'दुःखकर विषयों' से अधिक टिकाऊ रहती है।

(ख) 'सीखने की विधियाँ' (Methods of Learning)

मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों से प्रमाणित कर दिया है कि सीखने की क्रिया की कुशलता (Efficiency of learning) बहुत हद तक सीखने की विधि पर निर्भर करती है। यदि सीखने की विधि उपयुक्त है तो सीखने की क्रिया भी कुशल होगी। फलतः उसकी स्मृति भी अच्छी होगी।

विभिन्न प्रकार की सीखने की विधियों का उपयोग किया गया है परन्तु उनकी उपयुक्तता में विभिन्नता है। इनका उल्लेख विस्तार में सीखने की विधियों पर प्रकाश डालते समय 'सीखने' के अध्याय में ही कर दिया गया है।

(ग) स्मृति में संकेत का उपयोग कर सीखना

(Use of Cue in memorizing)

यदि एक निरर्थक पदों की सूची को याद करने के समय उसके निरर्थक पदों को किसी-न-किसी तरह सार्थक बनाकर सीखा जाय तो उन्हें रटकर सीख लेने की रीति से कहीं अधिक शीघ्र ही सीख लिया जा सकेगा, साथ-ही-साथ उनकी स्मृति भी अधिक अच्छी होगी।

यदि शब्दों के जोड़े (Unassociated pairs of words) जिनमे आपस में कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दीखता है, सीखना है, तो उन जोड़ों में आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर या उन निरर्थक पदों का सम्बन्ध मस्तिष्क में वर्तमान विचारों, अभिरुचियों या आदतों से स्थापित कर उन्हें याद किया जाय तो उन्हें कम ही समय मे सीखा जा सकता है, चूँकि ऐसा करने से उनकी निरर्थकता, सार्थकता में परिणत हो जाती है। अस्तु, निरर्थक पदों को भी याद करना बड़ा ही आसान हो जाता है।

(घ) 'सीखे हुए विषय के स्वरूप' तथा 'सीखने की विधि' के अतिरिक्त सीखने की क्रिया की निपुणता को प्रभावित करनेवाली बातें

(i) सीखने की इच्छा (Will to learn)—सीखनेवाले व्यक्ति का सीखे जानेवाले विषय से सम्बद्ध मनोवृत्ति भी सीखने की क्रिया को बहुत हद तक प्रभावित करती है। बिना इच्छा के सीखे हुए विषय की स्मृति भी अच्छी नहीं होती है चूँकि इस प्रकार की क्रिया निष्क्रिय (Passive) होती है। 'उडवर्थ' महोदय (Woodworth) ने अपने प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि सक्रिय-सीखना, निष्क्रिय-सीखना से उत्तम है।

(ii) अपूर्ण रूप से सीखा हुआ विषय (Incomplete learning or Uncompleted task)—लेविन' एवं 'जाइगारनीक' (Lewin and Zeigarnik) ने अपने प्रयोगों से प्रमाणित कर दिया है कि अपूर्ण रूप से सीखा हुआ विषय पूर्ण रूप से सीखे हुए विषय से अधिक याद रहता है। (Uncompleted tasks are better remembered than completed tasks). अपूर्ण रूप से सीखा हुआ विषय मस्तिष्क में एक प्रकार का तनाव (Tension) उत्पन्न कर देता है, जिसके फलस्वरूप वे विषय अधिक याद रहते हैं।

(iii) सीखे हुए विषय का उपयोग किस प्रकार से किया जायगा (The use to which the learnte material is to be put)—यदि एक विषय को कोई व्यक्ति तुरत प्रत्याह्वान (Immediate Recall) करने के हेतु सीखता है और फिर उसी विषय को समान वाह्य-स्थितियों में वह बाद में प्रत्याह्वान (Delayed Recall) करने के लिए सीखता है तो पहली स्थिति में उस विषय की स्मृति दूसरी स्थिति से कहीं कम अच्छी होगी।

इस तरह हमने देखा कि सीखने की क्रिया सीखे जानेवाले विषय के स्वरूप तथा सीखने की विधि दोनों पर निर्भर करती है। यदि सीखने की क्रिया अच्छी तरह सम्पन्न हुई है तो उस विषय की धारणा भी मस्तिष्क में अच्छी होगी, अर्थात् धारण करने की क्रिया बहुत हद तक सीखने की क्रिया पर निर्भर करती है।

(३) 'धारणा करनेवाले व्यक्ति की विशेषताएँ' (Characteristics of the Retainer)

इससे भी धारण करने की क्रिया काफी प्रभावित होती है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(क) धारण करनेवाले व्यक्ति की उम्र (Age of the retainer)—धारण करने की क्रिया धारण करनेवाले व्यक्ति की उम्र पर भी निर्भर करती है। बुढ़ापे में मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य प्रायः खराब हो जाते हैं। यही कारण है कि बुढ़ापे में जवानी के अपेक्षाकृत स्मृति क्षीण हो जाती है।

(ख) धारण करनेवाले का लिंग (Sex of the retainer)—प्रायः यह पाया गया है लड़कियों की धारण-क्रिया समान उम्र के लड़कों की धारण-क्रिया से अधिक प्रबल होती है। कारण यह बतलाया गया है कि चूँकि लड़कियों का शारीरिक तथा मानसिक विकास लड़कों से कुछ पहले होता है, इसीलिए दोनो की धारण-क्रियाओं की प्रबलता मे यह अन्तर पाया जाता है।

(ग) धारण करनेवालों की बुद्धि (Intelligence of the retainer)—धारण करने की क्रिया धारण करनेवाले की बुद्धि से भी प्रभावित होती है। जो अधिक बुद्धि का होता है उसकी धारण-क्रिया अपेक्षाकृत अधिक प्रबल होती है। परन्तु जो कम बुद्धि का होता है उसकी धारण-क्रिया निर्बल होती है। यह इसलिए होता है कि जो अधिक बुद्धि का होता है वह किसी भी विषय या घटना को पहले अच्छी तरह समझता है तब उसे सीखता है जिसके फलस्वरूप उसके मस्तिष्क में बने हुए 'स्मृति-चिह्न' भी अधिक गहरे और स्पष्ट होते हैं।

(घ) धारण करनेवाले व्यक्ति का स्वास्थ्य (Health of the retainer)-स्वास्थ्य दो प्रकार का होता है—(१) शारीरिक (Bodily or Physical) एवं (२) मानसिक (Mental)। इन दोनों प्रकार के स्वास्थ्यों मे परस्पर सम्बन्ध रहता है। जिस व्यक्ति का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य खराब हो जाता है वह किसी भी घटना या विषय को ठीक से सीख नहीं सकता है। फलतः, उसके मस्तिष्क में बने हुए 'स्मृति-चिह्न' भी कमजोर और अस्पष्ट होते हैं और वे जल्द ही मिट भी जाते हैं। प्रायः देखा गया है कि जब हम किसी शारीरिक एवं मानसिक बीमारी से पीड़ित रहते हैं तो अपनी पूर्व-अनुभूतियों की पुनरावृत्ति नहीं कर पाते हैं। 'स्मृति-भंगता' (Amnesia) या 'स्मृति-सम्बन्धी गड़बड़ी' (Memory disorder) जो 'हिस्टीरिया' (Hysteria) आदि मानसिक रोगों मे पाये जाते हैं, वे भी उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टीकरण करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि स्वस्थ व्यक्तियो की धारण-क्रिया रुग्ण व्यक्तियों को धारण-क्रिया से कहीं अधिक सबल होती ।

(४) अभिरुचि तथा मानस-वृत्ति
(Interest and Mental set)

धारण करने की क्रिया व्यक्ति की अभिरुचि तथा मानस-वृत्ति दोनों पर निर्भर करती है। सीखने तथा धारण करने की क्रियाओं के सम्बन्ध में उल्लेख करते समय हमने यह देखा ही है कि जिस घटना एवं विषय में व्यक्ति की अभिरुचि अधिक रहती है, उसको वह ठीक से सीखता है और जिसके फलस्वरूप उसके मस्तिष्क पर उस विषय एवं घटना की गहरी छाप पड़ती है। फलतः वह उन्हें बहुत दिनों तक स्मरण रखता है। यही बात मानस-वृत्ति पर भी लागू है। यदि व्यक्ति अपने मानस-वृत्ति के अनुकूलवाले विषयों का अध्ययन करता है तो उसके मस्तिष्क पर उसकी छाप भी गहरी पड़ती है। फलतः वे छाप प्रबल होती हैं और वे विषय अधिक समय तक याद रहते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि धारण करने की क्रिया की सबलता तथा दुर्बलता व्यक्ति की अभिरुचि एवं मानस-वृत्ति पर भी निर्भर करती है। जैसे—किसी छात्र को इतिहास में अभिरुचि है परन्तु भूगोल में अभिरुचि नहीं है तो इतिहास का अध्ययन करने के फलस्वरूप बने हुए 'स्मृति-चिह्न' 'भूगोल के अध्ययन' द्वारा बने हुए 'स्मृति-चिह्नों' से अधिक प्रबल होंगे। फलतः उस व्यक्ति को इतिहास की बातें भूगोल की बातों से अधिक याद रहेंगी।

इस प्रकार हमने उन सारी प्रमुख बातों का अध्ययन कर लिया जो धारण करने की क्रिया को अत्यधिक रूप से प्रभावित करती हैं। पर अब यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है कि इसका क्या प्रमाण है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा सीखा हुआ अमुक विषय धारण किया गया तथा उसके धारण की क्रिया सबल है या दुर्बल। अर्थात् धारण करने की क्रिया की जाँच होनी आवश्यक है। इसके हेतु बहुत से प्रयोगात्मक-जाँच (Test) का उपयोग मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है। पर मुख्यतः निम्नलिखित तीन जाँच (Tests) हैं जिनका उल्लेख अब हम करेंगे।

(३) प्रत्याह्वान (Recalling) करने तथा (४) पहचानने (Recognizing) की क्रियाएँ—'प्रत्याह्वान करना' तथा 'पहचानना' स्मृति-क्रिया के क्रमशः तीसरे और चौथे अंग हैं। इन्हें धारण-क्रिया को जाँचने की विधियों के नाम से भी पुकारा जाता है।

'धारणा-क्रिया की जाँच करने की विधियाँ'
(Tests of Retention)

(१) प्रत्याह्वान करना (Recalling)
(२) पहचानना (Recognizing)
(३) पुनः सीखना (Relearning)

(१) प्रत्याह्वान करना (Recalling)—यहाँ पर सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्याह्वान किसे कहते हैं। जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है यह धारणा का क्रिया को जाँचने की एक विधि है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम वर्तमान चेतना मे अपनी पूर्व की अनुभूतियों का (मौलिक उत्तेजक परिस्थिति को) उन अनुभूतियों को उत्पन्न करनेवाली उत्तेजनाओं की अनुपस्थिति मे ही लाते हैं। अर्थात् यह कहा जाय कि प्रत्याह्वान की क्रिया में हम भूतकाल में सीखे हुए विषयों या अनुभव की गई घटनाओं को उन विषयों या घटनाओं की अनुपस्थिति मे ही अपनी वर्त्तमान-चेतना में लाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ दो बातो का रहना आवश्यक है। (१) 'पूर्व अनुभूति' (Past experience) तथा (२) इन पूर्व अनुभूतियों को उनके 'मौलिक उत्तेजक (Original Stimulus situations) परिस्थितियों' की अनुपस्थिति में ही वर्तमान चेतना में लाना।

'प्रत्याह्वान' की क्रिया दो प्रकार की होती है। (क) 'तात्कालिक-प्रत्याह्वान' (Immediate Recall) (ख) 'विलम्बी-प्रत्याह्वान' (Delayed Reca'l). तात्कालिक-प्रत्याह्वान उसे कहते हैं जब किसी भी विषय को सीखने के कुछ समय पश्चात् तुरत उसका प्रत्याह्वान किया जाता है। परन्तु, 'विलम्बी-प्रत्याह्वान' उसे कहते हैं जब किसी भी विषय को सीखने के कुछ समय बाद उसका प्रत्याह्वान किया जाता है। 'तत्कालिक-प्रत्याह्वान' की विधि के द्वारा सीखने की क्रिया की भी जाँच की जाती है। अतः यह सीखने की एक विधि भी है। परन्तु यहाँ हम धारणा-क्रिया की जाँच के लिए 'विलम्बी-प्रत्याह्वान' का ही उपयोग करते हैं। एक उदाहरण देकर इन्हें हम अधिक स्पष्ट कर सकते हैं—यदि एक व्यक्ति को निरथक पदों (१२ पदों) की एक सूची सीखने को दी जाती है और उसे एक बार समान समय क अन्तर पर (मानो, दो सेकण्ड) सभी पदों को एक-एक कर एक छिद्र के द्वारा दिखाया जाता है। तत्पश्चात् हम उसे,

अपनी स्मृति से, देखे हुए पदों का प्रत्याह्वान करने को कहते हैं। इस प्रत्या-ह्वान की क्रिया को हम 'तत्कालिक-प्रत्यावाहन' की संज्ञा देते हैं। यह क्रिया उस समय तक दुहराई जाती है जब तक कि वह व्यक्ति सूची के सभी पदों को सही-सही नहीं कह दे। तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इतने प्रयासों (६ या ७ प्रयास जो व्यक्ति लेता है) के बाद उस व्यक्ति ने इन १२ निरर्थक पदों की एक सूची को सही-सही सीख लिया है। अब हम यदि उस व्यक्ति से चार घण्टों या चार दिनों या एक महीने के बाद उन सीखे हुए निरर्थक पदों की सूची का प्रत्याह्वान करने को कहते हैं तो व्यक्ति के उस समय के प्रत्याह्वान को 'विलम्बी-प्रत्याह्वान' कहेंगे। इससे यह मालूम हो जाता है कि भूतकाल मे सीखे हुए विषय का कितना अश वह व्यक्ति धारण कर सका है। जैसा की पहले भी कहा जा चुका है कि सीखने की क्रिया जितनी ही दृढ़ (Strong) होगी उतनी ही दृढ़ धारण करने की क्रिया भी होगी। फलतः प्रत्याह्वान भी उतना ही अधिक सफल होगा। इन तथ्यों का पुष्टीकरण मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों द्वारा भी कर दी है।

परन्तु यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि प्रायः प्रत्याह्वान द्वारा प्राप्त फलो (Results) तथा उनकी मौलिक अनुभूतियों मे जिसका प्रत्याह्वान व्यक्ति ने किया, न केवल उनकी मात्रा में अन्तर रहता है वरन् उनके स्वरूप (Nature) एवं गुण (Quality) म भी बहुत कुछ परिवर्त्तन पाया जाता है। इसलिए प्रत्याह्वान की क्रिया के स्वरूप पर भी ध्यान देना यहाँ अनिवार्य है।

प्रत्यावाहन का स्वरूप (Nature of Recall)—प्रारम्भ में कुछ मनोवैज्ञानिकों की ऐसी धारणा थी कि प्रत्याह्वान का स्वरूप 'रीप्रोडक्टिभ' या 'रीडुपलीकेटिभ' (Reproductive or Reduplicative) है अर्थात् यहाँ पूर्व अनुभूतियों अथवा घटना का ज्यों का त्यों नकल होता है। इसे हम दूसरे शब्दो में यह कह सकते हैं कि पूर्व अनुभूतियाँ अपने यथार्थ रूप में यहाँ आती हैं, केवल उनकी मात्रा (Degree) मे ही अन्तर रहता है। परन्तु 'बार्टलेट' (Bartlett) नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्याह्वान मे भूतकाल में सीखे हुए विषय अथवा अनुभव की हुई अनुभूतियों का ज्यों का त्यों वर्णन नहीं रहता है, वरन उनके रूप (Form) मे भी काफी परिवर्त्तन पाया

जाता है। अतः उनका कहना है कि यह एक रचनात्मक (Constructive) एवं गतिशील (Dynamic) मानसिक प्रक्रिया है। 'बार्टलेट' महोदय ने निम्नलिखित दो विधियों के द्वारा प्रयोग कर उपर्युक्त नियम की स्थापना की है—

(१) थोड़े-थोड़े समय के बाद (Method of Successive reproduction) **एक ही व्यक्ति द्वारा क्रमबद्धरूप से दुहराने की विधि।** तथा (२) **क्रमानुसार दुहराने की विधि** (Method of Serial reproduction.)

(१) थोड़े-थोड़े समय के बाद एक ही व्यक्ति द्वारा क्रमबद्ध रूप से दुहराने की विधि—(Method of Successive reproduction) एक ही व्यक्ति एक पूर्वपठित कहानी का क्रमबद्ध प्रत्याह्वान थोड़े-थोड़े समय के बाद स्वय करता है।

(२) 'क्रमानुसार दुहराने की विधि' (Method of Serial reproduction) एक व्यक्ति एक कहानी को पढता है फिर उसका प्रत्याह्वान दूसरे के सामने करता है जिसको सुनकर दूसरा व्यक्ति एक तीसरे व्यक्ति के सामने दुहराता है। इस तरह एक व्यक्ति द्वारा किये गये प्रत्याह्वान को सुनकर दूसरा व्यक्ति उसका प्रत्याह्वान करता है।

यह जानने के लिए कि धारण करने की अवधि (Period of retention) में क्या होता है हम प्रत्याह्वान की गयी वस्तु (Matter) एवं विषय की तुलना सीखे हुए विषय से करते हैं जिनका की प्रत्याह्वान किया गया है। जब दोनों समान रहते हैं तो हम कहते हैं कि पहले के द्वारा मस्तिष्क में एक चिह्न छोड़ा गया है जो दूसरे में फिर से चेतना प्राप्त करता है (Revived)। जब सीखे हुए विषय से कम विषय का प्रत्याह्वान होता है तो हम कहते हैं कि उन चिह्नों के कुछ अश मिट गये हैं या कोई चीज प्रत्याह्वान में रुकावट ला रही है। (Something is checking the recall). कुछ ऐसी स्थिति होती है जबकी जो विषय सीखा गया है उन के प्रत्याह्वान को 'मात्रा' में ही नहीं बल्कि उनके 'रूप' में भी काफी अन्तर होता है (Nature as well as Degree or quality as well as quantity). इस तरह की वस्तु-स्थिति (Phenomenon) में घट-बढ़ को सावधानी से अध्ययन करने के लिए हमलोग 'बार्टलेट' महोदय के अत्यन्त ही आभारी हैं। उन्होंने अपने प्रयोज्यों को कुछ कहानियाँ पढ़ने को कहा और फिर

उनका सारांश देकर जो उन्होंने पढ़ा था उसे दुहराने को कहा (पुनरावृत्ति करने को कहा)। थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पढ़ी हुई कहानी का प्रत्याहान किया गया। यहाँ 'बार्टलेट' ने अपूर्णता के अतिरिक्त कुछ विशेषताएँ भी पायीं जिन्होंने प्रत्याहान किये हुए विषय को सीखे हुए विषय से भिन्न बना दिया।

प्रयोज्यों द्वारा किये गये प्रत्याहान पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रयोज्यों को कहानी की एक साधारण छाप मात्र मिलती है तथा उन्होंने एक प्रत्याहान से दूसरे प्रत्याहान मे इसका प्रत्याहान करीब-करीब समान रूप मे किया। अधिकाशतः प्रत्याहान किया हुआ विषय मौलिक विषय से अधिक युक्त (Sensible) था। पर कभी-कभी इसमे विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कुछ चिह्न (Signs) पाये जाते थे। सिर्फ कुछ असाधारण (Outstanding) विवरण ही दृढ़ रह सके। सीखे हुए विषय तथा उनके प्रत्याहान मे पायी जानेवाली विभिन्नता इतनी आश्चर्यजनक होती है कि 'बार्टलेट' महोदय ने स्मृति में 'रचनात्मक तत्त्व' (Constructive elements) के महत्त्व की ओर संकेत किया है। प्रारम्भ में एक सामान्य 'छापमात्र' (Schema) रहता है जो बाद में विस्तृत हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे बाद मे प्रयोज्य कुछ पूरा कर रहा हो।

इसी तरह के प्रयोग चित्रों के खींचने (Drawing of figures) पर भी किये गये हैं और इनके आधार पर भी प्राप्त निष्कर्ष 'समान' (Similar) तरह के हैं। 'वल्फ' (Wulf); 'ऑलपोर्ट' (Allport); 'जिबसन' (Gibson) आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी अपने प्रयोगों के आधार पर इस सामान्य नियम की स्थापना की है कि चित्रों का पुनः उत्पन्न किया हुआ रूप उनके 'मौलिक रूप' (Original form) से कुछ विशेष रूप से यथाक्रम भिन्न होता है (Different in certain Systematic Way). जैसे—(१) पुनः उत्पन्न किये हुए चित्र को एक परिचित रूप की तरह बनाने की प्रवृत्ति, (२) सुडौलपन की ओर प्रवृत्ति, (३) तीव्र बनाने की प्रवृत्ति (Tendency towards sharpening) अर्थात् विशिष्ट आकृति (Form) को विस्तृत (Exaggerating) करना, (४) आकार में कमी तथा (५) विशिष्ट आकृति मे कुछ अपनी ओर से जोड़कर उसे समतल बनाना (Levelling or Toning down of Outstanding Features).

इस सम्बन्ध में 'जेस्टाल्टवादियों' (Gestaltists) का भी अपना एकमत है जिसका वर्णन यहाँ करना अभीष्ट नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रत्याह्वान किये जानेवाले विषय का स्वरूप मौलिक विषय की बिल्कुल नकल न होकर रचनात्मक (Constructive) होता है।

'प्रत्याह्वान को प्रभावित करनेवाली बातें'
(Factors that affect Recall)

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्याह्वान की क्रिया धारण-क्रिया पर ही निर्भर करती है। जिस विषय या वस्तु को हम अपने मस्तिष्क में 'स्मृचि-चिह्न' के रूप मे धारण नहीं कर पाते हैं, उनका प्रत्याह्वान भी नहीं कर सकते हैं। फिर 'स्मृति-चिह्न' जितना ही गहरा होगा, उतनी ही धारण-क्रिया प्रबल होगी। फलतः प्रत्याह्वान की क्रिया भी अधिक सफल होगी, चूँकि प्रत्याह्वान धारण करने की क्रिया पर ही निर्भर करता है। अतः धारण करने की क्रिया को प्रभावित करनेवाली जितनी भी बातें हैं; जैसे—(१) मस्तिष्क की बनावट; (२) धारण करनेवाले व्यक्ति की विशेषताएँ—उसकी उम्र, लिंग, स्वास्थ्य (मानसिक तथा शारीरिक दोनों); (३) सीखे हुए विषय का स्वरूप तथा सीखने की विधि; (४) धारण करनेवाले व्यक्ति की अभिरुचि तथा मानस-वृत्ति आदि जिनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, सभी का प्रत्याह्वान की क्रिया को प्रभावित करने में भी अत्यधिक प्रधानता है।

'प्रत्याह्वान मे उत्तजना का स्थान'
(Role of Stimulus in Recall)

प्रत्याह्वान के सम्बन्ध में उल्लेख करने के समय में ही आरम्भ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्याह्वान की क्रिया मौलिक उत्तेजना-विशेष जिसका कि प्रत्याह्वान किया जा रहा है, उसकी अनुपस्थिति में ही होता है (Absence of the original Stimulus). जैसे—हम भूतकाल में मिले हुए मित्र के नाम का प्रत्याह्वन करते हैं जो कि हमारे सामने अभी उपस्थित भी नहीं है। हालाँकि यह कहना ठीक है कि प्रत्याह्वान में मौलिक उत्तेजना (Original Stimulus) अनुपस्थित रहती है, फिर भी यह कहना गलत होगा कि मौलिक उत्तेजक परिस्थिति के अतिरिक्त अन्य उत्तेजनाएँ भी उपस्थित नहीं रहती हैं। चूँकि प्रायः

अन्य उत्तेजनाएँ जिनका कि किस-न-किसी विशेष रूप में उस मौलिक उत्तेजक परिस्थिति से सम्बन्ध रहता है, हमें एक घटना-विशेष या नाम-विशेष के प्रत्याह्वान मे मदद पहुँचाती है। इस तरह की सहायक उत्तेजनाएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) 'वाह्य उत्तेजनाएँ' (External Stimuli or Cues), (२) 'आन्तरिक उत्तेजनाएँ' (Internal Stimuli or Cues). 'वाह्य उत्तेजनाएँ' वे हुईं जो व्यक्ति के शरीर के बाहर रहती हैं तथा 'आन्तरिक उत्तेजनाएँ' उन उत्तेजनाओं को कहा जाता है जो व्यक्ति के शरीर के अन्दर रहती हैं। इन दोनों प्रकार की उत्तेजनाएँ प्रत्याह्वान में मदद पहुँचाती हैं। प्रत्याह्वान म सहायता पहुँचानेवाली आन्तरिक एवं वाह्य उत्तेजनाओं का उदाहरण क्रमशः इस प्रकार दिया जा सकता है, जैसे—उल्टी होने पर, किसी व्यक्ति को इंगलैण्ड जाते समय जहाज पर 'समुद्री बीमारी' (Sea Sickness) के कारण हुए बहुत जोरों की उल्टी की याद आ सकती है। तथा किसी स्त्री को अपनी पत्नी जैसी साड़ी पहने रहने पर किसी को अपनी स्त्री की याद आ सकती है। यह इसलिए होता है कि वर्तमान उत्तेजना तथा भूतकाल के अनुभवों में एक प्रकार का 'साहचर्य' (Association) रहता है।

'रिडियुस्ड कियूस'
(Reduced Cues)

कभी-कभी पूर्व अनुभव किये हुए किसी परिस्थिति का एक अंश (fraction) मात्र ही उस पूर्ण परिस्थिति का प्रत्याह्वान करा देता है। जैसे—अपने किसी मित्र का बाल, अथवा उसकी पदचाप ही उस मित्र का पूरा प्रत्याह्वान करा देती है। यह प्रायः देखा जाता है कि वर्ग में शिक्षक द्वारा किसी प्रश्न के पूछने पर जब विद्यार्थी उसका सही-सही उत्तर देने में असमर्थ होता है तो शिक्षक द्वारा थोड़ा-सा सकेत ही उस विद्यार्थी को उस प्रश्न का सही-सही उत्तर देने में मदद पहुँचाता है। यह इसलिए होता है कि शिक्षक द्वारा दिया हुआ वह थोड़ा सकेत ही उसे पूरे प्रश्न के सही उत्तर का प्रत्याह्वान करा देता है। इस थोड़े-से संकेत को ही जो इससे सम्बन्धित पूरी घटना या परिस्थिति का प्रत्याह्वान करा देता है उसे ही 'रेडियुस्ड कियूस' की संज्ञा दी जाती है। ये प्रत्याह्वान में सहायक का कार्य करती हैं (Aids in Recall). यह इसलिए होता है कि इस संकेत और उस परिस्थिति और घटना-विशेष जिसका कि यह

प्रत्याह्वान कराता है उसमें एक प्रकार का साहचर्य स्थापित हुआ रहता है।

'प्रत्याह्वान में साहचर्य का स्थान'
(Role of Association in Reall)

ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रायः एक प्रकार की अनुभूति का प्रत्याह्वान दूसरी अनुभूति के प्रत्याह्वान में सहायता पहुँचाता है। ऐसा इन दोनों अनुभूतियों में 'साहचर्य' (Association) या यह कहा जाय कि एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण ही होता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि प्रत्याह्वान करने में कुछ 'सहायक' भी हैं (Aids in recall). प्रत्याह्वान में सदा पूर्व अनुभूति को ही वर्तमान चेतना मे लाना होता है तथा साहचर्य में भी भूतकाल का प्रभाव वर्तमान मे पड़ता है। अतः साहचर्य और प्रत्याह्वान में निकट सम्बन्ध है अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि साहचर्य, प्रत्यावाहन में बहुत सहायता पहुँचाता है (Association serves as an aid in recall). इन जानने के लिए हमे यह जानना होगा कि किस प्रकार साहचर्य प्रत्याह्वान में सहायक के रूप में कार्य करता है।

प्रत्याह्वान के सहायक के रूप में साहचर्य जो कार्य करता है उस सम्बन्ध में दो नियम हैं—(१) 'प्रधान नियम' (Primary Law), (२) 'सहायक नियम' (Secondary Law)।

इनका अध्ययन बारहवें अध्याय में किया जायगा। इसी अध्याय में ही यह स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार से साहचर्य के नियम प्रत्याह्वान में सहायक का कार्य करते हैं (How they work as aids in recall).

(२) 'पहचानना' (Recognizing)

कभी-कभी ऐसा होता है कि हम एक पूर्व अनुभव किये हुए विषय या घटना का प्रत्याह्वान करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। परन्तु यदि उस विषय या घटना-विशेष को अन्य विषयों के साथ मिलाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया जाय तो हम उसको पहचान लेते हैं। अर्थात् उसका प्रत्याह्वान न होकर उसकी 'प्रतिभिज्ञा' हो जाती है।

यहाँ पर सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि पहचानने की क्रिया या 'प्रतिभिज्ञा' का क्या अर्थ होता है।

पहचानना या प्रतिभिज्ञा किसे कहते हैं?—यह भी प्रत्याह्वान के समान धारण-क्रिया को जाँचने की एक दूसरी मुख्य विधि है। यह एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी पूर्व एवं परिचित अनुभूतियों को नई तथा अपरिचित अनुभूतियों से अलग करता है। यहाँ व्यक्ति द्वारा अनुभव किये गये वस्तुओं या विधियों को जिनसे वह परिचित है उनको अन्य नये एवं अपरिचित वस्तुओं एवं विषयों के साथ फेंट कर प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्ति को अपने पूर्वानुभूत एवं परिचित वस्तुओं को नये तथा अपरिचित वस्तुओं से अलग करना पड़ता है। प्रायः व्यक्ति ऐसा करने मे समर्थ हो जाता है। इसी क्रिया को ही पहचानने की क्रिया की संज्ञा दी जाती है। पहचानने की क्रिया पर मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं।

मान लिया जाय हमें यह जानना है कि हमारा प्रयोज्य एक पूर्वानुभूत तथा परिचित बारह निरर्थक पदों की एक सूची को पहचानने म समर्थ होता है या नहीं। अर्थात् हम उन निरर्थक पदों की धारणा-क्रिया की जाँच पहचानने की विधि से करना चाहते हैं। यह प्रयोग इस प्रकार किया जाता हैः—प्रयोज्य को सवप्रथम उस निरर्थक पदों की सूची को एक-एक कर कुछ समय के अन्तर पर एक छिद्र के द्वारा दो या तीन बार केवल दिखलाया जायगा, उसका तात्कालिक प्रत्याह्वान नहीं लिया जायगा, चूँकि हमे यहाँ इन निरर्थक पदों की सूची से प्रयोज्य का सिर्फ परिचय मात्र ही करवाना है, उसे उन पदों को याद नहीं करवाना है। कुछ समय बाद, दो घण्टों, दो दिनों या एक महीना कुछ भी हो सकता है, जैसा हम चाहें, हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि पूर्वानुभूत एवं परिचित निरर्थक पदों की सूची मे से कितने पदों को प्रयोज्य अभी तक स्मरण किये हुए है। ऐसा करने के लिए हम उन पूर्वानुभूत एव परिचित पदों की सूची को एक समान संख्यावाले निरर्थक पदों की सूची के साथ अव्यवस्थित ढंग से मिश्रित कर (Randomly mix) प्रयोज्य के सामने एक-एक कर निरर्थक पदों को प्रस्तुत करेंगे और प्रयोज्य से यह पूछेंगे कि इनमे से किन-किन पदों को उसने पहले देखा है तथा उनसे परिचित है और किनसे वह अपरिचित है अथवा वे नये हैं। प्रयोज्य को केवल परिचित एवं पूर्वानुभूत पदों को ही पहचानने को कहेंगे। यह प्रयोग शब्दों तथा चित्रों पर भी किया गया है।

पहचानने की क्रिया दो प्रकार की होती है—(१) 'निश्चित पहचान' (Definite Recognition), (२) 'अनिश्चित पहचान' (Indefinite Recognition)।

(१) निश्चित पहचान—यह उस पहचान को कहते हैं जब व्यक्ति अपनी पूर्वानुभूत तथा परिचित घटनाओं की पहचान यह कहकर करता है कि उसको अमुक घटना का अनुभव कहाँ और किस समय हुआ था। अर्थात् उसे इसका निश्चयपूर्वक ज्ञान हो जाता है।

(२) अनिश्चित पहचान—परन्तु अनिश्चिति पहचान में पहचान तो होती है, लेकिन यह अनिश्चित होता है कि व्यक्ति ने उस पूर्वानुभूत एवं परिचित घटना का कहाँ और किस समय परिचय प्राप्त किया था। व्यक्ति सिर्फ इतना ही कह पाता है कि उसने अमुक वस्तु को कहीं और कभी देखा है परन्तु कब और कहाँ देखा है इसे निश्चित रूप से कहने मे असमर्थ पाया जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहाँ निश्चित पहचान में अनिश्चित पहचान के समान पूर्वानुभूत एवं परिचित घटना या विषय के परिचय की झलकमात्र ही नहीं रहती है वरन् इसमें समय (Time) और स्थान (Place) का ज्ञान भी रहता है। प्रयोग द्वारा भी इस बात का पता लगाया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रयोग-द्वारा पहचानने की विधि से धारण-क्रिया की जाँच सुलभता से सम्भव है।

'प्रत्याह्वान तथा प्रतिभिज्ञा या (पहचानने की क्रिया) मे भेद अथवा अंतर'
(Distinction between Recall and Recognition)

पिछले पृष्ठों में प्रत्याह्वान तथा पहचानने की क्रिया दोनों ही पर अलग-अलग प्रकाश डाला गया है, जिससे यह स्पष्ट है कि दोनों ही स्मरण-क्रिया के अंग होते हुए भी एक दूसरे से निम्नलिखित बातों में भिन्न हैं—

(१) प्रत्याह्वान की क्रिया में मूल उत्तेजना अनुपस्थित रहती है परन्तु पहचानने की क्रिया मे यह उपस्थित रहती है। प्रत्याह्वान की क्रिया में व्यक्ति को मौलिक उत्तेजना की अनुपस्थिति में ही पूर्वानुभूत विषयों एवं घटनाओं को वर्तमान चेतना में लाना पड़ता है। लेकिन पहचानने की क्रिया में पूर्वानुभूत एवं परिचित घटनाओं या विषयों को अपरिचित एवं नई घटनाओं या विषयों के साथ अव्यवस्थित ढंग से मिश्रित कर व्यक्ति के सामने प्रस्तुत कर उसे पूर्वानुभूत एवं परिचित घटनाओं को नये एवं अपरिचित घटनाओं से अलग करने को कहते हैं। अस्तु, पहचानने की

क्रिया में मूल उत्तेजना भी वर्तमान रहती है। (The original stimulus is also present in recognition but absent in recall).

(२) जहाँ प्रत्याह्वान स्मरण-क्रिया का तीसरा अंग है, वहाँ पहचानना चौथा अंग है। पहचानने के बिना प्रत्याह्वान सम्भव नहीं है। परन्तु प्रत्याह्वान के बिना पहचानने की क्रिया सम्भव है। अर्थात् जिस पूर्वानुभूति का हम प्रत्याह्वान नहीं कर पाते हैं उसे पहचान सकते हैं। परन्तु जिसे पहचान ही नहीं सकते हैं उसका प्रत्याह्वान तो कदापि सम्भव नहीं हो सकता है।

(३) प्रत्याह्वान पूर्ण एवं अपूर्ण होता है (Complete and Incomplete), परन्तु पहचानने की क्रिया निश्चित एवं अनिश्चित होती है Definite and Indefinite).
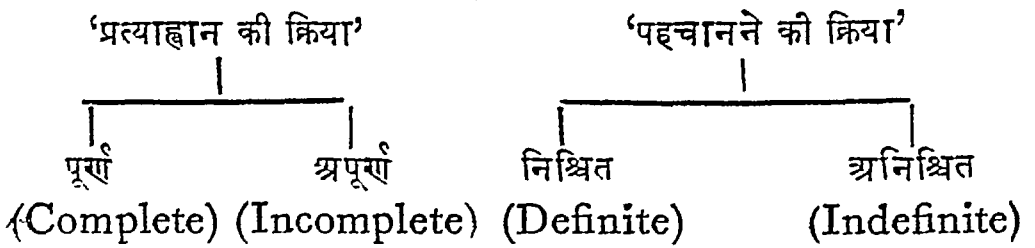
इनका उल्लेख विस्तार में पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

(४) प्रत्याह्वान में जहाँ परिवर्तन की गुञ्जाइश (Scope) है, वहाँ पहचानने की क्रिया में नहीं है। प्रत्याह्वान के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय ही 'बार्टलेट' (Bartlett) आदि मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगों द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर ही यह विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्याह्वान करते समय चूँकि व्यक्ति अपने पूर्वानुभूत विषयों से कुछ को भूल जाता है, वह उनकी क्षति-पूर्ति के हेतु उनमें अपने कुछ अन्य परिचित अनुभवों को जोड़ देता है। परन्तु पहचानने की क्रिया में उसे पूर्वानुभूत एवं परिचित विषयों या घटनाओं को नई एवं अपरिचित घटनाओं या विषयों से सिर्फ 'हाँ' या 'ना' करके अलग करना है। अतः यहाँ प्रत्याह्वान की क्रिया की तरह परिवर्तन की बिल्कुल गुञ्जाइश (Possibility) नहीं है।

(५) प्रत्याह्वान तथा पहचानने की क्रिया में सबसे अन्तिम भेद यह है कि प्रत्याह्वान की क्रिया पहचानने की क्रिया से कठिन (Difficult) है या यह कहा जाय कि पहचानने की क्रिया प्रत्याह्वान की क्रिया से सरल

एवं आसान (Easy) है। प्रायः यह देखा जाता है कि जिस पूर्वानुभूति एवं घटना या विषय का हम प्रत्याह्वान करने में असमर्थ होते हैं, उनको हम आसानी से पहचान लेते हैं। 'एचिल्स' (Achils) आदि अन्य मनोवैज्ञानिको ने इस सम्बन्ध मे किये गये अपने प्रयोगो के द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर भी इस सामान्य नियम की स्थापना की है कि 'पहचानने की क्रिया प्रत्याह्वान की क्रिया से सर्वथा सरल एव आसान है।' निम्नलिखित तालिका मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं विषयों की 'पहचानने' एव 'प्रत्याह्वान' के फलांक (Result) का विवरण दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि एक ही प्रकार के विषय मे प्रत्याह्वान के फलांक तथा पहचानने के फलांक में काफी अन्तर है। निरर्थक पदों, शब्दों, मुहावरों आदि सभी विषयों में पहचानने का फलांक प्रत्याह्वान के फलांक से कहीं अधिक है।

विषय	फलांक	
	पहचानना (Recogniton)	प्रत्याह्वान (Recall)
१. निरर्थक पद (Nonsense-syllables)	४२%	१२%
२. शब्द (Words)	६५%	३६%
३. मुहावरा (Proverbs)	६७%	२२%

(३) 'पुनः सीखने की विधि'
(Method of Relearning)

धारणा-क्रिया को जाँचने के जिन दो विधियों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे धारणा-क्रिया की जाँच 'प्रत्यक्ष रूप' (Directly) से करते हैं। इनके अतिरिक्त एक और विधि है जो धारणा-क्रिया की जाँच 'अप्रत्यक्ष रूप' से (Indirectly) करता है। इसे पुनः सीखने की विधि कहते हैं (Method of Relearning). किसी पूर्व सीखे हुए विषय का

प्रयोज्य द्वारा 'विलम्बी प्रत्याह्वान' (Delayed Recall) कर लेने के पश्चात् जब यह पता चलता है कि उस विषय के कुछ अंशों को वह भूल गया है तो उसी विषय को उसे फिर से पूर्णरूपेण सीखने को दिया जाता है। उस विषय को फिर से पूर्णरूपेण सीख लेने के लिए उस व्यक्ति ने उस विषय को पहली बार आरम्भ मे सीखने के हेतु जितना प्रयास और समय लिया था उससे कहीं कम प्रयास तथा समय वह उसे पुनः सीखने मे लेता है। अतः इसको पुनः सीखने मे प्रयोज्य को पहले से कम मेहनत भी पड़ती है।

इससे यह पता चलता है कि प्रयोज्य पूर्व सीखे 'हुए विषय के कुछ अंशों को धारण किये हुए है। धारण करने की मात्रा (Amount of Retention) उस विषय को पुनः सीखने के हेतु लिए प्रयासों की संख्या (Number of Trials) पर निर्भर करती है। उस विषय को पुनः सीखने के लिए जितना कम प्रयास प्रयोज्य लेता है, इसका अर्थ हुआ कि उतनी ही अधिक मात्रा म उस पूर्व सीखे हुए विषय को वह धारण किये हुए है। अस्तु, पुनः सीखने की विधि से भी धारण-क्रिया की जॉच अप्रत्यक्ष रूप से सम्भव है।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

भूलना या विस्मरण

(Forgetting)

भूमिका—भूलने का स्वरूप—एबिंगहॉस महोदय की विस्मरण-रेखा।

भूलने के कारण—सीखने के समय पड़नेवाले प्रभाव, धारणा-अवधि में पड़नेवाले प्रभाव तथा प्रत्याह्वान करने समय पडनेवाले प्रभाव।

सीखने के समय पड़नेवाले प्रभाव—विषय का स्वरूप—विषय की निरर्थकता, प्रिय तथा अप्रिय घटनाएँ, सीखे हुए विषय की लम्बाई तथा सीखने की मात्रा।

सीखने की विधि—अविराम रीति से सीखना, स्वतः दुहराने की विधि का अभाव, समझकर न सीखना अथवा रटकर सीखने की विधि तथा लक्ष्य-रहित सीखना।

धारणा-अवधि में पड़नेवाले प्रभाव—सीखने के पश्चात् आराम नहीं करना अथवा सो नहीं जाना, पृष्ठोन्मुख अवरोध, 'शौक ऐमनेसिया', थकावट तथा मस्तिष्क में चोट।

प्रत्याह्वान करते समय प्रभावित करनेवाली बातें—समान विषयों की स्मृति से बाधा, गलत मानसवृत्ति या स्थिति, प्रत्याह्वान करने की इच्छा का अभाव।

भूलने के कारणों के दो मुख्य भाग—(१) पूर्व सीखे हुए विषय द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्नों का क्षीण होना—क्या स्मृति-चिह्न बिल्कुल क्षीण होते हैं या नहीं?—(२) एक सीखे हुए विषय द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्नों का दूसरे विषय से बने स्मृति-चिह्नों द्वारा रुकावट डालना।

स्मृति-शिक्षण—अच्छी स्मृति किसे कहते हैं?

अच्छी स्मृति की विशेषताएँ—शीघ्रता से एवं आसानी से याद हो जाना, देर तक याद रहना, समय पर आसानी से याद पड़ना तथा ठीक-ठीक याद पड़ना।

स्मृति को अच्छा कैसे बनाया जाय? अर्थात् अच्छी स्मृति किन-किन बातों पर निर्भर करती है—सीखने की इच्छा का होना, ठीक से ध्यान देकर सीखना और समझकर सीखना, यथासम्भव सीखने के समय मानसिक प्रतिमाओं का उपयोग करना, साहचर्य का उपयोग करना, पूर्ण रीति से सीखना, विराम रीति से सीखना, सीखे हुए विषय की पुनरावृत्ति करना, सीखने के बाद तुरत दूसरे विषय को नहीं पढ़ना बल्कि थोड़ा आराम करना, सीखने के पश्चात् समय-समय पर अक्सर पठित विषयों का मानसिक पर्यवेक्षण करना तथा भूलने पर तुरत उसे देख लेना, विशिष्ट लक्ष्य से सीखना एवं तेजी से नहीं सीखना।

भूलने की उपयोगिताएँ—मानसिक सन्तुलन बनाये रखने में सहायता, गलत तथा बुरी बातों एवं आदतों को भूलने से लाभ तथा नई बातों को सीखने में सहायता।

जिस विषय को हम सीखते हैं उसे 'स्मृति-चिह्न' (Memory traces) के रूप में अपने मस्तिष्क में धारण कर लेते हैं। कुछ समय के पश्चात् जब उसका 'प्रत्याह्वान करने' (Recalling) या उसको 'पहचानने' (Recognizing) मे सफल हो जाते हैं तो यह कहा जाता है कि यह धारण किया गया है। पर, कभी-कभी ऐसा होता है कि जो हम सीखते हैं, उसके कुछ अंश का न तो हम प्रत्याह्वान (Recall) कर पाते हैं, और न उसे पहचान (Recognize) ही पाते हैं। इसी को भूलने की प्रक्रिया कहते हैं। अतः कुछ मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) का कहना है कि भूलना एक मानसिक प्रक्रिया है जो व्यक्ति द्वारा किसी सीखे हुए विषय को धारण (Retention) करने में असमर्थता के कारण ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'विस्मरण की प्रक्रिया सीखने की प्रक्रिया का विपरीत ही है' (Forgetting is converse of learning)। परन्तु, ऐसा कहना पूर्णतः ठीक नहीं है। प्रायः देखा गया है कि जिस सीखे हुए विषय के कुछ अंगों का प्रत्याह्वान या पहचान हम किसी खास समय में जब करना चाहते है तो नहीं कर पाते हैं। परन्तु कुछ समय के पश्चात् न चाहते हुए

भी उनके प्रत्याह्वान या पहचान करने में सफल होते हैं अथवा थोड़ा-सा संकेतमात्र भी उनके प्रत्याह्वान करने या पहचानने मे बहुत सहायक सिद्ध होता है। उसी विषय को जब हम बाद मे सीखते हैं, तो प्रारम्भ में जितना प्रयास करना पड़ा था, उससे कम प्रयास मे ही सीख लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पुनः सीखने की क्रिया प्रारम्भिक सीखने की क्रिया से सहज एवं कम ही प्रयासों के द्वारा सम्भव है। 'धारण-क्रिया' ((Retention) का हम प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण नहीं कर सकते हैं, परन्तु पहले सीखे गये विषय का बाद मे सीखे गये विषय पर पड़े प्रभाव के द्वारा हम इसे जान सकते हैं। इस पर तो हमने धारण-क्रिया की जाँच की विधियों (Methods of testing retention) का उल्लेख करते समय ही विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

इसी प्रकार कुछ स्मृतियाँ, जो सामान्यतः बिल्कुल ही चेतना (Conscious state of mind) मे नहीं आ पाती हैं, सम्मोहनावस्था (Hypnotic state) में पुनः प्राप्त हो जाती हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि विस्मरण की प्रक्रिया सदा धारण न करने या स्मृति-चिह्न (Memory Traces) के क्षीण (Weakening) होने के कारण ही नहीं होती है। अतः किसी पूर्व सीखे हुए विषय का आवश्यकतानुसार प्रत्याह्वान या पहचान करने की असमर्थता को हम विस्मरण की संज्ञा दें, तो अधिक उपयुक्त होगा (So forgetting is not always the failure to retain but failure to recall or recognize).

'भूलने का स्वरूप'
(Nature of Forgetting)

इस विषय में मनोवैज्ञानिकों के बीच दो विरोधी मत हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का जिनमें 'एबिंगहॉस' (Ebbinghaus) का नाम प्रमुख है, विचार है कि विस्मरण एक निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया (Passive mental process) है। उनका कहना है कि हम 'काल-व्यवधान' (Lapse of time) तथा उस बीच में सीखे हुए विषयों की कभी पुनरावृत्ति नहीं करने के कारण ही भूलते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे हम पहले सीखे हुए विषय को भूलते जाते हैं। उनके अनुसार यदि किसी पहले सीखे हुए विषय का प्रत्याह्वान सीखने के तीन

महीने के बाद किया जाये और फिर उसका प्रत्याह्वान आठ महीनों के बाद किया जाये, तो दूसरी अवस्था में भूलने की मात्रा पहले से अधिक होगी; चूँकि पहली अवस्था के अपेक्षाकृत दूसरी अवस्था मे समय काफी बीत चुका है।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी विषय को सीखने तथा उसका प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि (Retention-Interval) जैसे-जैसे अधिक होती जायगी, वैसे-वैसे भूलने की मात्रा (Amount of forgetting) भी बढ़ती जायगी। इसका कारण यह है कि समय के बीतते जाने से उनके द्वारा मस्तिष्क में बने 'स्मृति-चिह्न' (Memory Traces) भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। इस तथ्य की पुष्टि 'एबिंगहॉस' (Ebbinghaus) ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों (Experimental studies) के द्वारा प्राप्त 'विस्मरण-रेखा' (Forgetting curve) से भी किया है, जिनका उल्लेख विस्तार में हम आगे करेंगे।

परन्तु 'मूलर' 'पिलजेकर' 'उडवर्थ' तथा 'फ्रायड्', (Muller, Pilzecker, Woodworth and Freud) आदि मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों (Experimental Studies) के आधार पर 'एबिंगहॉस' महोदय के उपर्युक्त विचार का खण्डन किया है। उनका विचार है कि 'विस्मरण एक निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया नहीं है, वरन् यह एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है' (Forgetting is not a passive mental process, rather it is an active mental process). इस विचार की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्नलिखित दो प्रमुख प्रमाणों को उपस्थित किया है—

(१) हम 'काल-व्यवधान' (Lapse of time) के फलस्वरूप स्मृति-चिह्नों के क्षीण होने के कारण नहीं भूलते, बल्कि इस काल-व्यवधान मे किसी विषय को सीखने तथा उसका प्रत्याह्वान करने के बीच में की गयीं अथवा सीखी गयीं दूसरी बातों के प्रभाव के कारण ही भूलते हैं। पहली सीखी गयीं बातों द्वारा बने स्मृति-चिह्न बाद मे सीखी गयी बातों के स्मृति-चिह्नों को क्षीण बना देते हैं। अर्थात् पहले सीखे हुए विषयों द्वारा बने स्मृति-चिह्न स्वतः सिर्फ काल-व्यवधान के कारण ही क्षीण नहीं होते हैं, वरन् इस अवधि मे किये गये कोई कार्य या सीखे गये अन्य विषयो के फलस्वरूप बने नये स्मृति-चिह्नों का पहले के सीखे हुए विषयों द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्नों के प्रत्याह्वान मे रुकावट डालने के कारण ही

पहलेवाले विषय के स्मृति-चिह्न क्षीण हो जाते हैं। इसके कारण हम पहले सीखे गये विषय का प्रत्याह्वान ठीक से कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं। इसे उन्होंने 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' (Retroactive-Inhibition) की संज्ञा दी है। इसका उल्लेख भूलने के कारणों पर प्रकाश डालते समय विस्तारपूर्व आगे किया जायगा।

इस विचार के विरोध में दूसरे मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जब हम एक अवस्था में किसी विषय को सीखने के पश्चात् एक निश्चित समय के लिए आराम करते हैं अथवा सोजाते हैं और सोकर उठने के बाद जब उसका प्रत्याह्वान करते हैं तथा दूसरी अवस्था में उसी या उसी के समान विषय को सीखने के बाद आराम करने या सोने के बजाय पहली अवस्था के बराबर समय के लिए यदि दूसरे कार्य में लग जाने के पश्चात् उसका प्रत्याह्वान करें तो हम पाते हैं कि भूलने की मात्रा पहली अवस्था में दूसरी अवस्था की अपेक्षा कम ही होती है। इसे हम एक प्रयोगात्मक अध्ययन से प्राप्त सामग्रियों (Data) के सहारे अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।

उनका कहना है कि चूँकि पहली अवस्था में आराम करने या सो जाने के कारण हम अपने को अन्य कार्यों मे नहीं लगाते हैं और दूसरी अवस्था में अपने को दूसरे कार्यों में लगा देते हैं, इसलिए पहली अवस्था मे दूसरी अवस्था के अपेक्षाकृत कम भूलते हैं। यदि भूलने की क्रिया एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया होती तो ऐसी बात की सम्भावना नहीं थी। अतः उनके अनुसार भूलने की प्रक्रिया को एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया कहना युक्तिसगत नहीं प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब हम आराम करते हैं अथवा सो जाते हैं तो उस अवस्था मे भी हमारा स्नायु-मण्डल (Nervous-System) क्रियाशील (Active) रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में भी हमारा स्नायु-मण्डल सदा किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होता ही रहता है, जैसे—स्वप्न आदि द्वारा। चूँकि 'चेतनावस्था' (Conscious state) में 'अचेतनावस्था' (Unconscious) के अपेक्षाकृत हमारा स्नायु-मण्डल अधिक क्रियाशील रहता है, पहली अवस्था में दूसरी अवस्था की अपेक्षा कम भूलते हैं। अतः भूलने को एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया की संज्ञा देना ही अधिक युक्तिसंगत मालूम पड़ता है।

(२) विस्मरण एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है। इसका प्रमाण 'सिगमण्ड फ्रायड्' (Sigmund Freud) नामक प्रसिद्ध मनोविश्लेषक की इस बात से भी मिलता है कि हम अपनी अप्रिय तथा दुःखद अनुभूतियों को भूल जाना चाहते हैं। चूँकि वे अनुभूतियाँ दुःखद होती हैं, उन्हें हम अपनी चेतना में नहीं रखना चाहते हैं, वरन् वे अचेतन में दबा दी जाती हैं। इसे 'फ्रायड्' महोदय ने 'दमन की क्रिया' (Repression) की संज्ञा दी है। इस क्रिया के फलस्वरूप वे अप्रिय घटनाएँ अथवा अनुभूतियाँ हमारे 'अचेतन-मानस' (Unconscious mind) में चली जाती हैं। इस प्रकार के भूलने में हमारी अपनी इच्छा रहती है। साथ ही साथ ऐसा होने से हमारे किसी अभिप्राय की सिद्धि भी होती है। अतः इस प्रकार के भूलने को 'सक्रिय मानसिक प्रक्रिया' कहते हैं। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति को हम अधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसका नाम प्रायः भूल जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'एबिंगहॉस' का यह मत है कि भूलना एक निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया है; 'मूलर, पिलजेकर, उडवर्थ एवं फ्रायड्' आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा खण्डित कर दिया गया है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अतः निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि 'भूलना एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है, न कि एक निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया' (Forgetting is not a passive mental process, rather it is an active process).

'एबिंगहॉस महोदय की विस्मरण-रेखा'
(Ebbinghaus's Curve of Forgetting)

'एबिंगहॉस' (Ebbinghaus) महोदय का नाम उनके द्वारा स्मरण की क्रिया पर सर्व प्रथम प्रायोगिक अध्ययन करने के कारण मनोवैज्ञानिकों के लिए चिरस्मरणीय है। सन् १८८५ में उन्होंने (Quantitative study of the loss of retention with the lapse of time) सर्वप्रथम 'काल-व्यवधान' के कारण 'धारण-क्रिया' में हुई क्षति का परिमाण-सम्बन्धी अध्ययन किया था। उन्होंने स्वयं निरर्थक शब्द-खण्डों की एक सूची को पूर्णतः याद किया और विभिन्न काल-व्यवधान के पश्चात् जैसे—२० मिनट, १ दिन, २ दिनों, ६ दिनों, ३१ दिनों के बाद उसका प्रत्याह्वान किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने पाया कि पूर्व सीखे हुए

विषय में ४७%, ६६%, ७२%, ७६% तथा ७६% बातों को क्रमशः वे भूल गये। अर्थात् जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे उस विषय द्वारा मस्तिष्क में बने 'स्मृति-चिह्न' (Memory traces) क्षीण होते जाते हैं। फलतः विभिन्न काल-व्यवधान के पश्चात् पूर्व सीखे हुए विषय के प्रत्याह्वान की मात्रा में अन्तर होता है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे 'एबिंगहॉस' (Ebbinghaus) की 'विस्मरण-रेखा' (Curve of Forgetting) को दे दिया गया है। इसे ध्यानपूर्वक देखने पर उपर्युक्त सभी बातें बिल्कुल ही स्पष्ट हो जायँगी।

(दिनों)
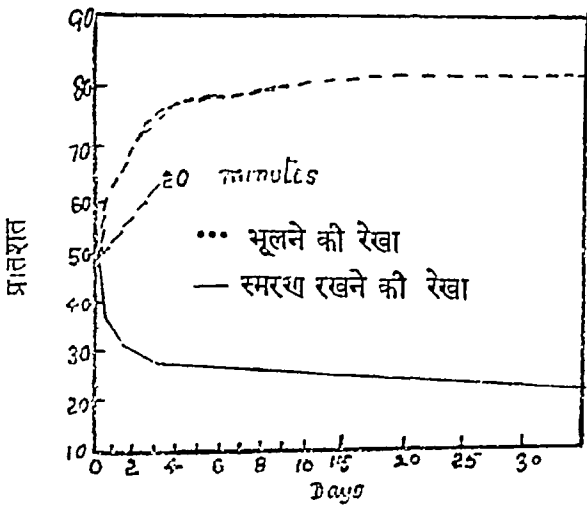
चित्र नं० १७—'एबिंगहॉस' महोदय की 'विस्मरण रेखा'

(Forgetting Curve of Ebbinghaus)

ऊपर के चित्र में 'एबिंगहॉस' महोदय की 'विस्मरण-रेखा' पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होगा कि भूलने की क्रिया आरम्भ में बहुत तेजी से होती है, परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, क्रमशः यह धीरे-धीरे हो जाती है। अपने इसी प्रयोग द्वारा प्राप्त सामग्रियों के आधार पर ही 'एबिंगहॉस' महोदय (Ebbinghaus) ने विस्मरण को एक 'निष्क्रिय प्रक्रिया' (Passive process) की संज्ञा दी है, जिसका खण्डन हम पीछे कर चुके हैं।

'भूलने के कारण'
(Causes of Forgetting)

'स्मृति' के अध्याय में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी विषय को सीखने के पश्चात् हमारे मस्तिष्क में इसके प्रभाव पड़ते हैं, जिन्हें

हमारा मस्तिष्क स्मृति-चिह्नों (Memory traces) के रूप में ही धारण करता है। स्मृति-चिह्नों की रचना हमारे स्नायुयों के द्वारा होती है। इन्हीं स्मृति-चिह्नों के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप ही हम पहले सीखी हुई बातों का ठीक-ठीक प्रत्याह्वान करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं अर्थात् उसमें से अधिकांश को हम भूल जाते हैं।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यदि किसी विषय को सीखने तथा उसका प्रत्याह्वान करने तक की अवधि (Retention-interval) पर ध्यान दें तो हम भूलने की क्रिया को प्रभावित करनेवाली बातों (प्रभावों) का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से कर सकते हैं और इन्हीं प्रभावों के कारण ही हम प्रायः भूलते हैं:—

(१) 'सीखने के समय पड़नेवाले प्रभाव' (Factors operating at the time of learning).

(२) 'सीखने तथा प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि में पड़नेवाले प्रभाव' (Factors operating during the retention-interval).

(३) 'प्रत्याह्वान करने के समय पड़नेवाले प्रभाव' (Factors operating at the time of recall).

अब हम एक-एक कर इनका उल्लेख संक्षेप में करेंगे।

(१) 'सीखने के समय पड़नेवाले प्रभाव'
(Factors operating at the time of learning)

किसी विषय को सीखने के समय पड़नेवाले कुछ प्रभाव निम्नलिखित बातों पर निर्भर करते हैं:—

(क) 'सीखे हुए विषय का स्वरूप' (Nature of the task learnt) तथा (ख) 'सीखने की विधि'। अब हम एक-एक कर इन पर प्रकाश डालेंगे।

(क) 'सीखे हुए विषय का स्वरूप'

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:—

(१) **विषय की निरर्थकता** (Unmeaningfulness of the material)—यह प्रयोग द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि अन्य बातों में समान होने पर हम निरर्थक विषय को सार्थक विषय के अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र भूल जाते हैं। साथ-साथ निरर्थक विषयों को भूलने की गति

तथा मात्रा भी सार्थक विषयों से अधिक रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसके दो कारण बतलाये हैं—(१) निरर्थक विषय की छाप मस्तिष्क मे गहरी नहीं पड़ पाती है तथा (२) निरर्थक होने के कारण उनका हमारे पूर्व तथा वर्तमान अनुभूतियों के साथ ठीक से साहचर्य स्थापित नहीं हो पाता है और न भविष्य में भी होने की सम्भावना होती है। अतः इनके द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न धीरे-धीरे मिटते जाते हैं, फलतः हम इन्हें भूल जाते हैं। साथ ही साथ निरर्थक होने के कारण इनका हमारे जीवन के साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है जिसके फलस्वरूप इनकी किसी भी रूप मे पुनरावृत्ति नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त निरर्थक विषय को हम समझकर नहीं सीखते, बल्कि रटकर सीखते हैं तथा इनमें हमारी रुचि भी नहीं रहती है। यह देखा गया है कि जिस विषय में हमारी रुचि नहीं रहती है उसे हम जल्द ही भूल जाते हैं। प्रयोग द्वारा भी यह प्रमाणित हो चुका है कि निरर्थक खण्डों की सूची को हम सबसे अधिक भूलते हैं।

(२) प्रिय तथा अप्रिय घटनाएँ (Pleasant and Unpleasant events or materials)—प्रिय घटनाओं के अपेक्षाकृत अप्रिय घटनाओं तथा विषयों को हम अतिशीघ्र तथा अधिक भूल जाते हैं। 'फ्रायड्' (Freud) महोदय का कहना है कि हम अपने अप्रिय अथवा दुःखद अनुभूतियों को इसलिए भूलते हैं कि उन्हें भूल जाने की हममे प्रबल इच्छा होती है, चूँकि इनके चेतना में रहने से मानसिक कष्ट होता है, अतः चेतन-मानस से निकालकर उनका अचेतन में दमन कर दिया जाता है, फलतः हम उन्हें भूल जाते हैं।

'जेर्सिल्ड' (Jersild) नामक मनोवैज्ञानिक ने भी अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों-द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि हम अपने जीवन की अप्रिय अथवा दुःखद घटनाओं को प्रिय अथवा सुखद घटनाओं के अपेक्षाकृत अधिक भूल जाते हैं। अप्रिय अथवा दुःखद होने के कारण हम उन्हें अपनी चेतना में रखना नहीं चाहते हैं। उन्होंने कॉलेज के विद्यार्थियों पर इसका प्रयोग किया। प्रयोग इस प्रकार किया गया था—विद्यार्थियों को एक लम्बी छुट्टी के बाद लौटने पर छुट्टी के बीच की अवधि में अनुभव किये गये प्रिय तथा अप्रिय घटनाओं को बारी-बारी से प्रत्याह्वान कर लिखने को कहा गया। लड़कों को २१ दिनों के पश्चात् फिर पिछली लम्बी छुट्टी मे अनुभव किये गये अप्रिय तथा प्रिय घटनाओं का प्रत्याह्वान

कर लिखने को कहा गया। इस अध्ययन के आधार पर प्राप्त औसत-फल निम्नलिखित है—

	प्रथम प्रत्याह्वान	२१ दिनों के पश्चात् प्रत्याह्वान
प्रिय अनुभूतियाँ—	१६·३५%	७·०%
अप्रिय अनुभूतियाँ—	१३·७%	३·१४%

हम अपनी प्रिय अनुभूतियों को उनके प्रिय होने के कारण उनका मानसिक पर्यवेक्षण (Mental review) करते हैं चूँकि ऐसा करने से हमें आनन्द मिलता है। परन्तु इसके विपरीत अप्रिय अनुभूतियाँ चूँकि कष्टदायक होती हैं, इनका मानसिक पर्यवेक्षण तो हम नहीं ही करते हैं बल्कि उन्हें अपनी चेतना से बाहर निकाल फेकना भी चाहते हैं। यही कारण है कि हम अपने जीवन की अप्रिय घटनाओं को प्रिय घटनाओं के अपेक्षाकृत अधिक भूलते हैं।

'कौक' (Kock) नामक मनोवैज्ञानिक ने भी इस सम्बन्ध में प्रयोग किया है और इनके अध्ययन द्वारा प्राप्त फल भी जेसिल्ड (Jersild) द्वारा प्राप्त फलों से करीब-करीब मिलते-जुलते हैं। अर्थात् यह कहा जाय कि वे भी इन्हीं बातों की पुष्टि करते हैं कि हम अपने जीवन की अप्रिय घटनाओं को प्रिय घटनाओं के अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र तथा तेजी से भूलते हैं। हालाँकि सभी लोगों में ऐसी बातें नहीं पाई जाती हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो अपने जीवन की अप्रिय घटनाओं को प्रिय घटनाओं के अपेक्षाकृत अधिक याद रखते हैं। फिर भी औसत फल 'जेसिल्ड' तथा 'कौक' द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का ही पुष्टीकरण करते हैं।

(३) सीखे हुए विषय की लम्बाई (Length of the material learnt)—भूलने की गति का सीखे हुए विषय की लम्बाई के साथ गहरा सम्बन्ध है। अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर छोटे विषय को हम लम्बे विषय की अपेक्षा अधिक शीघ्र भूल जाते हैं तथा भूलने की मात्रा भी पहली अवस्था से दूसरी अवस्था में अधिक रहती है। साधारण लोगों को यह बातें नहीं जँचेगीं चूँकि प्रायः उनका विचार रहता है कि जितना अधिक सीखेंगे उतना ही अधिक भूलेंगे। पर वस्तुतः बात इसके ठीक विपरीत है। इसको भी प्रयोग द्वारा सिद्ध किया गया है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि लम्बे विषय को सीखने के लिए छोटे विषयों को सीखने की अपेक्षा अधिक अध्ययन करना पड़ता है। उदाहरण

के लिए यदि हमे एक १० निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची को याद करने के लिए १० वार दुहराना पड़ता है तो १५ निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची को याद करने मे १० से अधिक वार दुहराना होगा—मान लीजिए १४ वार दुहराना पड़ता है। अर्थात् इस लम्बे पाठ्य-विषय को सीखने में छोटे विषय को सीखने से चार वार अधिक दुहराना पड़ता है। इसके फलस्वरूप छोटे विषय की छाप मस्तिष्क मे लम्बे विषय की अपेक्षा कम गहरी पड़ती है। अतः हम छोटे विषय को लम्बे विषय की अपेक्षा अधिक शीघ्र तथा अधिक वेग (गति) से भूलते हैं।

(४) सीखने की मात्रा (Amount or Degree of learning)—मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर भी कम मात्रा में सीखे हुए विषय को हम अधिक मात्रा मे सीखे हुए विपय की अपेक्षा अधिक शीघ्र तथा वेग से भूलते हैं। अर्थात् जिस विषय को अधिक अच्छी तरह सीखते हैं उसे कम अच्छी तरह सीखे मुए विषय से हम कम भूलते हैं। मात्रा के दृष्टिकोण से किसी भी विषय का सीखना दो प्रकार का हो सकता है—(१) अत्यधिक सीखना तथा (२) अल्प रूप से सीखना। जब हम किसी विषय को ठीक से सीख लेने के बाद भी इसे बार-बार दुहराकर अत्यधिक ठीक रूप से सीख लेते हैं तो इसे अत्यधिक रूप से सीखना (Over learning) कहते हैं। पर जब हम ठीक से सीख लेने के पूर्व ही उस विषय को सीखना छोड़ देते हैं तो इसे अल्प रूप से सीखना (Under learning) कहा जायगा। उदाहरणार्थ—मान लिया जाय एक पाठ्य-विपय को १० बार दुहराने पर यह पूर्ण रूप से याद हो जाता है तो यदि उसे ५ ही वार दुहराकर छोड़ दिया जाय तो इसे अल्प रूप से सीखना कहेंगे। परन्तु उसी को १४ वार यदि दुहराया जाय तो इमे अत्यधिक रूप से सीखने की संज्ञा देंगे। अल्परूप से सीखने पर मस्तिष्क मे जो स्मृति-चिह्न (Memory traces) वनते हैं वे अत्यधिक रूप से सीखने के पश्चात् बने हुए स्मृति-चिह्न से कम दृढ़ रूप से अंकित होते हैं। इसके फलस्वरूप अल्प रूप से सीखे हुए विषय को हम अत्यधिक रूप से सीखे हुए विषय की अपेक्षा जल्द भूल जाते हैं।

(५) सीखने की गति (Speed of learning)—जिस विषय को तेजी मे सीखते हैं उमे धीरे-धीरे सीखने के अपेक्षाकृत शीघ्र तथा अधिक भूलते हैं क्योंकि जो विषय धीरे-धीरे सीखा जाता है उस विषय-द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति चिह्नों को सुदृढ होने का अवसर अपेक्षाकृत अधिक मिलता है।

यह अवसर जल्दी-जल्दी सीखे हुए विषयों की दशा में उतना नहीं प्राप्त होता।

(ख) सीखने की विधि
(Methods of Learning)

(१) **अविराम रीति से सीखना**—किसी भी विषय को विराम अथवा अविराम रीति से सीखा जा सकता है। इसका उल्लेख सीखने की विधि का वर्णन सीखने के अध्याय में करते समय पहले ही कर दिया गया है। प्रयोगों द्वारा यह साबित हो चुका है कि अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर अविराम रीति से सीखे हुए विषय को हम विराम रीति द्वारा सीखे हुए विषय को अधिक शीघ्रता से भूलते हैं। इसका कारण यह है कि जब हम विराम-रीति से सीखते हैं तो हमें सीखे हुए विषय का मानसिक पर्यवेक्षण करने का मौका मिलता है। साथ ही-साथ विराम की अवधि में स्मृति-चिह्न को दृढ़ होने का अवसर भी मिल जाता है इसके फलस्वरूप इनके द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न दृढ़ रूप से अंकित हो पाते हैं। फलतः इन्हें हम देर से भूलते हैं। ठीक इसके विपरीत अविराम रीति से सीखने पर उपर्युक्त बातों के नहीं रहने के कारण स्मृति-जिह्न गहरे नहीं हो पाते हैं। अतः उनको हम जल्दी भूल जाते हैं। 'एबिंगहॉस' (Ebbinghaus) द्वारा किये गये प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष इसके प्रमाण-स्वरूप हैं।

(२) **स्वतः दुहराने की विधि का अभाव** (Lack of self-recitation)—'गेट्स' (Gates) महोदय ने अपने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि जिस विषय को हम स्वतः दुहराने की (Self-recitation) की विधि से सीखते हैं उनकी छाप मस्तिष्क में इस विधि से नहीं सीखे हुए विषय की अपेक्षा अधिक दृढ पड़ती है। इसके फलस्वरूप हम उन्हें कम भूलते हैं तथा स्वतः दुहराने की विधि द्वारा नहीं सीखे हुए विषय को अधिक शीघ्रता से भूलते हैं। कारण यह है कि जब हम किसी भी विषय को सीखने के पश्चात् बिना पाठ्य-विषय को देखे स्वतः बार-बार दुहराते हैं तो उसका सीखना अत्यधिक रूप से हो जाता है तथा इस बात को ध्यान में रखकर सीखना कि सीखने के पश्चात् बिना पाठ्य-विषय को देखे हुए इसे स्वतः दुहराना पड़ेगा व्यक्ति में सीखने की इच्छा उत्पन्न करता है और सीखने के लिए प्रेरित भी करता है।

(३) **समझकर न सीखना अथवा रटकर सीखने की विधि** (Rote memory)—हम कुछ विषयों को समझकर नहीं सीखते हैं बल्कि उन्हें

रटकर सीखते हैं। हम उन्हीं विषयों को रट लेते हैं जिनमे हमारी रुचि नहीं रहती अथवा जिन्हें हम समझ नहीं पाते हैं। प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जिन विषयों को सीखने में हमारी रुचि नहीं रहती है उन्हें हम शीघ्र भूल जाते हैं चूँकि उनका मानसिक पर्यवेक्षण हम नही करते हैं तथा जिन विषयों को हम समझकर सीखते हैं उनका साहचर्य अपने जीवन की अन्य घटनाओं के साथ स्थापित कर लेते हैं। फलतः समय-समय पर किसी-न-किसी रूप में उनकी पुनरावृत्ति सम्भव है। इन्हीं कारणों से उनका स्मृति-चिह्न मस्तिष्क में सबल होता है और हम उन्हें अधिक दिनों तक याद रखते हैं। दूसरी ओर जिस विषय को हम रटकर सीखते हैं उनका हमारे जीवन की अन्य घटनाओं के साथ किसी भी प्रकार का साहचर्य स्थापित नहीं हो पाता है। अतः इनकी पुनरावृत्ति होने की सम्भावना भी नहीं रहती है। फलतः इनके स्मृति-चिह्न हल्के रहते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें हम अधिक शीघ्रता से भूलते हैं।

(४) लक्ष्यरहित या निष्क्रिय सीखना (Unintentional or Passive learning)—ऊपर ही जा चुका है कि अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर जिस विषय को सीखने में हमारा कोई उद्देश्य नहीं रहता उस विषय को सीखने की इच्छा नहीं रहती है अतः उसको हम ठीक से नहीं सीखते हैं। इन्हें सीखने में हम ध्यान ठीक से नहीं देते हैं। यहाँ हम इसे सीखने के समय ऐसा नहीं सोचते हैं कि भविष्य में कभी इसे दुहराने की भी आवश्यकता पड़ सकती है। यही कारण है कि हम सीखे हुए विषय का मानसिक पर्यवेक्षण भी नहीं करते हैं। इन्हीं सब कारणों से मस्तिष्क मे इनके द्वारा बने हुए स्मृति-चिह्न कम गहरे रहते हैं और ये दृढ़ भी नहीं हो पाते हैं। फलतः हम उन्हें शीघ्र तथा अधिक भूलते हैं।

(२) 'धारणा-अवधि में पड़नेवाले प्रभाव'
(Factors operating during the retention – interval)

(क) सीखने के पश्चात् आराम नहीं करना अथवा सो नहीं जाना—इस विधि से सीखने पर भी हम अधिक शीघ्रता से भूलते हैं। अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर जरा हम किसी विषय को सीखने के बाद आराम करते हैं अथवा सो जाते हैं तो हम अपेक्षाकृत अधिक याद रखते हैं। इसके

विपरीत याद किये विषय को सीखने के बाद विश्राम नहीं किया जाय तो उस विषय की यादगारी क्रमशः घटती जाती है। 'जेनकिन्स' (Jenkins) तथा 'डैलेनवैच' (Dallenbach) नामक दो मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों द्वारा यह पाया है कि भूलने की क्रिया जितनी पुराने स्मृति-चिह्नों के क्षीण होने के कारण नहीं होती है उससे अधिक पुराने चिह्नों पर नये-नये सीखे हुए विषय से मस्तिष्क के बने स्मृति-चिह्नों के द्वारा बाधा पहुँचने से होती है। जब हम किसी विषय को सीख लेने के बाद सो जाते हैं तो सीखे हुए विषय-द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्नों को दृढ होने का अवसर मिल जाता है।

परन्तु दूसरी ओर जब एक विषय को सीखने के बाद सो नहीं जाते हैं वरन् दूसरे कार्यों में लग जाते हैं तो नये-नये कार्यों द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न सीखे हुए विषय के स्मृति-चिह्न के दृढ़ होने में बाधा पहुँचाते हैं। फलतः हम उन्हें अधिक शीघ्रता से भूल जाते हैं। यह सही है कि जब हम किसी विषय को सीखने के तुरत बाद भी सो जाते हैं तो हम नयी क्रियाओं को नहीं सीखते हैं, फिर भी हमारा स्नायु-मण्डल किसी-न-किसी रूप में सक्रिय रहता है। यही कारण है कि जब हम सोकर उठने के बाद सोने के पहले सीखे हुए विषय का प्रत्याह्वान करते हैं तो उसे भी कुछ अश में भूल जाते हैं। परन्तु सोने के पूर्व सीखे हुए विषय द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न को दृढ़ होने में उतनी बाधा नहीं पहुँचती है जितनी कि सीखने के पश्चात् सोने के बजाय दूसरी क्रियाओ के करने से पहुँचती है।

'प्रयोग' (Experiment)—१० निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची को या सीख लेने के बाद कुछ समय तक प्रयोज्य को एक अवस्था में सोने को दिया गया तथा दूसरी अवस्था में अन्य क्रियाओं में लगाया गया।

फल (Result)—दूसरी अवस्था में पहली अवस्था की अपेक्षा भूलने की मात्रा कहीं अधिक थी। उन्होंने यह भी पाया कि विषय को सीखने तथा उसका प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि में किये गये कार्यों के स्वरूप पर भी भूलने की मात्रा तथा गति निर्भर करती है।

(२) पृष्ठोन्मुख-अवरोध (Retroactive-Inhibition)—इस बात का पता 'मूलर' (Muller) तथा 'पिलजेकर' (Pilzecker) नामक दो मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर लगाया है। उनका कथन है कि अन्य परिस्थियों के समान रहने पर

पृष्ठोन्मुख-अवरोध भूलने का एक प्रमुख कारण है। यहाँ पर सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' किसे कहते हैं। जब हम किसी एक विषय को सीखते हैं तथा उसका प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि, जिसे 'धारणा-अवधि' (Retention-interval) कहा जाता है, में हम एक दूसरे विषय को सीखते हैं तो यह दूसरा विषय पहले सीखे हुए विषय के प्रत्याह्वान मे रुकावट डालता है। इसी रुकावट या अवरोध को 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' की संज्ञा दी जाती है। उपर्युक्त मनोवैज्ञानिकों ने इस पर प्रयोग इस प्रकार किया है—

(१) अवस्था नं० १ (Condition I)—सबक 'क' को सीखना (Learning Task A)—धारणा-अवधि आधा घण्टा जिसमे आराम करना (Retention-interval 1/2 hour)—सबक 'क' का प्रत्याह्वान करना (Recal! of Task A).

(२) अवस्था नं० २ (Condition II)—सबक 'ख' को सीखना जो अपनी कठिनता तथा स्वरूप मे सबक 'क' के समान है (Learning of Task Bwhich is similar in nature and difficulty to Task A)—आधे घण्टे की धारणा-अवधि में अन्य कोई कार्य करना (Doing some other Task during the Retention-interval of 1/2 hour)—सबक 'ख'का प्रत्याह्वान करना (Recall of Task B).

इन दोनों अवस्थाओं में प्रत्याह्वान क्रमशः ५६% तथा २६% हुआ। अर्थात् इन दो अवस्थाओं में जो प्रत्याह्वान की मात्रा म ३०% का अन्तर हुआ, यह पृष्ठोन्मुख-अवरोध क कारण हुआ। दूसरी अवस्था मे पहली अवस्था से ३०% प्रत्याह्वान कम हुआ। अर्थात् दूसरी अवस्था म अपेक्षाकृत भूलना अधिक हुआ। इसका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि जब हम धारणा-अवधि मे अन्य कार्य को करते हैं तो वे पहले कार्य के करने स बने स्मृति-चिह्नों को दृढ़ होने मे बाधा पहुँचाते है तथा उन्हे क्षीण कर देते हैं। फलतः हम इस अवस्था मे अधिक शीघ्रता से उसे भूलते हैं। बहुत हाल ही में 'हॉउलहन' (Houlahan) नामक एक मनोवैज्ञानिक ने एक हजार स्कूल के विद्यार्थियों को 'पच्चीस' (२५) 'क्रियाओं' (Verbs) की एक सूची को याद करने को दिया। फिर उसे २१ मिनट तथा २४ घण्टों के बाद उसका अलग-अलग प्रत्याह्वान करने को कहा। एक अवस्था में उन्हें इस धारणा-अवधि में ७ मिनटों तक कुछ संज्ञाओं को

याद करने को कहा। कुछ लोगों ने 'क्रियाओं' (Verbs) को याद करने के तुरत बाद 'संज्ञाओं' (Nouns) को याद किया, कुछ ने ४ मिनटों के बाद और कुछ ने ८ मिनटों के बाद। उन्होंने अपने प्रयोग द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि किसी भी विषय को सीखने के बाद जब तुरत आराम किया जाय तो उसका स्मृति-चिह्न अधिक टिकाऊ होता है चूँकि आराम करने पर सीखे हुए विषय द्वारा बने स्मृति-चिह्न को दृढ़ होने का अवसर मिल जाता है। साथ-साथ सीखने तथा प्रत्याह्वान करने के बीच में अन्य कार्यों के नहीं करने से पूर्व के स्मृति-चिह्नों में अवरोध नहीं हो पाता है। 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध', 'इण्टरपोलेटेड ऐक्टीभिटी' (Interpolated Activity) की 'मात्रा' (Degree), के 'स्वरूप' (Nature), तथा इसके 'टेम्पोरल लोकेशन' (Temproal Location) या 'बीतते हुए समय मे स्थान' आदि पर निर्भर करता है। जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

(घ) **संवेग उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियाँ** (Emotion provoking situations)—'हॉर्डन' (Harden) ने अपने प्रयोग द्वारा यह बतलाया है कि किसी भी विषय को सीखने और उसके प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि में यदि किसी भी प्रकार की संवेगात्मक परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो व्यक्ति सीखे हुए विषय मे से अधिकांश को भूल जाता है। उन्होंने प्रयोग (Experiment) इस प्रकार किया था।

'हॉर्डन का प्रयोग'—एक अन्धकारमय कमरे में थोड़ा-सा प्रकाश कर कुछ कालेज के विद्यार्थियों को कुछ निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची को याद कराया। फिर कुछ हास्यपूर्ण घटनाओं का वर्णन उन्हे पढने को दिया पर इसमे कोई ऐसा नहीं था जो बहुत ज्यादा हँसी उत्पन्न कर दे। इसके बाद पूर्व सीखे हुए निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची का प्रत्याह्वान करने को कहा। दूसरी अवस्था में एक शब्द-खण्डों की सूची को याद करने के पश्चात् अचानक एक विशिष्ट प्रकार का संवेगात्मक धक्का उन्हे पहुँचाया। जैसे—जिस कुर्सी पर वे बैठे हुए थे उसका पीछे का हिस्सा हट गया जिसके कारण वे गिर गये, या उनकी बाँह मे बिजली का धक्का लगाया गया या अचानक पिस्तौल की आवाज की गई या एकाएक बत्ती बुझाकर पूर्णरूपेण अन्धकार कर दिया गया आदि। इन सबके पश्चात् जब उन्हें सीखे हुए निरर्थक शब्द खण्डों की सूची का प्रत्याह्वान करने को कहा गया तो यह पाया गया कि पहली अवस्था में दूसरी अवस्था के अपेक्षाकृत जब उन्हें

संवेगात्मक धक्का पहुँचाया गया था तो पूर्व सीखे हुए निरर्थक शब्द-खण्डों की सूचियों में से कम ही को वे भूल गये। अर्थात् संवेगात्मक धक्का (Emotional shock) पहुँचाने की अवस्था में भूलने की मात्रा अधिक थी तथा साथ-साथ यह अधिक शीघ्रता से भी होती पाई गई थी। भूलने की मात्रा बहुत हद तक संवेगात्मक धक्के की तीव्रता पर निर्भर करती है। अधिक तीव्र संवेगात्मक अवस्था में कम तीव्र संवेगात्मक अवस्था के अपेक्षाकृत भूलने की मात्रा काफी अधिक थी। किसी-किसी व्यक्ति में तो यहाँ तक पाया गया कि पूर्व सीखे हुए निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची में से प्रत्येक को वह एकदम भूल गया। इस तरह स्पष्ट है कि 'धारणा-अवधि' (Retention-interval) मे यदि किसी प्रकार का सवेगात्मक धक्का व्यक्ति को पहुँचता है तो वह बहुत ही शीघ्र तथा बहुत ही अधिक मात्रा में पूर्व सीखे हुए विषयों को भूल जाता है। अतः संवेगात्मक धक्का पहुँचना भी भूलने का एक प्रमुख कारण है।

(ङ) 'शौक ऐमनेसिया' (Shock amnesia)—यदि किसी भी विषय को सीखने के वाद जोरों की मानसिक चोट पहुँचती है तो मनुष्य अपने पूर्व सीखे हुए विषयों को भूल जाता है। किसी-किसी स्थिति में तो यहाँ तक पाया गया है कि व्यक्ति यह भी भूल जाता है कि वह कौन है, उसका नाम क्या है और वह कहाँ का रहनेवाला है। जैसे—'हिस्ट्रीया' (Hysteria) नामक मानसिक रोग से पीड़ित किसी-किसी व्यक्ति में यह बात पायी जाती है। पर एक बात यहाँ स्मरण रखने योग्य यह है कि यह मानसिक चोट की मात्रा पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

(च) मानसिक एवं शारीरिक बीमारियाँ (Mental or Physical diseases)—यदि किसी विषय को सीखने के पश्चात् मनुष्य को कोई मानसिक बीमारी हो जाती है तो वह अपने पहले के सीखे हुए विषयों म मे अधिकांश को भूल जाता है चूँकि उसका मानसिक सन्तुलन खो जाता है।

ठीक इसी प्रकार यदि व्यक्ति सीखने के पश्चात् किसी भयंकर शारीरिक रोग से पीड़ित हो जाता है, जिसके कारण उसका शरीर दुर्वल हो जाता है तब भी वह पूर्व के सीखे हुए विषयों में से अधिकांश का प्रत्याह्वान नहीं कर पाता है। कारण यह है कि शरीर और मन (Body & Mind) में एक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जब शरीर भी रोग होने के कारण दुर्वल हो जाता है तब इसका प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है और जिसके फलस्वरूप स्मृति-चिह्न कमजोर पड़ जाते हैं। यही कारण है कि ऐसी

अवस्था मे व्यक्ति अपने पहले के सीखे हुए विषयों में से अधिकांश को भूल जाता है।

(छ) थकावट (Exhaustion)—किसी भी विषय को सीखने के बाद जब हमे किसी भी प्रकार के मानसिक या शारीरिक कार्य करने से थकावट हो जाती है तो उस अवस्था मे यदि हम पहले सीखे हुए विषय का प्रत्याह्वान करना चाहे तो उसमें से अधिकांश को नहीं कर सकते हैं। कारण यह है कि चूँकि हम सीखने के पश्चात् आराम न करने की जगह अपने को अन्य शारीरिक या मानसिक कार्यों मे लगाते हैं तो पहले के सीखे हुए विषय का स्मृति-चिह्न दृढ़ नहीं हो पाता है, फलतः हम अधिक भूलते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि शरीर और मन मे गहरा सम्बन्ध है, इसलिए शारीरिक थकावट होने पर भी इसका असर मस्तिष्क पर पड़ता है। परिणामस्वरूप स्मृति-चिह्न दृढ़ होने की जगह दुर्बल होते जाते हैं।

(ज) मस्तिष्क में चोट (Brain injury)—शरीर-शास्त्रज्ञों (Physiologists) ने अपने अध्ययनों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि किसी विषय को सीखने के बाद यदि प्राणी के मस्तिष्क मे चोट पहुँचने के कारण कोई क्षति पहुँचती है तो वह अपने पहले के सीखे हुए विषयों में से अधिकांश को भूल जाता है। किसी-किसी स्थिति में तो भूतकाल की सारी बातें वह एकदम भूल जाता है। उन्होंने बतलाया है कि इसका कारण यह है कि मस्तिष्क मे चोट पहुँचने के कारण पूर्व के सीखे हुए या अनुभव की गयी बातों का जो स्मृति-चिह्न मस्तिष्क मे बना रहता है वह बहुत ही अंश में नष्ट हो जाता है (Brain traces are damaged and as such obliterated.)

(३) प्रत्याह्वान करने के समय प्रभावित करनेवाली बातें
(Factors operating at the time of recall)

(क) समान विषयों की स्मृति से बाधा (Blocking by the memorization of the similar materials)—मान लीजिए कि हम अभी अपने एक मित्र के नाम का प्रत्याह्वान करना चाहते हैं जिसका नाम कामेश्वर है, परन्तु यह नाम हमें याद नहीं आ पा रहा है। ऐसी अवस्था मे साधारणतः यह पाया जाता है कि हमें कामेश्वर से मिलते-जुलते दूसरे नाम जैसे भुवनेश्वर, दिनेश्वर, राजेश्वर आदि याद

पड़ें। हमारे उपर्युक्त अन्य मित्रों के नाम जिन्हें हम पहले से जानते हैं वे नाम हमारे मित्र कामेश्वर के नाम का प्रत्याह्वान करने में बाधा डालते हैं।

(ख) गलत मानस-स्थिति या वृत्ति (Wrong mental set)—यदि हम अभी अपने मित्र मोहन के नाम का प्रत्याह्वान करना चाहते हैं और हमारे मन मे पहले से ही यह बात चली आती है कि उसका नाम 'र' अक्षर मे आरम्भ होता है तो निश्चित रूप से हम उसके नाम का सही प्रत्याह्वान करने में असफल होंगे। उस समय इस गलत मानसिक-स्थिति के कारण हमें ऐसे ही नाम याद पड़ते हैं जिनका आरम्भ 'र' अक्षर से होता है। जैसे—रवीन्द्र, रमेश, राजेश्वर आदि। चूँकि हमारे मस्तिष्क में पहले से ये बातें बैठी हैं कि 'र' अक्षर से ही हमारे मित्र का नाम शुरू होता है इसीलिए हमारी चेतना में 'म' अक्षर से शुरू होनेवाले नाम आते ही नहीं। फलतः हम मोहन के नाम का प्रत्याह्वान नहीं कर पाते हैं।

(ग) प्रत्याह्वान करने की इच्छा का अभाव (Lack of intention to recall)—किसी विषय का प्रत्याह्वान करने के समय यदि उसका प्रत्याह्वान करने की हमारी चेतन अथवा अचेतन इच्छा नहीं हो तो हम उसका प्रत्याह्वान कदापि नहीं कर पा सकेंगे।

इस तरह उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि भूलने के कई एक कारण हैं।

परन्तु हम सभी कारणों को साधारणतः दो मुख्य भागों में बाँट सकते हैं—(क) 'पूर्व सीखे हुए विषय के द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्नों का क्षीण होना' (Fading of memory traces) तथा (ख) 'एक सीखे हुए विषय के द्वारा मस्तिष्क म बने स्मृति-चिह्नों का दूसरे विषयों से बने स्मृति-चिह्नों द्वारा रुकावट डालना'।

(क) पूर्व सीखे हुए विषय द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्नों का क्षीण होना—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि स्मृति-चिह्न बिल्कुल क्षीण होते है या नहीं ? (Do memory traces fade completley)।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि स्मृति-चिह्न 'काल-व्यवधान' के कारण पूर्णरूपेण क्षीण हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत दूसरे मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि कोई भी स्मृति-चिह्न कभी भी पूर्णरूपेण क्षीण नहीं होता है। परन्तु इसकी प्रत्यक्ष जाँच सम्भव नहीं है। फिर भी

ऐसे बहुत से सबूत हैं जिनके आधार पर हम उपर्युक्त विचार का समर्थन भी कर सकते हैं। जैसे—ऐसी अवस्था भी प्रायः देखी जाती है कि जब हम सीखी हुई बातों का न तो प्रत्याह्वान कर सकते, न उनकी प्रतिभिज्ञा हमे हो पाती है। फिर भी क्या हम कह सकते हैं कि उन सीखी हुई बातों से उत्पन्न स्मृति-चिह्न सर्वथा लुप्त हो गया है? 'सम्मोहनावस्था' (Hypnosis) में प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि व्यक्ति बहुत-सी ऐसी बातों का फिर से प्रत्याह्वान कर पाता है जिसे वह अपनी चेतनावस्था में न दुहरा ही सकता था न उनको पहचान ही सकता था। यदि हमारे स्मृति-चिह्न पूर्णतः लुप्त हो गये होते तो सम्मोहनावस्था में भी उनका प्रत्याह्वान सम्भव नहीं था। अस्तु, कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि कोई भी स्मृति-चिह्न पूर्णतः लुप्त नहीं होता है।

(ख) एक सीखे हुए विषय द्वारा मस्तिष्क मे बने स्मृति-चिह्न पर दूसरे विषय से बने स्मृति-चिह्न द्वारा रुकावट डालना—

रुकावट डालनेवाली बात अधिकतर 'धारणा-अवधि' (Retention-interval) में तथा प्रत्याह्वान करने के समय लागू होती है।

हम कभी-कभी उस विषय अथवा अनुभूति का भी प्रत्याह्वान नहीं कर पाते हैं जिसे बहुत हाल ही में सीखा है या अनुभव किया है। यह इसलिए नहीं होता है कि उनके द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न क्षीण हो गये हैं, वरन् इसलिए होता है कि उस विषय से मिलते-जुलते विषयों एवं अनुभूतियो का स्मृति-चिह्न जो हमारे मस्तिष्क में पहले से है या जो इस विषय के सीखने एवं अनुभव करने के बाद बने हैं वे उसका सही-सही प्रत्याह्वान करने मे रुकावट डालते हैं और जब कुछ समय के लिए हम उनका प्रत्याह्वान करना छोड़ देते हैं तो रुकावट डालनेवाले स्मृति-चिह्नों मे रुकावट डालने की शक्ति धीरे-धीरे कम जाती है। अतः वे रुकावट नहीं डालते हैं और थोड़ी देर बाद उस विषय का, जिसका हम प्रत्याह्वान करना चाहते हैं, करने में समर्थ हो पाते हैं।

भूलने के कारणों का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट हो गया है कि पृष्ठोन्मुख-अवरोध के कारण भी हम किसी पूर्व सीखे हुए विषय अथवा अनुभव की गयी घटना का पूर्णरूप से सही-सही प्रत्याह्वान नहीं कर पाते हैं। अर्थात् किसी विषय को सीखने तथा उसका प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि में अन्य सीखे गये विषयों या किये गये कार्यों से

बने स्मृति-चिह्न पूर्व सीखे हुए विषय का प्रत्याह्वान करने में रुकावट डालते हैं।

अतः देखते हैं कि रुकावट डालने की क्रिया 'धारणा-अवधि' तथा 'प्रत्याह्वान करने के समय', इन दोनो अवस्थाओं में होती है।

'स्मृति-शिक्षण'
(Memory Training)

हम अपने सीखे हुए विषयों में से अधिकांश को भूल जाते हैं जिनके अनेक कारण हैं और उनका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। यह तो ठीक है कि भूल जाने की कुछ उपयोगिताएँ भी हैं, जैसे—यदि हम अपने जीवन के दुःखद तथा कष्टदायक घटनाओं को भूल जाते हैं तो हमारा मानसिक सन्तुलन नहीं खोता है। इसके साथ-साथ जब हम पुरानी बातों को भूलते जाते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनके द्वारा मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न क्रमशः क्षीण पड़ते जाते हैं जिनके फलस्वरूप हमें नई घटनाओं को सीखने का अवसर मिल पाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यदि मनुष्य सीखी हुई बातों को भूले नहीं तो वह नई बातों को सीख ही नहीं सकता है। पर इसका यह मतलब नहीं हुआ कि हम अपने पहले के सीखे हुए सभी विषयों तथा घटनाओं को सदा भूल ही जाते हैं। बहुत-सी ऐसी घटनाएँ रहती हैं जिनका भूल जाना हमारे लिए बहुत ही हानिकारक होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण विषयों एवं घटनाओं को अधिक मात्रा तथा ज्यादा अवधि तक याद रक्खें, तब ही हमारे लिए वे लाभप्रद सिद्ध होंगी। इसके लिए अच्छी स्मृति का होना आवश्यक है। पर स्मृति को अच्छी कैसे बनायी जाय? जैसा कि 'स्मृति' के अध्याय के प्रारम्भ में ही ऊपर स्पष्ट कर दिया जा चुका है कि स्मृति कोई मांसपेशी (Muscle) नहीं है जिसको कि मजबूत बनाया जा सकता है, परन्तु मनोवैज्ञानिकों ने यह अवश्य बतलाया है कि यदि भूलने के जो-जो कारण हैं उनको हम यथासम्भव दूर कर सकने की कोशिश करें तो हमारी स्मृति बहुत हद तक अच्छी हो सकती है अर्थात् हम कम भूल सकते हैं। पर इन बातों का उल्लेख करने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि अच्छी स्मृति से हमारा क्या मतलब है।

(क) अच्छी स्मृति किसे कहते हैं ?
(What is good memory ?)

कुछ लोगों का यह कहना है कि अच्छी स्मृति उसे ही कहेंगे जब कि सीखे हुए विषयों और अनुभव की हुई घटनाओं को हम भली-भाँति अपने मस्तिष्क में धारण कर सकें। पर ऐसा कहना उचित नहीं, चूँकि कभी-कभी ऐसा पाया गया है कि हम जिस विषय को धारण किये रहते हैं उसका प्रत्याह्वान इच्छित समय पर नहीं कर पाते हैं। परन्तु बाद मे जब उनकी याद करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है तब उनका प्रत्याह्वान आप-से-आप हो जाता है। जैसे—प्रायः यह प्रत्येक छात्र का अनुभव है कि परीक्षा-भवन में प्रश्नों के उत्तर लिखते समय उन्हें बहुत-सी आवश्यक बातें याद नहीं पड़ती हैं, परन्तु परीक्षा-भवन से निकलने के बाद उन्हें अचानक वे बातें याद पड़ जाती हैं। परीक्षा-भवन में प्रश्नोत्तर भूल जाने का यह अर्थ नहीं था कि उस छात्र के मस्तिष्क मे पठित विषय की कोई धारणा ही नहीं रह गई थी।

यदि हम अच्छी स्मृति से धारण करने की क्रिया को ही मानते हैं, तो प्रत्याह्वान नहीं होने पर भी हम कह सकते हैं कि हमारी स्मृति अच्छी है, परन्तु ऐसा कहना पूर्णतः ठीक नहीं है। सिर्फ अच्छी तरह धारण करने की क्रिया को ही हम अच्छी स्मृति की संज्ञा नहीं दे सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण को ही ले लें। छात्र को परीक्षा-भवन में प्रश्नोत्तर का प्रत्याह्वान नहीं होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उनके मस्तिष्क मे उसकी कोई धारणा है ही नहीं चूँकि यदि ऐसी बातें होती तो परीक्षा-भवन स बाहर आने पर उन्हे अचानक उन्हीं प्रश्नों के उत्तर याद नहीं पड़ते। फिर भी हम इसे अच्छी स्मृति की संज्ञा नहीं दे सकते हैं। अच्छी स्मृति उसी को कहेंगे जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हों।

(ख) 'अच्छी स्मृति की विशेषताएँ'
(Characteristics of Good Memory)

(१) शीघ्रता से एव आसानी से याद हो जाना (Quick and Easy recall)—किसी पाठ्य-विषय को शीघ्रता एवं आसानी से सीख लेना भी अच्छी स्मृति का लक्षण है।

(२) देर तक याद रहना (Long retention)—यदि किसी सीखे हुए विषय को हम अधिक दिनों तक याद रखते हैं तो कह सकते हैं कि उस विषय की हमारी स्मृति अच्छी है।

(३) अधिक-से-अधिक मात्रा में याद रहना (Maximum retention)—सीखे हुए विषय को सिर्फ अधिक दिनों तक याद रहने को ही हम अच्छी स्मृति नहीं कहेंगे, बल्कि इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इनकी मात्रा भी अधिक होनी चाहिए। अर्थात् पूर्व सीखे हुए विषय में से जितनी अधिक बातों का प्रत्याह्वान हम आवश्यकतानुसार ठीक-ठीक कर सकते हैं उतनी ही हमारी स्मृति अच्छी कही जायगी।

(४) समय पर आसानी से याद पड़ना (Easy and Timely recall)—अच्छी स्मृति की चौथी विशेषता यह है कि पूर्व सीखे हुए विषय का हम अपनी आवश्यकतानुसार समय पर प्रत्याह्वान कर सकें, अन्यथा उन विषयों की स्मृति से हमें कोई लाभ नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ—यदि किसी विद्यार्थी को परीक्षा के समय पूर्व सीखे हुए विषयों का प्रत्याह्वान नहीं हो पाता है, वरन् परीक्षा-भवन से निकलने पर उसका प्रत्याह्वान होता है तो उसकी स्मृति उस विषय के बारे में अच्छी नहीं कही जायेगी। चूँकि उपयुक्त समय के बीत जाने के कारण उसके लिए इस प्रत्याह्वान की उपयोगिता नहीं रह जाती है।

(५) ठीक-ठीक याद पड़ना (Correct recall)—किसी भी विषय के ठीक-ठीक अथवा सही-सही याद पड़ने को ही अच्छी स्मृति कहते हैं। ठीक-ठीक अथवा सही-सही याद पड़ने का यह अर्थ हुआ कि जो विषय जैसा पढ़ा अथवा सीखा जाय वैसा ही उसका प्रत्याह्वान होना चाहिए। जैसे यदि हमने पढ़ा है कि गाँधीजी का जन्म अक्टूबर, सन् १८६९ में हुआ था और यदि हम यह प्रत्याह्वान करें कि उनका जन्म जनवरी १८६६ मे हुआ तो इसे गलत प्रत्याह्वान कहेंगे। इसका ठीक-ठीक प्रत्याह्वान तब ही होगा जब हम यह कहें कि गाँधीजी का जन्म अक्टूबर सन् १८६९ में हुआ था।

(घ) स्मृति को अच्छी कैसे बनायी जाय ?
(How to improve memory ?)

अच्छी स्मृति निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है—

(१) सीखने की इच्छा का होना (Will to learn)—जब हममे किसी भी विषय को सीखने की इच्छा नहीं रहती है तो हम उस पर ठीक

से ध्यान नहीं देते हैं। अतः हम उसे अच्छी तरह नहीं सीख पाते हैं। फलतः उनसे हमारे मस्तिष्क में बने स्मृति-चिह्न दृढ़ नहीं हो पाते हैं और उन्हें हम शीघ्र भूल जाते हैं। जैसे—यदि कोई शिक्षक वर्ग में पढ़ा रहे हों तो जिस विद्यार्थी में उनके द्वारा बताई गई बातों को जानने की इच्छा रहेगी, वह उस पर अधिक ध्यान देगा तथा ठीक से सीखेगा और जिसमें इच्छा नहीं रहेगी वह उस पर ध्यान कम देगा और ठीक से नहीं सीखेगा। फलतः बाद में यदि दोनों को जिसमे सीखने की इच्छा थी और जिसमें नहीं थी, शिक्षक द्वारा बतलायी गयी बातों का प्रत्याह्वान करने को कहा जाय तो जिसने इच्छानुकूल सीखा है वह अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उसका प्रत्याह्वान कर पायेगा। अर्थात् उसमें भूलने की मात्रा कम होगी।

(२) **ठीक से ध्यान देकर सीखना और समझकर सीखना** (Learning with care and understanding)—जब किसी भी पाठ्य-विषय को सीखने की इच्छा हममें रहती है तो यह स्वाभाविक है कि हम उस पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। ऊपर दिये हुए उदाहरण को ही हम लें तो हम पायेंगे कि जिस विद्यार्थी ने शिक्षक द्वारा बतायी गई बातों पर पूरा-पूरा ध्यान दिया है, वह एकाग्रचित्त होकर शिक्षक के द्वारा बतलायी गयी बातों को सुनेगा तथा समझने का प्रयास करेगा। उसमें कौन-सी बातों की मुख्यता है, तथा किनकी नहीं, यह सब समझेगा। साधारणतः यह बात सभी के साथ पायी जाती है कि जब हम किसी पाठ्य-विषय को समझकर सीखते हैं तो इसे अधिक दिनों तक याद रखते हैं अर्थात् हम इसे कम भूलते हैं। किसी विषय को समझने के लिए यह अति आवाश्यक है कि हम उस पर पूरा-पूरा ध्यान दें।

(३) **यथासम्भव सीखने के समय मानसिक प्रतिमाओं का उपयोग करना** (To make use of mental images as far as practicable at the time of learning)—यदि हम किसी व्यक्ति को अधिक दिनों तक याद रखना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को ठीक से देखें, उसकी शारीरिक बनावट पर ध्यान दें। जैसे—उसकी आँखें कैसी हैं, चेहरा कैसा है, रंग कैसा है, बाल कैसे हैं, कद कैसा है तथा कपड़ा कैसा पहने हुए है, चलता कैसे है, बोलता कैसे है आदि। इन सब चीजों की 'दृष्टि' एवं 'श्रवण' प्रतिमाएँ हमारे मस्तिष्क में बनकर स्मृति-चिह्नों के रूप में रह जाती हैं और इसकी मदद से आगे चलकर जब वे चीजें हमारे सामने नहीं भी रहती हैं तब भी उसके बारे में

पूछने पर हम उसका सही-सही प्रत्याह्वान कर पाते हैं। जितनी अधिक प्रतिमाएँ हमारे मस्तिष्क में उसके बारे में रहेंगी उतनी ही अधिक हममें समयानुकूल ठीक-ठीक प्रत्याह्वान करने की सम्भावना होगी। ये प्रतिमाएँ हमें उसका प्रत्याह्वान करने में मदद पहुँचाती हैं। (Images serve as aids in recall). इसीलिए कहा गया है कि यदि हम किसी व्यक्ति अथवा विषय को अधिक दिनों तक याद रखना चाहें तो यह आवश्यक है कि उनकी हम अधिक-से-अधिक मानसिक-प्रतिमाएँ (Mental image) बना लेने की चेष्टा करें।

(४) साहचर्य का उपयोग करना (To make use of association)—इसका अर्थ हुआ कि नये सीखे हुए विषयों का पहले से सीखे हुए विषयों के साथ यथासम्भव सम्बन्ध स्थापित कर लेना। ऐसा करने से नई बातों को हम शीघ्र तथा आसानी से सीख जाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उन्हें अधिक दिनों तक याद भी रख पाते हैं।

उदाहरण के लिए यदि हमें निरर्थक शब्द-खण्डों की एक सूची को याद करना है, जैसे—ZUL, NIM, LUK, RAH, DEK, SUF आदि। यदि हम इन्हें रटकर याद कर लेते हैं तो बहुत सम्भव है कि थोड़े ही दिनों के बाद हम इन्हें भूल जायँ, पर यदि हम उनका साहचर्य किसी पूर्व सीखे हुए शब्दों के साथ स्थापित कर सीखें तो अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक इन्हें याद रख सकते हैं। जैसे—DEK का साहचर्य जहाज ठहरने के 'डौक' से, NIM का 'नीम' के पेड़ से, SUF का 'साफ से', RAH का 'राह' से ZUL का 'जल' से और LUK का 'लक' (भाग्य) से स्थापित कर सीखें तो इन्हें जल्द भी याद कर लेंगे तथा बहुत दिनों तक हम इन्हें याद रख सकते हैं।

(५) पूर्ण रीति से सीखना (To learn by whole method)—मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि किसी भी पाठ्य-विषय को 'पूर्णरीति' से सीखना, उसे 'अपूर्णरीति' (Part method) से सीखने के बनिस्वत अधिक लाभप्रद है चूँकि पूर्णरीति से सीखे हुए विषयों को हम समझकर सीखते हैं। इसके विभिन्न अंगों में क्या सम्बन्ध है, उसको भी समझते हैं, पर अपूर्णरीति से सीखने में प्रायः इन सब बातों का अभाव जैसा रहता है। परिणाम-स्वरूप 'पूर्णरीति' (Whole method) द्वारा सीखे गये पाठ्य-विषय प्रायः अधिक याद रह पाते हैं।

(६) विराम रीति से सीखना (Spaced or Distributed Learning)—सीखने की विधियों के ऊपर प्रकाश डालते समय स्पष्ट कर दिया गया है कि 'विराम रीति' से सीखे हुए विषयो को हम अधिक दिनो तक याद रख पाते हैं।

(७) सीखे हुए विषय की पुनरावृत्ति करना (To repeat the material learnt)—सीखे हुए विषय को वार-वार दुहराना चाहिए। इससे उस विषय की स्मृति दृढ़तर होती जाती है। फलतः उनकी स्मृति भी अच्छी वनी रहती है। पुनरावृत्ति के द्वारा सीखे हुए विषय को हम अत्यधिक रूप से सीख लेते हैं।

(८) सीखने के बाद तुरत दूसरे विषय को नहीं पढ़ना, बल्कि थोड़ा आराम करना और आराम करने के समय पठित विषय का मानसिक पर्यवेक्षण भी करते रहना (To take rest after learning, and also to rehearse the material learnt)—ऐसा करने से 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' (Retroactive-inhibition) नहीं होता है। यदि आराम नहीं करने का अवसर मिले तो पूर्व पठित-विषय की ही तरह दूसरे विषय को, जैसे—इंगलैण्ड का इतिहास पढने के वाद तुरत भारत का इतिहास नहीं पढ़ना चाहिए। पर यदि हिन्दी पढ़ी जाय तो उतना 'पृष्ठोन्मुख-अवरोध' नहीं होगा जितना कि भारत का इतिहास पढ़ने से होगा।

(९) सीखने के पश्चात् समय-समय पर अक्सर पठित विषयों का मानसिक पर्यवेक्षण करना तथा भूलने पर तुरत उसे देख लेना अर्थात् उसका आवृत्ति-करण करना (To make use of Recitation and Revision method)—किसी भी विषय को सीखने के बाद उसका मानसिक पर्यवेक्षण जितना अधिक किया जायगा उतनी ही अधिक उसकी स्मृति भी स्पष्ट और टिकाऊ होगी।

(१०) 'लय' का सहारा लेकर सीखना (To make use of rhythm at the time of learning)—सार्थक बातों को सीखने के अपेक्षाकृत यह बात निरर्थक बातों को सीखने में अधिक लाभप्रद होती है। चूँकि ऐसा करने से निरर्थक बातों में भी एक प्रकार की सार्थकता आ जाती है, अतः इन्हें हम ठीक से सीख पाते हैं और इस प्रकार इनकी स्मृति भी अच्छी रहती है।

(११) किसी भी विषय को एक विशिष्ट लक्ष्य से सीखना तथा उनका सम्बन्ध जीवन के विभिन्न पहलुओं से स्थापित करना (To learn with

a definite aim and to associate the material learnt with different aspects of life)—प्रायः जिन विषयों का सम्बन्ध हमारे जीवन की आवश्यकताओं से जितना ही अधिक रहता है तथा जिससे हमारा कुछ अभिप्राय भी सिद्ध होता है उनको हम अक्सर नहीं भूलते, चूँकि वे सदा हमारे साहचर्य में किसी-न-किसी रूप में सदा आते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि हम उन्हें अत्यधिक रूप से सीख जाते (Overlearn) हैं। जैसे—हम अपने परिवार के व्यक्तियों का नाम तथा खाद्य-पदार्थों का नाम एवं जीवन-लक्ष्य से सम्बन्धित अन्य बातों को सदा याद रखते हैं।

(१२) **तेजी से नहीं सीखना** (To avoid speedy learning)—प्रयोग द्वारा यह पता चला है कि जिन बातों को हम बहुत तेजी से सीखते हैं उन्हें बहुत जल्द भूल जाते हैं और जिन्हें अपेक्षाकृत धीरे-धीरे, किन्तु ठीक से सीखते हैं उनकी स्मृति अच्छी रहती है।

स्मृति में सुधार लाने के लिए ऊपर जिन तरीकों का उल्लेख किया गया है उनसे यह नहीं समझना चाहिए कि हमारी स्मृति का सुधार प्रत्येक विषय के क्षेत्र मे सम्भव है। एक व्यक्ति सारे विषयों को अच्छी तरह सीख भी नहीं सकता है क्योंकि सीखने की क्रिया बहुत हद तक वंशानुक्रम; व्यक्ति के द्वारा अर्जित मनोवृत्ति, अभिरुचि एवं सीखने की विधियाँ आदि पर निर्भर करती है। चूँकि वंशानुक्रम मे सुधार एवं परिवर्तन लाना असम्भव जैसा है, अस्तु हम सिर्फ व्यक्ति की मनोवृत्ति, अभिरुचि, पाठन-विधियाँ आदि को ध्यान में रखते हुए केवल कुछ ही विषयों से सम्बन्धित स्मृति में सुधार ला सकते हैं। जिस विषय को सीखने की योग्यता व्यक्ति में है ही नहीं उस विषय की स्मृति अच्छी बनाने का प्रश्न उठता ही नहीं चूँकि जैसा आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि 'सीखना' स्मृति का प्रथम अंग ((Factor) है।

अतः हम उस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्मृति का सुधार सिर्फ उन्हीं विषयों के क्षेत्र मे सम्भव है जिन विषयों को सीखने की योग्यता व्यक्ति में है। अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेष के लिए कुछ विषयों को छोड़कर प्रायः अन्य सभी विषयों की स्मति में सुधार लाना असम्भव जैसा है।

'भूलने की उपयोगिताएँ'
(Uses of Forgetting)

साधारणतः लोग कहते हैं कि भूलने की कोई उपयोगिता नहीं है परन्तु बात ऐसी नहीं है चूँकि भूलने की भी निम्नलिखित उपयोगिताएँ हैं—

(१) हमारे जीवन की कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनको भूल जाने से ही हमारा मानसिक सन्तुलन (Mental equilibrium) बना रहता है और हम अपने जीवन से सम्बन्धित परिस्थितियों से सफल अभियोजन करने में समर्थ हो पाते हैं। जैसे—दुःखद घटनाओं को भूल जाने में ही लाभ है। जैसा कि भूलने के कारणों पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 'दमन' करना (Repression) भी भूलने का एक प्रमुख कारण है। इससे हमारे इस अभिप्राय की पूर्त्ति होती है कि हम इसके द्वारा अपने जीवन की उन दुखद एवं अप्रिय घटनाओं को भूल जाते हैं जिनको अपनी चेतना में (Consciousness) रखने से हमें अत्यधिक मानसिक कष्ट (Mental trouble) होता है।

(२) यदि हम जो भी एक बार सीख लें उसे कभी भी नहीं भूलें तो यह हमारे लिए लाभप्रद होने की जगह हानिकारक ही होगा। हम कुछ ऐसी बातें सीख लेते हैं या यह कहा जाय कि हमारी कुछ ऐसी आदतें बन जाती हैं जो 'व्यक्ति' (Individual) एवं 'समाज' (Society) दोनों के दृष्टिकोण से गलत एवं बुरे हैं। यदि हम इन बुरी एवं गलत आदतों या बातों को भूल नहीं जायँ तो ये हमारे लिए बहुत ही अधिक हानिकारक होंगी। साथ-साथ बिना उनको भूले हम उनकी जगह सही तथा अच्छी बातों को नहीं सीख सकते हैं और अच्छी आदतों का निर्माण भी नहीं हो सकता है। (Breaking up of wrong habits is essential otherwise good habits can not be developed).

(३) जब हम कुछ पूर्व सीखी हुई बातों को भूल जाते हैं तो इसका यह अर्थ हुआ कि उनके द्वारा मस्तिष्क में जो स्मृति-चिह्न बने हुए थे वे अधिकांश क्षीण पड़ गये हैं। परिणामस्वरूप वे नई-नई बातों या विषयों को सीखने तथा उनके द्वारा मस्तिष्क में स्मृति-चिह्न बनने का मौका देते हैं (The obliteration of old traces makes room for new ones).

———

बारहवाँ अध्याय

प्रतिमा और साहचर्य

(Imagery and Association)

भूमिका—प्रतिमा का स्वरूप—प्रत्यक्ष और प्रतिमा में अन्तर।

प्रतिमा के प्रकार—दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद और गति प्रतिमाएँ तथा अनुबिम्ब, प्रत्यक्ष-प्रतिमा, स्मृति-प्रतिमा और काल्पनिक-प्रतिमा।

साहचर्य—साहचर्य के नियम—प्रधान तथा सहायक नियम।

प्रधान नियम—समीपता, समानता तथा विरोध का नियम।

सहायक नियम—प्राथमिकता, आसन्नता, बारम्बारता तथा स्पष्टता का नियम।

किसी भी वस्तु अथवा परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वह वस्तु अथवा परिस्थिति हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आवे। इस सम्पर्क के फलस्वरूप हमारे मस्तिष्क में जो चित्र अंकित होते हैं उन्हें 'प्रत्यक्ष' कहा गया है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि उस पूर्व अनुभव किये वस्तु अथवा परिस्थिति के अभाव में भी उसका चित्र हमारे मानस-पटल पर आ जाता है। इस मानचित्र को 'प्रतिमा' की संज्ञा दी गई है। प्रतिमाओं का हमारे जीवन में एक प्रमुख स्थान है। प्रतिमाओं की सहायता से ही हम अपनी पूर्व अनुभूतियों का प्रत्याह्वान करने में समर्थ होते हैं। यह तो दसवें अध्याय में स्पष्ट ही कर दिया गया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतिमाओं के अभाव में 'चिंतन-क्रिया' का होना सम्भव ही नहीं। इसपर हम बारहवें अध्याय में आगे प्रकाश डालेंगे।

फिर 'कल्पना' में भी प्रतिमाओं का सहयोग व्यक्ति लेता है।

'प्रतिमा' और 'साहचर्य' मे निकट सम्बन्ध है। पूर्व अनुभूतियों का प्रत्याह्वान करने में 'प्रतिमा' और 'साहचर्य' दोनों का हाथ रहता है। साहचर्य की मदद से हम दो प्रतिमाओं में सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं और आगे चलकर एक प्रतिमा के मस्तिष्क में आने से ही दूसरे का भी प्रत्याह्वान हो जाता है। साहचर्य के अनेक नियम हैं जो इसमें बहुत ही मदद पहुँचाते हैं।

अब हम नीचे इनपर विस्तार में प्रकाश डालेंगे।

'प्रतिमा का स्वरूप'
(Nature of Image)

वाह्य मौलिक उत्तेजना विशेष (External original stimulus) के अभाव में भी कभी-कभी मनुष्य उसका मानचित्र (Mental picture) प्राप्त करता है। ऐसे प्राप्त मानचित्र को 'प्रतिमा' की संज्ञा दी जाती है। प्रतिमा 'प्रत्यक्ष एवं अनुप्रतिमा या अनुविम्ब' (After-image) से भिन्न है। प्रतिमा में वातवरण में उपस्थित उत्तेजना का अभाव होता है। उत्तेजना के न रहने पर भी उत्तेजना का एक मानचित्र मनुष्य को प्राप्त होता है जिसे प्रतिमा कहते हैं।

परन्तु 'प्रत्यक्ष' में उत्तेजना वातावरण में उपस्थित होता है जिसका प्रत्यक्षीकरण मनुष्य को हतोा है। इसके फलस्वरूप उस उत्तेजना का एक मानचित्र मनुष्य के मस्तिष्क में पड़ता है। ऐसे प्राप्त मानचित्र को 'प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी जाती है। एक तीसरी मानसिक क्रिया जो बहुत कुछ 'प्रतिमा एवं प्रत्यक्ष' से मिलती जुलती है उसे 'अनुप्रतिमा' (After-image) कहते हैं। भौतिक उत्तेजना का ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से हटने क बाद भी ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील रहती हैं, ऐसी स्थिति में हमें उस उत्तेजना-विशेष का एक मानचित्र उपस्थित दीखता है। ऐसे उपस्थित मानचित्र को 'अनुप्रतिमा' या 'अनुसंवेदना' (After-sensation) कहत हैं। 'प्रतिमा, प्रत्यक्ष एवं अनुप्रतिमा या अनुसंवेदना' के आपसी भेद को एक उदाहरण द्वारा अत्यधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, 'मनोविज्ञान की पुस्तक' सामने रखे रहने पर व्यक्ति इस पुस्तक (उत्तेजना) का एक मानचित्र (Mental picture) प्राप्त करता है, जिसे 'प्रत्यक्ष' (Percept) की संज्ञा दी जाती है। पुस्तक को अधिक देर तक देखते

रहने के बाद यदि अचानक सामने से पुस्तक हटा ली जाती है तो पुस्तक के ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने से ज्ञानेन्द्रियों में उत्पन्न क्रियाएँ तुरत समाप्त नहीं होतीं वरन् ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से उत्तेजना को हटा लेने के बाद भी कुछ समय (सेकेण्डों या दो मिनटों) तक क्रियाशील ही रहती हैं। फलस्वरूप पुस्तक का मानचित्र मानस-पटल पर थोड़ी देर के लिए बना रहता है। ऐसे प्राप्त मानचित्रों को 'अनुप्रतिमा' (After-image) या 'अनुसंवेदना' (After-sensation) कहा गया है। एक तीसरी मानसिक प्रक्रिया जिसे 'प्रतिमा' कहते हैं वह पुस्तक के अभाव में मनुष्य के मानस-पटल पर प्राप्त उसका मानचित्र ही है। 'प्रतिभा के स्वरूप के आधार पर' हम 'प्रत्यक्ष और प्रतिमा' में वर्त्तमान अन्तरो के विश्लेषण को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

'प्रत्यक्ष और प्रतिमा में अन्तर'

(Distinction between Percept and Image)

'प्रत्यक्ष' (Percept)	'प्रतिमा' (Image)
(क) वाह्य उत्तेजना का उपस्थित रहना आवश्यक। उत्तेजना के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न मानचित्र को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।	(क) वाह्य उत्तेजना का अभाव। उत्तेजना के अनुपस्थिति में भी उसके एक मानचित्र का दीखना प्रतिमा कहलाता है।
(ख) प्रत्यक्ष में उत्तेजना के प्रत्येक अंश स्पष्ट दीखते हैं।	(ख) उत्तेजना के अभाव में मनुष्य उत्तेजना के कुछ अंशों को भूल जाता है। अतः स्पष्टता का अभाव भी प्रतिमा में रहता है।
(ग) प्रत्यक्ष स्थिर होता है।	(ग) प्रतिमाएँ स्थिर नहीं होतीं। विभिन्न प्रतिमाएँ मानस-पटल पर आती हैं और विलीन होती रहती हैं। अतः उनमे बराबर परिवर्तन होता रहता है।

(घ) प्रत्यक्ष मे हमारी मनोवृत्ति (Attitude) 'विधेयात्मक' (Objective) होती है। एक पुस्तक के प्रत्यक्षीकरण के समय हमारा ध्यान पुस्तक पर ही होता है, उससे सम्बन्धित अनुभवों पर कम या एक दम नहीं। अतः मनोवृत्ति को यहाँ विधेयात्मक कहते हैं।

(ङ) प्रत्यक्ष में उत्तेजना ज्ञानेन्द्रियो के सामने रहती है। अतः उत्तेजना के प्रति इन्द्रिय-विशेष का अभियोजन भी आवश्यक है।

(च) प्रत्यक्ष में उत्तेजनाएँ ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करती ह जिससे स्नायुप्रवाह ज्ञानेन्द्रिय-विशेष मे पहुँचता है, और तब प्रत्यक्ष का अनुभव होता है।

(घ) प्रतिमा मे हमारी मनोवृत्ति 'आत्मगत' (Subjective) रहती है। प्रतिमा का अनुभव करते समय हमारा ध्यान अपने मानसिक अनुभवों पर होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव आत्मनिष्ठ होता है। अतः प्रतिमा में पाई जानेवाली मनोवृत्ति को आत्मगत कहते हैं

(ङ) प्रतिमा मे बाह्य उत्तेजना का अभाव रहता है जिससे प्रत्यक्ष में 'होनेवाले इन्द्रिय अभियोजन' की आश्यकता नहीं पड़ती।

(च) प्रतिमा में ज्ञानेन्द्रिय-विशेष को उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि इसका अनुभव सिर्फ मस्तिष्क के उपयुक्त स्नायु-केन्द्रो के उत्तेजित होने से ही होता है।

'प्रतिमा के प्रकार'
(Kinds of Image)

प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। प्रतिमाओं को विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रतिमाओ के वर्गीकरण का आधार या तो 'ज्ञानेन्द्रियाँ' ह या 'प्रत्यक्षीकरण से सादृश्यता अथवा विभिन्नता' हैं।

ज्ञानेन्द्रियों को दृष्टि में रखते हुए मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिमाओं को इन पाँच वर्गों में बाँटा है—(क) 'दृष्टि-प्रतिमा' (Visual-image), (ख) 'श्रवण-प्रतिमा' (Auditory-image), (ग) 'घ्राण-प्रतिमा' (Olfactory-image), (घ) 'स्पर्श-प्रतिमा' (Tactual-image) तथा (ङ) 'स्वाद-प्रतिमा' (Gustatory-image). इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में प्रायः 'गति-प्रतिमा' (Motor-image) का भी अनुभव करता है।

'प्रत्यक्षीकरण से सादृश्यता अथवा विभिन्नता के आधार पर' मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिमाओं को इन चार भागों में बाँटा है—

(१) 'अनुबिम्ब' (After-image), (२) 'प्रत्यक्ष-प्रतिमा' (Eidetic-image), (३) 'स्मृति-प्रतिमा' (Memory-image) तथा (४) 'काल्पनिक-प्रतिमा' (Imagination-Image).

'ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतिमाएँ'

ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतिमाओं का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है। अन्तर केवल इस बात का है कि कुछ व्यक्तियों मे विशेष रूप से 'दृष्टि-प्रतिमा' का अनुभव होता है तो कुछ मे 'श्रवण-प्रतिमा' का। अर्थात् प्रतिमाओं के अनुभव में 'वैयक्तिक विभिन्नता' पायी जाती है। इसी विभिन्नता क आधार पर प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति का वर्गीकरण किया। जिस व्यक्ति में दृष्टि-प्रतिमा का अनुभव विशेषकर होता है, उस व्यक्ति को 'चाक्षुषी' (Visile) की संज्ञा मनोवैज्ञानिकों ने दी है। इसी प्रकार श्रवण-प्रतिमा की अनुभूति जिसे विशेषकर होती थी उस व्यक्ति को 'श्रावक' (Audile) के वर्ग मे रक्खा गया। परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को यह वर्गीकरण मान्य नहीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि सभी मनुष्यों में प्रत्येक प्रकार की प्रतिमाओं की अनुभूति होती है, अन्तर केवल उनमें से किसी एक का विशेप रूप से पाया जाना ही है। अतः प्रतिमाओं के अनुभव के आधार पर व्यक्तियों का वर्गीकरण ठीक नहीं जँचता। फिर भी संक्षेप मे इनका वर्णन नीचे कर दिया जाता है।

(१) दृष्टि-प्रतिमा (Visual-image)—आँखों के सामने किसी व्यक्ति या वस्तु के अभाव में पहले की देखी हुई चीज के मानचित्र का आना दृष्टि-प्रतिमा का परिचायक है। उदाहरणार्थ—एकान्त में बैठे विद्यार्थी के मानस-पटल पर गत रात्रि में देखे फिल्म के प्रिय दृश्यों का आना। इस अवस्था में ऐसा जान पड़ता है कि वह उस फिल्म को दुबारा देख रहा हो, यद्यपि बात वैसी नहीं रहती। फिल्म के उन दृश्यो की अनुपस्थिति में प्राप्त ऐसे अनुभव को दृष्टि-प्रतिमा की संज्ञा दी जाती है।

इसी प्रकार प्रायः हमलोगों का अनुभव है कि अपने माता-पिता, भाई-बहनों से बहुत दिनो तक अलग रहने पर हम जब उनके बारे में कभी सोचने लगते हैं तो उनका दृश्य हमारे मानस-पटल पर आने लगता है। ऐसा प्रतीत होता कि वे हमारे सामने बैठे हैं और हम उनसे बातें भी कर रहे हैं। पर यह बात उनके अनुपस्थिति में ही होती है।

(२) श्रवण-प्रतिमा (Auditory-image)—वास्तविक आवाज के अभाव में पहले की सुनी हुई आवाज का अनुभव होने को ही श्रवण-प्रतिमा कहते हैं। अपने माता-पिता से दूर छात्रावास में रहनेवाला विद्यार्थी यदि उनकी आवाज का अनुभव करता हो तो इसे उस विद्यार्थी की श्रवण-प्रतिमा कहेंगे।

(३) घ्राण-प्रतिमा (Olfactory-image)—सुगन्धित पदार्थ के अभाव में पहले से परिचित सुगन्ध का अनुभव अगर कोई व्यक्ति करता हो तो हम निस्सन्देह इसे उसकी घ्राण-प्रतिमा कहेंगे। चमेली के फूल के अभाव में अगर किसी को इसकी सुगन्ध का अनुभव हो तो यह निश्चय ही उस व्यक्ति की घ्राण-प्रतिमा कही जायगी।

(४) स्पर्श-प्रतिमा (Tactual-image)—यदि भूतकाल में स्पर्श किये हुए कोमल शरीर क अभाव में व्यक्ति इसके स्पर्श का अनुभव करता है तो स्पष्ट ही यह उसकी स्पर्श प्रतिमा कही जायगी। अर्थात् वास्तविक स्पर्श के अभाव मे स्पर्श का अनुभव यदि किसी व्यक्ति को हो तो स्पष्टतया यह उसकी स्पर्श-प्रतिमा कही जायगी।

(५) स्वाद-प्रतिमा (Gustatory-image)—किसी चीज का स्वाद उसे खाने पर प्राप्त होता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति उस वस्तु को उस समय नहीं खाते रहता है, फिर भी उसे उस वस्तु का स्वाद मिलता है। जैसे—आम का स्वाद आम के खाने पर ही मिल सकता है। पर आम के नहीं खाने पर भी मनुष्य कभी-कभी ऐसा अनुभव करता है कि वह आम के स्वाद को पा रहा है। यदि मनुष्य में आम क अभाव मे उससे प्राप्त स्वाद का अनुभव हो, तो इसे उसकी 'स्वाद-प्रतिमा' (Gustatory-image) कहते हैं।

(६) 'गति-प्रतिमा' (Motor-image)—कभी-कभी मनुष्य शान्तिपूर्वक बैठे-बैठे ऐसा अनुभव करता है जैसे कि वह चल रहा हो या किसी चीज को चला रहा हो। एक खिलाड़ी को खेल के मैदान में दौड़ लगाने का अनुभव चुपचाप बैठे रहने पर भी होता है। इसी प्रकार 'बैडमिण्टन' के खिलाड़ी बैठे-बैठे कभी ऐसा महसूस करते हैं कि वे खेल रहे हों। शान्त बैठे रहने पर भी अपने मे गति का अनुभव करने को ही 'गति-प्रतिमा' की संज्ञा दी जाती है।

'प्रत्यक्षीकरण से सादृश्यता अथवा विभिन्नता के आधार पर प्रतिमाओं का वर्गीकरण'

अन्य प्रतिमाएँ—अब हम 'प्रत्यक्षीकरण से सादृश्यता अथवा विभिन्नता के आधार पर' मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये प्रतिमाओं के वर्गीकरण पर प्रकाश डालेंगे।

(१) 'अनुबिम्ब' (After-image)—भौतिक उत्तेजनाओं के वर्तमान रहने पर व्यक्ति को उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। इस समय उसके मानस-पटल पर उस उत्तेजना-विशेष का एक मानचित्र (Mental picture) बनता है जिसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उस उत्तेजना का ज्ञानेन्द्रिय-विशेष से सम्पर्क हट जाने पर भी, व्यक्ति को उसका अनुभव कुछ सेकेण्ड अथवा कुछ मिनटों तक होता रहता है। यह अनुभव प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न है। इस अनुभव को ही मनोवैज्ञानिकों ने 'अनुबिम्ब' (After-image) की संज्ञा दी है। उदाहरणार्थ—किसी सुगन्धित फूल का सम्पर्क नाक से हटा लेने पर भी कभी-कभी कुछ क्षणों तक व्यक्ति को ऐसा मालूम पड़ता है कि उसे उसकी सुगन्ध का अनुभव अभी भी हो रहा है।

परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि वास्तविक रूप में इनको प्रतिमा नहीं कहना चाहिए। इनको 'अनु-संवेदना' (After-sensation) की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा। ऊपर के उदाहरण को ही ले लें, फूल के अभाव में भी उसकी सुगन्ध का अनुभव करना प्रतिमा नहीं है वरन् यह अनुसंवेदना है, चूँकि लगातार उस समय तक उस सुगन्धित फूल की घ्राण-संवेदना होते रहने पर, इसको नाक से सम्पर्क हटा लेने पर भी व्यक्ति को ऐसा मालूम पड़ता है कि उसे सुगन्ध की घ्राण-संवेदना हो रही है। अस्तु, उत्तेजना-विशेष के हटा लेने पर भी कुछ क्षणों तक हुई संवेदना को ही अनुसंवेदना कहा गया है।

(२) 'प्रत्यक्ष-प्रतिमा' (Eidetic-image)—यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्यक्ष और प्रतिमा मे अन्तर है। फिर भी ऐसा पाया गया है कि कभी-कभी प्रतिमाएँ भी प्रत्यक्ष की ही तरह अत्यधिक स्पष्ट और प्रबल होती हैं। अनुभवकर्त्ता को ऐसा मालूम पड़ता है कि जिस वस्तु-विशेष की प्रतिमाएँ उसके मानस-पटल पर आती है वे उसके सामने

साक्षात् रूप से वर्तमान हों और उसे उनका प्रत्यक्षीकरण ही हो रहा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह सब किसी भौतिक उत्तेजना के अभाव में ही होता है। जैसे—अपने माता-पिता से दूर छात्रावास में रहनेवाले बालक को जो अपने माता-पिता के बारे में उस समय सोचता है, कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता है कि वे उसके सामने ही खड़े हों और उसे उनका प्रत्यक्षीकरण ही हो रहा है। ऐसी ही प्रतिमाओं को 'प्रत्यक्ष-प्रतिमा' की संज्ञा दी गई है। यह बात विशेषकर बालकों मे पाई जाती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि यह बात प्रौढ़ व्यक्तियों मे एकदम नहीं पाई जाती है। परन्तु यह सत्य है कि प्रौढ़ व्यक्तियों को इस प्रकार का अनुभव बालकों की अपेक्षा बहुत ही कम होता है।

यहाँ स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि 'प्रत्यक्ष', 'प्रतिमाओं' की अपेक्षा अधिक प्रबल एवं स्पष्ट होते हुए भी, 'प्रत्यक्षीकरण' से भिन्न है। वह बच्चा जिसे किसी पूर्वानुभूत घटना या परिस्थिति का अनुभव 'प्रत्यक्ष-प्रतिमा' के रूप में हो रहा हो, यदि इसके आधार पर उसका वर्णन करे तो उसका वर्णन उस पूर्वानुभूत घटना अथवा परिस्थिति के भूतकाल में हुए प्रत्यक्षीकरण की हू-ब-हू नकल (True copy) नहीं होगी।

(३) 'स्मृति-प्रतिमा' (Memory-image)—'स्मृति-प्रतिमा', 'प्रत्यक्ष-प्रतिमा' के समान प्रबल एवं स्पष्ट नहीं होती है। 'प्रत्यक्ष-प्रतिमा' की तरह इसमें और 'प्रत्यक्षीकरण' में समानता भी नहीं रहती। यहाँ सिर्फ समय और स्थान का निरूपण होता है। अर्थात् व्यक्ति पूर्व अनुभव की गई घटना की 'स्मृति-प्रतिमा' के आधार पर सिर्फ इतना ही बतला सकता है कि 'कब और कहाँ' उसको इसका अनुभव हुआ था। पर कभी-कभी तो इन बातों का भी अभाव-सा पाया जाता है। यहाँ व्यक्ति को सिर्फ इतना ही मालूम पड़ता है कि उसे कभी इसका अनुभव भूतकाल मे हुआ था, परन्तु कब और कहाँ इसके बारे में कुछ निश्चित-रूप से कहने में वह असमर्थ रहता है।

हम पूर्व अनुभव किये घटना अथवा विषय का प्रत्याह्वान इन्हीं स्मृति-प्रतिमाओं के आधार पर कर पाते हैं। 'स्मृति-प्रतिमाएँ' तथा 'साहचर्य' में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे—कभी नालन्दा की खण्डहरों की 'स्मृति-प्रतिमा' का अनुभव होने पर हमें इस बात की भी स्मृति हो आती है कि 'कब', 'किसके साथ' और 'किस सिलसिले में' हम नालन्दा गये थे।

(४) 'काल्पनिक-प्रतिमा' (Imagination-image)—जैसा कि इसके नाम से ही प्रतीत होता है, इस प्रकार की प्रतिमाओं का आधार हमारी कल्पनाएँ ही हैं। 'काल्पनिक-प्रतिमा' की उत्पत्ति कई एक विभिन्न 'स्मृति-प्रतिमाओं' के तत्त्वों के मिलने के फलस्वरूप भी होता है। परन्तु ये प्रत्यक्षीकरण से सर्वथा भिन्न हैं। इस दृष्टिकोण से यह उपर्युक्त दूसरी और तीसरी तरह की 'अन्य प्रतिमाओं' से भिन्न है, चूँकि उनका आधार तो भूतकाल में हुआ एक ही वस्तु का 'प्रत्यक्षीकरण' ही है। 'काल्पनिक-प्रतिमाएँ' विशेषकर 'अमूर्त-विचारों' (Abstract ideas) की ही हुआ करती हैं। 'काल्पनिक-प्रतिमाएँ', 'बच्चों' तथा 'स्वप्नद्रष्टा' लोगों (Day-dreamers) में अधिकतर पायी जाती हैं। पागलों में तो इस बात की कमी ही नहीं है।

'पंखवाले घोड़े' अथवा 'सोने की चिड़ियाँ, 'स्वर्ग-नरक', 'सिंह का सिर तथा मनुष्य के धड़वाले प्राणी' आदि की प्रतिमाएँ, 'काल्पनिक-प्रतिमा' के सुन्दर उदाहरण हैं।

'साहचर्य'
(Association)

'साहचर्य' का हमारे जीवन मे प्रमुख स्थान है। इसके कई एक नियम हैं। 'अरस्तु' (Aristotle) ही सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'साहचर्य के नियमों' का प्रतिपादन किया। साहचर्य के नियमों का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिकों ने भी अपने अध्ययनों के आधार पर किया है। साहचर्य के मुख्यतः दो नियम है। (क) पहला 'प्रधान-नियम' (Primary Laws) तथा (ख) दूसरा 'सहायक-नियम' (Secondary Laws) इन दोनों नियमों के अन्तर्गत भी कई एक नियम हैं।

(क) 'साहचार्य के प्रधान-नियम'
(Primary Laws of Association)

साहचार्य के निम्नलिखित प्रधान नियम हैं—(१) 'समीपता का नियम' (Law of contiguity); (२) 'समानता का नियम' (Law of Similarity) तथा (३) 'विरोध का नियम' (Law of contrast) अब हम इनका वर्णन यहाँ एक-एक कर संक्षेप मे करेंगे।

(१) 'समीपता का नियम' '(Law of contiguity)—वैसे तो ऊपर बतलाया गया है कि साहचर्य के तीन प्राथमिक (प्रधान) नियम हैं, परन्तु 'समीपता के नियम' को ही हम साहचर्य का मूल नियम

मान सकते हैं चूँकि अन्य बातों में समान रहती हुई दो अनुभूतियों में उनके स्थान तथा समय-सम्बन्धी समीपता के कारण ही साहचर्य स्थापित हो जाता है। जैसे—एक ही समय वा एक ही स्थान में होनेवाली कई प्रकार की अनुभूतियों मे साहचर्य स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए यह कह सकते हैं कि एक ही समय या एक ही स्थान में दो व्यक्तियों राम और श्याम से भेंट होने पर, राम को देखने या उसके बारे में सोचने पर श्याम की भी याद आ जायगी। यह उनके समीपता के कारण स्थापित साहचर्य के ही फलस्वरूप है।

(२) 'समानता का नियम' (Law of Similarity)—इस नियम से यह पता चलता है कि अन्य बातों में समान रहते हुए समान घटनाओं अथवा अनुभूतियों में साहचर्य स्थापित हो जाता है। इसके फलस्वरूप इन दोनों मे एक के उपस्थित होने पर भी दूसरे का स्मरण हो जाने की बहुत सम्भावना रहती है। यहाँ पर समानता का यह अर्थ हुआ कि दो घटनाओं में समान तरह के विशेष गुण वर्त्तमान हों, न कि दोनों 'अभिन्न' हों (Not alike but similar).

उदाहरणार्थ—सड़क पर टहलते समय यदि एक दुर्घटना होते हम देखते हैं तो भूतकाल में हुई दुर्घटना के अनुभव का स्मरण हमें हो जाता है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि दोनों प्रकार की घटनाएँ एक ही तरह से हुई हों—बल्कि इन दोनों घटनाओं में समानता, एक विशेष गुण 'दुर्घटना' के कारण है। हो सकता है कि पहलेवाली दुर्घटना मोटर तथा रिक्से में टक्कर लग जाने के कारण हो और वर्त्तमानवाली दुर्घटना रिक्से और एक पैदल चलनेवाले व्यक्ति में टक्कर लग जाने के कारण हुई हो। फिर भी दोनों घटनाओं के विशेषगुण में समानता है जिसे हम 'दुर्घटना' कहकर पुकारते हैं।

(३) 'विरोध का नियम' (Law of contrast)—अन्य बातों में समान रहते हुए भी दो अनुभूतियों अथवा घटनाओं मे साहचर्य उनमें परस्पर विरोध होने के कारण भी हो जाता है। अर्थात् दो परस्पर विरोधी अनुभूतियों अथवा घटनाओं में सहज ही साहचर्य स्थापित हो जाता है। फलतः उनमें से एक घटना की उपस्थिति रहने पर दूसरी विरोधी घटना का भी स्मरण हो जाता है। उदाहरणार्थ—सुख का अनुभव करते समय भूतकाल मे अनुभव किये दुःख का भी स्मरण हो जाना या रात्रि का ख्याल करते वक्त दिन का याद आ जाना आदि।

(ख) 'साहचर्य के सहायक-नियम'
(Secondary Laws of Association)

साहचर्य के निम्नलिखित सहायक नियम हैं—(१) 'प्राथमिकता का नियम' (Law of Primacy); (२) 'आसन्नता का नियम' (Law of Recency); (३) 'बारम्बारता का नियम' (Law of Frequency) तथा (४) 'स्पष्टता का नियम' (Law of Vividness). अब हम एक-एक कर इनका वर्णन संक्षेप मे करेंगे।

(१) **'प्राथमिकता का नियम'** (Law of Primacy)—यह नियम इस बात पर जोर देता है कि अन्य बातों के समान होने पर मस्तिष्क पर पडे हुए प्रथम प्रभाव तथा पूर्व अनुभूतियों के साथ स्थापित प्रथम साहचर्य बहुत टिकाऊ (Lasting) होते हैं। फलतः उनका प्रत्याह्वान बहुत ही आसानी से सम्भव है। जैसे—हम अपने स्कूल या कॉलेज के आरम्भिक दिनों की अनुभूतियों का प्रत्याह्वान बहुत सुलभता मे कर सकते हैं।

(२) **'आसन्नता का नियम'** (Law of Recency)—इनका उल्लेख करते हुए यह कहा जा सकता है कि अन्य बातों में समान होते हुए, 'आसन्न अनुभूतियों' (Recent experiences) का प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर ताजा रहता है तथा उनका साहचर्य हमारी पूर्व अनुभूतियों से आसानी मे हो जाता है। अतः हम उनका प्रत्याह्वान बहुत ही सुगमता से कर पाते हैं।

(३) **'बारम्बारता का नियम'** (Law of Frequency)—यह नियम यह बतलाता है कि अन्य बातों म समान रहने पर जिस अनुभव का प्रभाव मस्तिष्क पर बार-बार पड़ता है तथा जो साहचर्य बार-बार स्थापित होता है, उसका प्रत्याह्वान बहुत ही आसानी से होता है।

(४) **'स्पष्टता का नियम'** (Law of Vividness)—अन्य बातों में समान होते हुए जिन अनुभूतियों का प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर अपेक्षाकृत स्पष्ट पड़ता है तथा जो साहचर्य स्पष्ट होते हैं, उनका प्रत्याह्वान भी अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'साहचर्य' प्रत्याह्वान में बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। इस बात का स्पष्टीकरण मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर भी किया है।

यदि नीचे दिये निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची (List of Nonsense-syllables) पर ध्यान दिया जाय तो 'साहचर्य' के उपर्युक्त चारो 'सहायक नियम' अत्यधिक रूप से स्पष्ट हो जायँगे।

'निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची'
(List of Nonsense-syllables)

LUZ
QOS
RAV
BIJ
COS
DIK
RAV
NUR
XOL
SAF
FIK
RAV
YIP
GEC
RAV
MUQ

यदि किसी 'प्रयोज्य' (Subject) को उपर्युक्त निरर्थक शब्द-खण्डों की सूची (List of nonsense-syllables) को सीखने को दिया जाय तो वह 'LUZ, RAV, **XOL** and MUQ', इन चार शब्द-खंडों को अन्य शब्द-खंडों के अपेक्षाकृत आसानी से तथा शीघ्र सीख लेगा। इसके अतिरिक्त इस पूरी सूची को सीख लेने के कुछ समय बाद यदि प्रयोज्य को इनका प्रत्याह्वान करने को कहा जाय, तब भी इन्हीं चार शब्द-खण्डों का प्रत्याह्वान करने की सम्भावना अन्य शब्द-खण्डों से अधिक रहेगी।

इन चार शब्द-खण्डों में 'LUZ' का प्रत्याह्वान होने की सम्भावना इसलिए अधिक रहती है कि यह सूची के आरम्भ में आता है, फलतः

प्रयोज्य के मस्तिष्क पर इसका प्रभाव सबसे पहले पड़ता है। अस्तु, यह 'प्राथमिकता का नियम' (Law of Primacy) का ही फल है।

'RAV', चूँकि इस सूची में चार बार आया है, इसलिए यहाँ 'बारम्बारता का नियम' (Law of Frequency) काम करता है, जिसके कारण मस्तिष्क में इसका साहचर्य आसानी से स्थापित हो जाता है तथा यह अधिक टिकाऊ भी होता है। फलतः इसके प्रत्याह्वान होने की भी सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक रहती है।

यह 'स्पष्टता के नियम' (Law of Vividness) का ही परिणाम है कि इस सूची में **'XOL'** शब्द-खण्ड के प्रत्याह्वान होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके कारण प्रयोज्य के मस्तिष्क पर इस शब्द-खण्ड द्वारा पड़े प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं टिकाऊ रहते हैं।

'MUQ' शब्द-खण्ड का प्रत्याह्वान होने की सम्भावना इसीलिए अधिक रहती है कि यह इस सूची के अन्त मे आता है। अन्य शब्द-खण्डों के अपेक्षाकृत यह एक 'आसन्न-अनुभव' (Recent experience) है। अस्तु, यहाँ 'आसन्नता का नियम' (Law of Recency) काम करता है।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'साहचर्य' प्रत्याह्वान में बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। इस बात का पुष्टीकरण मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर भी किया है जिसका वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नहीं।

———
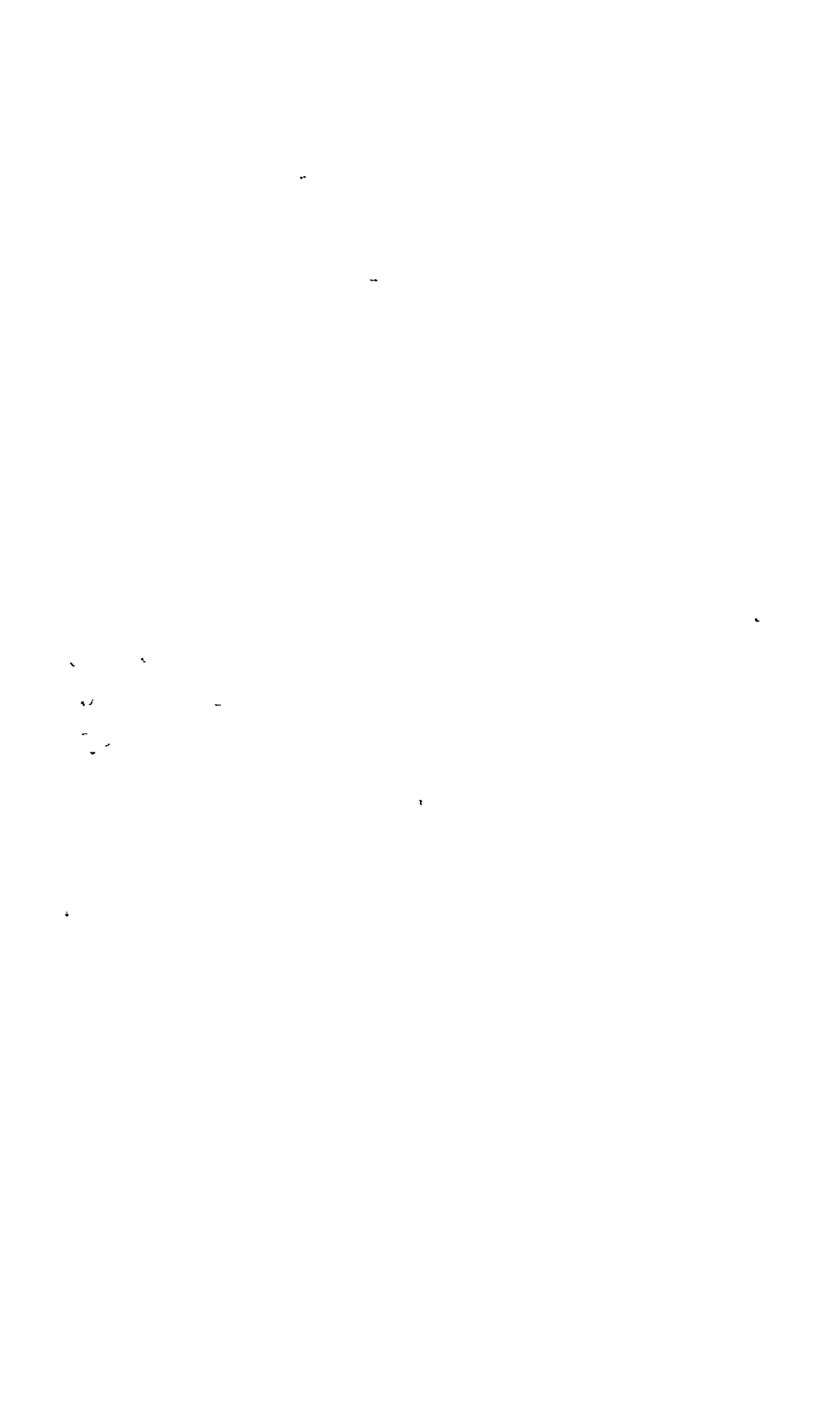
तेरहवाँ अध्याय

चिन्तन

(Thinking)

भूमिका—चिन्तन-क्रिया का विश्लेषण—चिन्तन-क्रिया—चिन्तन और कल्पना में अन्तर—भाषा और चिन्तन—प्रतिमा एवं चिन्तन—कार्य और चिन्तन—मस्तिष्क और चिन्तन—चिन्तन में धारणा और अर्थ—रचनात्मक चिन्तन।

मनुष्य और पशु में एक विशेष अन्तर यह है कि जहाँ मानव चिन्तन कर सकता है वहाँ प्रायः पशुओं मे इसका अभाव पाया जाता है। 'सीखने' के अध्याय में 'मानवों तथा पशुओं के सीखने मे अन्तर' पर प्रकाश डालते समय यह बतलाया गया है कि मनुष्य सीखने में चिन्तन का उपयोग करते हैं, परन्तु विकासवाद की दृष्टि उच्च कोटि के पशुओं जैसे बन्दर और वनमानुष को छोड़कर दूसरे पशु सीखने के समय चिन्तन का उपयोग नहीं करते हैं, और जो करते भी हैं उनके चिन्तन की मात्रा मनुष्यों से कम होती है। साथ-साथ उनकी चिन्तन-क्रिया मनुष्यों की चिन्तन-क्रिया की अपेक्षा सरल होती है। जहाँ मनुष्य अधिकांशतया 'सूझ' (Insight) के द्वारा सीखता है वहाँ पशु 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन' (Conditioning), 'प्रयत्न और भूल' (Trial and Error) तथा दूसरे के व्यवहारों का 'अनुकरण' (Imitation) कर सीखते हैं। यह अन्तर इसलिए होता है कि पशुओं का स्नायु-मण्डल मनुष्यों के अपेक्षाकृत सरल एवं कम विकसित होता है। चिन्तन-क्रिया तथा बुद्धि में एक गहरा सम्बन्ध है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि चिन्तन-क्रिया आरम्भ कब होती है तथा इसके कौन-कौन-से 'अंग' (Stages) हैं।

हमारे जीवन में नित्यप्रति कोई-न-कोई समस्या उठती ही रहती है जिनका समाधान अथवा हल करना वातावरण के साथ सफल अभियोजन के लिए आवश्यक है। इन समस्याओं का समाधान चिन्तन के अभाव मे सम्भव नहीं। इस पर प्रकाश डालने के समय यह जान लेना आवश्यक है कि 'समस्या' (Problem) किसे कहते हैं। समस्या या समस्याजन्य परिस्थिति उसे कहते हैं जिसका समाधान व्यक्ति वर्तमान परिस्थिति में तुरत नहीं कर पा रहा है अर्थात् जिसका तात्कालिक हल नहीं हो पा रहा है। जैसे—यदि गणित का कोई प्रश्न एक बालक तुरत हलकर देता है तो यह उसके लिए समस्या नहीं हुई। चूँकि वह उसको हल करना जानता है, इसलिए उसने उसका तात्कालिक हल कर लिया। पर यदि किसी दूसरे प्रश्न का तात्कालिक हल वह नहीं कर पा रहा हो तो अब उसके लिए यह एक समस्या हो जाती है। इस समस्या को हल करने के लिए उसे सोचना पड़ता है अर्थात् चिन्तन करना पड़ता है कि इसे कैसे हल करें। इसको हल करने के लिए वह भिन्न-भिन्न तरीकों का उपयोग करता है। एक तरीके के गलत साबित होने पर दूसरे का उपयोग करता है और वह तबतक सोचता जाता है, जबतक वह उस प्रश्न का सही हल (Solution) प्राप्त नहीं कर पाता है। अस्तु, चिन्तन की क्रिया समस्या के प्रस्तुत होने के साथ प्रारम्भ होती है और तबतक समाप्त नहीं होती है जबतक कि उस समस्या-विशेष का समाधान नहीं हो जाता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि चिन्तन-क्रिया एक मानसिक प्रक्रिया है जो हमें हमारी समस्याओं के समाधान में सहायता प्रदान करती है। इस क्रिया का आरम्भ समस्या के उपस्थित होने पर होता है और यह समस्या-समाधान होने तक जारी रहती है।

'चिन्तन-क्रिया में पायी जानेवाली कुछ मुख्य बातें'

'चिन्तन-क्रिया का विश्लेषण' करने से हम उसमे क्रमशः निम्नलिखित कुछ मुख्य बातें पाते हैं जो उपर्युक्त विवेचनों से भी स्पष्ट है:—

(१) **समस्या या समस्यापूर्ण परिस्थिति का उपस्थित होना**—जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, चिन्तन-क्रिया के आरम्भ होने के लिए एक समस्या अथवा समस्यापूर्ण परिस्थिति का उपस्थित होना आवश्यक है। जबतक समस्या उपस्थित नहीं होगी, चिन्तन-क्रिया की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। जैसे—एक गणित का प्रश्न, जो एक बालक तुरत नहीं बना

पाता है उसके लिए यह एक समस्या है और वह उसको हल करने के लिए सोचता है अथवा चिन्तन करता है।

(२) समस्या के समाधान के हेतु विभिन्न प्रकार के विचारों का आना— उपस्थित समस्या को हल करने अथवा उसका समाधान करने के लिए व्यक्ति के मन में विविध प्रकार के विचार एक के बाद दूसरे आते हैं। जैसे—प्रश्न के नहीं बनने पर बालक के मन में उसको हल करने के हेतु विभिन्न विचार एक के बाद दूसरे आते हैं।

(३) समस्या के समाधान के लिए व्यक्ति के मन में आनेवाले विभिन्न-विचारों का एक ही 'लक्ष्य' (समस्या का समाधान करना) की ओर निर्देशित होना—समस्या के समाधान करने के लिए व्यक्ति के मन में उठनेवाले विभिन्न विचार निरर्थक नहीं होते हैं वरन् उनका एकमात्र लक्ष्य उस समस्या-विशेष का समाधान करना ही होता है। जैसे—प्रश्न के नहीं बनने पर बालक के मन में उठनेवाले विविध विचार उस प्रश्न को हल करने के हेतु ही उठते हैं।

(४) समस्या का समाधान करने के लिए 'प्रयत्न और भूल की विधि' का उपयोग करना—यह प्रायः देखा जाता है कि जब किसी समस्या का समाधान आसानी से नहीं हो पाता है तो व्यक्ति उसका समाधान करने के लिए प्रयत्न और भूल की विधि का उपयोग करता है। अर्थात् उस समस्या को हल करने के हेतु उसके मन मे विभिन्न विचार एक-एककर उठते हैं। इन विचारों का उपयोग वह उस समस्या का समाधान करने के लिए करता है। परन्तु जब इनकी सहायता से भी उस समस्या का समाधान नहीं हो पाता है तो इस विचार अर्थात् समस्या-समाधान की विधि का वह परित्याग कर देता है। तत्पश्चात् उसके मन में उस समस्या को हल करने के लिए एक दूसरा विचार या उसको हल करने का एक दूसरा तरीका उसके मन मे आता है और फिर इनका भी उपयोग वह इसके समाधान के हेतु करता है। समस्या के समाधान मे इस विधि को भी असफल पाकर वह एक तीसरी विधि का उपयोग इसके समाधान के लिए करता है। यह क्रम तबतक जारी रहता है जब तक उसे समस्या का सही-सही समाधान करने का तरीका नहीं मिल जाता है। जैसे—प्रश्न के हल नहीं होने पर बालक एक विचार या तरीके के असफल होने पर दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे का उपयोग करता है, जब तक कि वह उसे ठीक-ठीक हल करने में समर्थ नहीं हो जाता है।

(५) व्यक्ति का 'सक्रिय' होना—ऊपर 'नं० ४' में भी यह स्पष्ट हो गया है कि समस्या के हल करने के लिए व्यक्ति के मन में केवल विभिन्न विचार ही नहीं आते हैं वरन् वह उन विचारों का उपयोगकर उस समस्या को हल करने की चेष्टा भी करता है अर्थात् इस समय व्यक्ति में सक्रियता भी देखी जाती है। यह सक्रियता उसमे तब तक दृष्टिगत होती है जब तक वह उस समस्या का ठीक-ठीक समाधान नहीं कर पाता है।

(६) 'आन्तरिक सम्भाषण'—यह प्रायः पाया गया है कि जब कोई व्यक्ति किसी समस्या का समाधान करने के लिए कुछ सोचता रहता है तो उसके चेहरे को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि वह भीतर-ही-भीतर कुछ बोल भी रहा है। यही कारण है कि कुछ मनोवैज्ञानिकों ने चिन्तन को 'अन्दर-ही-अन्दर बोलने की क्रिया' की संज्ञा दी है। जैसे—प्रश्न को बनाते समय प्रायः बालक अन्दर-ही-अन्दर कुछ बोलते पाये जाते हैं।

(७) समस्या का समाधान होने पर उपर्युक्त सभी बातों का 'अन्त' हो जाना—व्यक्ति जब अपनी समस्या का समाधान करने में समर्थ हो जाता है तो उसकी चिन्तन-क्रिया समाप्त हो जाती है। अस्तु, चिन्तन-क्रिया के उपर्युक्त सभी अंगों का भी अन्त हो जाता है।

सरल समस्याओं को छोड़कर प्रायः सभी कठिन समस्याओं को समाधान में चिन्तन-क्रिया के उपर्युक्त सभी अंगों का समावेश देखा गया है।

'चिन्तन-क्रिया'
(Thought-Process)

'चिन्तन-क्रिया' किसी समस्या के उपस्थित होने से आरम्भ होती है और जबतक उसका समाधान नहीं हो पाता है तबतक यह समाप्त नहीं होती है। चिन्तन-क्रिया के आरम्भ तथा समाप्त होने के बीच में अनेक अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें चिन्तन-क्रिया के 'आवश्यक-अंगों' के नाम से भी पुकारा गया है। इनका सक्षेप में यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

(क) चिन्तन-क्रिया में दिशा का होना (Direction in Thinking)—चूँकि चिन्तन-क्रिया की उत्पत्ति ही एक समस्या-विशेष के उपस्थित होने स होती है, इसलिए यह सदा उस समस्या के समाधान की ओर ही निर्देशित रहती है। अर्थात् व्यक्ति के विचार समस्या के समाधान से ही सम्बन्धित रहते हैं। उस समय व्यक्ति की मानस-वृत्ति ऐसी हो जाती है

कि उसके मन में आनेवाले प्रत्येक विचार उस समस्या के समाधान से ही सम्बद्ध रहते हैं। अर्थात् उसके मन में वैसे ही विचार आते हैं जो सम्भवतः उस समस्या का समाधान कर सकें। इसके साथ-साथ व्यक्ति में वैसी ही प्रतिक्रियाएँ देखी जाती हैं जिनका उसके अनुसार समस्या के समाधान से ही सम्बन्ध रहता है। जैसे—जब किसी की मोटर अचानक सड़क पर चलते-चलते रुक जाती है तो उसके मन में विभिन्न विचार उठते हैं, परन्तु वे विचार उस समस्या से ही सम्बन्धित रहते हैं। जैसे—हो सकता है, पेट्रोल कम हो गया या इञ्जिन में पानी नहीं हो या कोई तार अलग हो गया हो आदि। इन सभी विचारों की जाँच वह एक-एक कर करता है, और तब कहीं वह मोटर के अचानक रुक जाने के सही-सही कारण (जो उसके लिए उस समय एक समस्या है) का पता लगा पाता है।

(ख) चिन्तन में 'प्रयत्न और भूल' (Trial and Error in Thinking)—इस अध्याय के आरम्भ में तथा 'सीखने के अध्याय' में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पशु तथा मनुष्य दोनों 'प्रयत्न और भूल' के द्वारा सीखते हैं। परन्तु दोनों के प्रयत्न और भूल की मात्रा में अन्तर है। *मनुष्यों की अपेक्षा पशु के सीखने में प्रयत्न और भूल की मात्रा अधिक* पायी जाती है। 'सीखना और चिन्तन' में निकट सम्बन्ध है। किसी भी समस्या का समाधान कर लेने को भी हम सीखना कह सकते हैं चूँकि सीखने में भी किसी समस्या का समाधान ही करना पड़ता है। जैसे—'थॉर्नडाइक' के 'भूल-भुलैया तथा भ्रांति-बक्स वाले प्रयोगों' में भी क्रमशः 'भूल-भुलैया' (Maze problem) तथा 'भ्रांति-बक्स' (Puzzle-box) से बाहर निकल जाना सीख लेना भी क्रमशः चूहे तथा बिल्ली के लिए एक समस्या थी। यहाँ भी चूहे तथा बिल्ली ने चिन्तन का प्रयोग किया, हालाँकि कम विकसित तथा सरल स्नायुमण्डल होने के कारण चिन्तन की मात्रा नहीं के बराबर थी। मनुष्यों पर किये गये 'भूल-भुलैया-सम्बन्धी प्रयोगों' (Maze learning experiments) में भी मनुष्यों में प्रयत्न और भूल की विधि का उपयोग पाया गया है। परन्तु पशुओं तथा मनुष्यों के प्रयत्न और भूल में अन्तर है। जहाँ पशुओं में 'गतिवाही प्रयत्न और भूल' (Motor Trial and Error) पाया जाता है वहाँ मनुष्यों में 'मानसिक प्रयत्न और भूल' (Mental Trial and Error) की प्रधानता रहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि मनुष्यों में 'गतिवाही प्रयत्न और भूल' का सर्वथा अभाव रहता है। इस तरह स्पष्ट है कि पशुओं

तथा मनुष्यों दोनों के चिन्तन में 'प्रयत्न और भूल' की प्रधानता है। मनुष्य अपने इस प्रयत्न और भूल को प्रकट नहीं करता है परन्तु पशुओं में इसका प्रकटीकरण उनके व्यवहारों से प्रायः हो जाता है। मोटर के अचानक रुक जानेवाली समस्या को ही ले लें। यहाँ भी व्यक्ति के मन में विभिन्न विचार उठते हैं और वह उनकी जाँच करता है। एक विचार के गलत साबित होने पर एक दूसरा विचार उसके मन में उठता है और वह फिर उसकी भी जाँच करता है। यह 'क्रम' तबतक जारी रहता है जब तक वह उस समस्या के सही-सही कारण का पता सहीं लगा लेता है। यहाँ व्यक्ति समस्यापूर्ण स्थिति का समाधान तुरत नहीं कर पाता है। कभी-कभी अपने विचारों की जाँच व्यक्ति सक्रिय होकर नहीं करता है वरन् मन-ही-मन उस सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करने के पश्चात् कर लेता है। जैसे—यदि उसके मन मे यह विचार उठता है कि मोटर इसलिए रुक गयी है कि उसमें पेट्रोल कम गया हो, तो इस बात की जाँच वह पेट्रोल की टंकी को देखकर न कर, सिर्फ यह सोचकर कर सकता है कि कल ही उसने तीन गैलेन पेट्रोल अपने मोटर में भराया था और उसकी गाड़ी मुश्किल से दस मील चली होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यों की चिन्तन-क्रिया में 'मानसिक' तथा 'गतिवाही' दोनों प्रकार के 'प्रयत्न और भूल' पाये जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे प्रकार के प्रयत्न और भूल की मात्रा पहले प्रकार के अपेक्षाकृत बहुत ही कम रहती है।

यहाँ पर स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि 'प्रयत्न और भूल' का चिन्तन-क्रिया में होना चिन्तन-क्रिया की व्याख्या नहीं करता बल्कि यह चिन्तन-क्रिया का सिर्फ वर्णनमात्र ही प्रस्तुत करता है। अर्थात् यह कह सकते हैं कि 'प्रयत्न और भूल चिन्तन-क्रिया का एक अंग मात्र' ही है।

'चिन्तन और कल्पना में अन्तर'
(Distinction between Thinking and Imagination)

'चिन्तन' तथा 'कल्पना' मे निम्नलिखित अन्तर है—

(१) चिन्तन-क्रिया और कल्पना के बीच के अन्तर को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किन-किन अवस्थाओं अथवा परिस्थितियों में क्रमशः चिन्तन और कल्पना की उत्पत्ति होती है।

चिन्तन-क्रिया का उत्पन्न होना एक समस्या-विशेष के उपस्थित होने पर ही होता है, परन्तु कल्पना की उत्पत्ति के लिए किसी समस्या का

उपस्थित होना आवश्यक नहीं है। 'कल्पना' प्रायः किसी समस्या के अभाव में ही उत्पन्न होती है, और यदि समस्या रहती भी है तो यह समस्या चिन्तन-क्रिया को उत्पन्न करनेवाली समस्या की तरह वास्तविक समस्या न होकर काल्पनिक समस्या रहती है।

(२) इन दोनों में दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ चिन्तन में 'लक्ष्य-निर्देशन' का होना अनिवार्य है वहाँ कल्पना के साथ वैसी बात नहीं है। कल्पना सदा 'लक्ष्यरहित' रहती है अर्थात् यह किसी लक्ष्य की ओर निर्देशित नहीं रहती है। कारण यह है कि जैसा ऊपर ही बतलाया गया है, यह किसी वास्तविक समस्या की अनुपस्थिति में ही उत्पन्न हो जाती है।

(३) कल्पना तथा चिन्तन में तीसरा अन्तर यह है कि कल्पना मे 'यथार्थता' (Reality) का अभाव रहता है, परन्तु चिन्तन सदा यथार्थ होता है। चूँकि कल्पना की उत्पत्ति का कारण ही अयथार्थ रहता है, इसलिए इसमें अयथार्थता का होना स्वाभाविक है। दूसरी ओर क्योंकि चिन्तन-क्रिया किसी वास्तविक समस्या-विशेष के समाधान के हेतु ही प्रारम्भ होती है, इसलिए यह यथार्थता के अतिनिकट होती है।

(४) चिन्तन और कल्पना में आखिरी अन्तर यह है कि चिन्तन 'तर्क-पूर्ण' (Logical) होता है। किन्तु कल्पना 'तर्क-रहित' (Illogical). काल्पनिक उत्पत्ति होने के फलस्वरूप कल्पना का तर्क-रहित होना कोई आश्चर्यजनक नहीं, स्वाभाविक है। परन्तु चिन्तन-क्रिया एक वास्तविक समस्या (Real problem) के समाधान के निमित्त ही उत्पन्न होती है। अर्थात् इसका एकमात्र ध्येय 'समस्या-समाधान' (Problem-solving) ही है। अतः इसका तर्क-संगत (Logical) होना अनिवार्य है। इसके अभाव में समस्या का सही-सही समाधान असम्भव है, पन्रतु इसका यह अर्थ नहीं कि चिन्तन में तर्क-संगति (Logical Consistency) का अभाव कभी भी नहीं पाया जाता है। पर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कल्पना मे प्रायः इसका अभाव-सा रहता है।

'क्रिया और चिन्तन'
(Action and Thinking)

समस्याजनक परिस्थिति अथवा किसी समस्या के उपस्थित होने पर उसके समाधान के लिए व्यक्ति के मन में विचारों का ताँता-सा लग जाता है अर्थात् एक के बाद दूसरे विचार तबतक आते रहते हैं जबतक वह उस

समस्या का समाधान करने में समर्थ नहीं हो जाता है। उसके इन विचारों को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते हैं। परन्तु इन विचारों के साथ व्यक्ति कुछ कार्य भी करता है। चिन्तन-क्रिया के बीच की अवस्थाओं पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि व्यक्ति इस समय सक्रिय दीख पड़ता है। अर्थात् वह अपने विचारों (Hypotheses) की जाँच करने के लिए कुछ-न-कुछ कार्य जरूर करता है। जैसे—जब मोटर अचानक सड़क पर रुक जाती है तो ड्राइवर पहले सोचता है कि उसकी मोटर क्यों रुकी और फिर अपने उस विचार की जाँच करने के लिए वह उससे सम्बन्धित कार्य भी करता है। जैसे—यदि उसके मन मे यह विचार आता है कि शायद पेट्रोल कम जाने के कारण मोटर रुक गई है तो वह टंकी को खोलकर देखता है कि मोटर में पेट्रोल सचमुच मे है या नहीं। यदि उसका यह विचार गलत साबित होता है तो फिर दूसरा विचार उसके मन में आता है और वह इसकी जाँच के लिए भी कुछ कार्य या व्यवहार करता है। अस्तु, चिन्तन-क्रिया में प्रायः व्यक्ति कुछ-न-कुछ कार्य करता दीख पड़ता है। चिन्तन के 'अमूर्त्त-क्षेत्र' (Abstract sphere) मे भी व्यक्ति कुछ-न-कुछ कार्य अवश्य ही करता है।

यहाँ पर स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि चिन्तन-क्रिया के समय व्यक्ति के मन में आनेवाले विचार जिस तरह समस्या के समाधान की ओर निर्देशित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार इस समय व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य भी समस्या के समाधान की ओर ही निर्देशित रहते हैं। चिन्तन-क्रिया में व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य व्यक्ति के मन में उस समस्या के समाधान के लिए आये विभिन्न विचारों से ही सम्बन्धित रहते हैं। जिस प्रकार कभी-कभी कुछ विचार भी समस्या के समाधान की ओर निर्देशित नहीं रहते हैं उसी प्रकार चिन्तन-क्रिया में किये कुछ कार्य भी कभी-कभी समस्या के समाधान की ओर निर्देशित नहीं रह सकते हैं। परन्तु हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि चिन्तन-क्रिया में किये गये कार्य प्रायः समस्या-विशेष के समाधान की ओर ही निर्देशित रहते हैं। जबतक व्यक्ति समस्या का समाधान नहीं कर लेता है उसमें यह क्रियाशीलता वर्तमान रहती है।

'भाषा' और 'चिन्तन'
(Language and Thought)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने चिन्तन को 'प्रतिबन्धित रूप से बोलना' (Restrained speaking) या 'आन्तरिक-सम्भाषण' या 'मन-ही-मन

बोलना' (Subvocal talking or Internal-speech) या 'आन्तरिक-भाषा' (Implicit-language) की संज्ञा दी है। इसमे यह स्पष्ट है कि चिन्तन में 'भाषा' सदा वतमान रहती है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि चिन्तन 'भाषा' के अभाव मे नहीं होता है। पशुओं पर किये गये प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि भाषा के विना भी चिन्तन-क्रिया सम्भव है।

इसका यह अर्थ हुआ कि हालाँकि चिन्तन-क्रिया मे 'भाषा' वर्तमान रहती है फिर भी कुछ चिन्तन-क्रियाएँ भाषा के अभाव में भी होती हैं। उदाहरणार्थ—हम उन चीजो के बारे मे भी सोचते हैं जिनका हम कोई नाम नहीं जानते हें। ऐसी अवस्थाओं मे प्रायः हमलोगों के मस्तिष्क में उन चीजों की दृष्टि-प्रतिमा या अन्य प्रकार की प्रतिमाएँ आती हैं जिनके माध्यम से हम इनके बारे में सोचते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि 'शब्दों' या 'प्रतिमाओं' के अभाव में भी चिन्तन-क्रिया सम्भव है।

परन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि हमारे जीवन की अधिकांश चीजो का वर्णन (Represent) करनेवाले 'प्रतीक' (Symbol), 'भाषा-प्रतीक' (Language symbol) ही हें, जो या तो 'मौखिक' (Oral or verbal) या 'हाव-भाव' (Gesture) या 'लिखित' (Written) हें। हमारे अधिकांश चिन्तन इन्हीं प्रतीकों के 'आन्तरिक-चयन' (Internal mainpulation) हैं।

यदि 'चिन्तन-क्रिया का विश्लेषण' किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि 'आन्तरिक-सम्भाषण' (Internal speech) से इसका निकट सम्बन्ध है। यदि अपनी चिन्तन-क्रिया का विश्लेषण करें तो हम स्पष्ट रूप से हर जगह 'शब्दों' को वर्तमान पायेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि सोचने के समय हम अपने आप से बातें कर रहे हों। बालकों में तो यह अक्सर पाया जाता है कि वे जोर-जोर से बोलकर सोचते हैं जिसे प्रत्येक व्यक्ति सुन सकता है। वे तबतक इस प्रकार से सोचना बन्द नहीं करते हैं जबतक उन्हे यह नहीं मालूम हो जाता है कि इस तरह जोर-जोरे से बोलकर सोचने की आदत ठीक नहीं है तथा अपने चिन्तन को अपने ही तक सीमित रखना चाहिए। 'गूँगे' (Dumb) एवं 'बहरे' (Deaf) लोग जो कि 'चिह्नों की भाषा' (Sign-language) सीखे रहते हैं,

वे भी सीखने के समय अपनी उँगलियों को उसी प्रकार घुमाते दीख पड़ते हैं जैसा कि वे किसी से बोलते समय करते हैं। लिखने तथा पढ़ने के समय क्रमशः जिस प्रकार व्यक्ति अपने हाथों तथा आँखों को घुमाता है, ठीक उसी प्रकार सोचने के समय भी करता है। 'जैकोवसन' (Jacobson) महोदय ने बिजली के विशिष्ट यन्त्रों के द्वारा यह पता लगाया है कि चुपचाप अन्दर-ही-अन्दर 'गिनती' (Counting) करने के समय भी व्यक्तियों की जीभ तथा गले में गतिशीलता पायी जाती है। इन सभी से भी इस बात का पुष्टिकरण हो जाता है कि चिन्तन करने के समय व्यक्ति 'भाषा' का उपयोग करता है।

'चिन्तन एवं प्रतिमा'
(Thinking and Imagery)

'भाषा और चिन्तन' का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट हो चुका है कि चिन्तन में 'प्रतिमाएँ' (Images) वर्तमान रहती हैं। जब हम किसी चीज या समस्या के सम्बन्ध में, उसका समाधान करने के हेतु सोचते हैं तो हम उससे सम्बन्धित अपनी पूर्व अनुभूतियों की सहायता भी लेते हैं। पूर्व अनुभूतियों की सहायता हम उनके बारे में हमारे मानस-पटल में वर्तमान मानचित्र अथवा प्रतिमाओं के माध्यम से ही करते हैं। विभिन्न प्रकार की प्रतिमाएँ हमारे मानस-पटल पर आती हैं जिनका उपयोग हम उस समस्या-विशेष का समाधान करने के लिए करते हैं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की प्रतिमा की प्रधानता रहेगी उसी प्रकार की प्रतिमा का उपयोग वह अपनी चिन्तन-क्रिया में समस्या के समाधान करने के सिलसिले में करेगा। 'बुहलर' (Buhler) नामक मनोवैज्ञानिक ने 'अन्तर्निरीक्षणात्मक विधि' (Introspective method) के द्वारा किये गये अपने 'प्रयोगों' के आधार पर कहा है कि 'चिन्तन-क्रिया का होना प्रतिमाओं के अभाव में भी सम्भव है'। परन्तु यह विचार अधिकांश मनोवैज्ञानिकों को मान्य नहीं है। उनका कहना है कि हम अपनी चिन्तन-क्रिया में सदा प्रतिमाओं की सहायता लेते हैं और ये हमारी समस्याओं के समाधान में बहुत मदद पहुँचाती है। 'उडवर्थ' महोदय (Woodworth) का तो यहाँ तक कहना है कि 'हम प्रतिमाओं के अभाव में सोच ही नहीं सकते हैं। प्रतिमाओं के बिना किसी पूर्व अनुभूति का प्रत्याह्वान किया जा सकता है, परन्तु उसके बारे में चिन्तन नहीं'। उन्होंने अपने इस

विचार को अपनी 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान' पुस्तक में इस प्रकार से व्यक्त किया है 'What is imageless is not thought so much as recall'. अर्थात् 'प्रत्याह्वान की तरह चिन्तन प्रतिमाहीन नहीं होता'।

'मस्तिष्क और चिन्तन'
(Brain and Thinking)

'चिन्तन करने के समय व्यक्ति का सारा शरीर क्रियाशील रहता है या सिर्फ उसका मस्तिष्क' ? इस पर मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि हम सिर्फ अपने मस्तिष्क के सहारे सोचते हैं। इसे चिन्तन-क्रिया का 'केन्द्रीय सिद्धान्त' कहते हैं। (Central theory of thinking) पर दूसरी ओर अन्य मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि हम अपने 'सारे शरीर' के सहारे सोचते हैं अर्थात् सोचने के समय हमारा सारा शरीर क्रियाशील रहता है। उसे चिन्तन-क्रिया का 'गतिवाही सिद्धान्त' (Motor theory of thinking) की संज्ञा दी गई है। पर अब यह प्रश्न उठता है कि दोनों में कौन-सा सिद्धान्त सही है। यहाँ पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वर्तमान परिस्थिति में हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि दोनों सिद्धान्त आंशिक रूप मे सही हैं। अर्थात् हम 'शरीर तथा मस्तिष्क (Body and Brain or mind) दोनों के सहारे सोचते हैं'।

'जेम्स' (James) आदि मनोवैज्ञानिकों ने विशिष्ट बिजली के यन्त्रों के द्वारा इस बात का पता लगाया है कि 'सोचने के समय व्यक्ति की जीभ तथा गले में ठीक उसी प्रकार की गतिशीलता देखी जाती है जैसी कि बोलने के समय देखी जाती है'। फिर जब बहरे और गूँगे व्यक्तियों को गणित के कुछ प्रश्न हल करने को दिये गये, तो उस सम्बन्ध में 'चिन्तन' करने के समय उनके हाथों में गतिशीलता पाई गई। इस प्रकार की गतिशीलता सामान्य (Normal) व्यक्तियों मे भी पायी जाती है। परन्तु बहरे और गूँगे व्यक्तियों में पाई जानेवाली गतिशीलता सामान्य व्यक्तियों से करीब चारगुनी अधिक थी। इसके अतिरिक्त 'टौटेन' (Totten) तथा 'इवार्ट' (Ewert) महोदयों ने अपने अध्ययनों के आधार पर इस बात का पता लगाया है कि सोचने के समय नेत्रों में ठीक उसी प्रकार की गतिशीलता पायी जाती है जैसी कि उस चीज का वास्तविक निरीक्षण करने तथा उसको पढ़ने के समय होती है। अस्तु,

इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'सोचने के समय हमारे शरीर के विभि
अंगों की मांसपेशियों में क्रियाशीलता या तनाव उत्पन्न हो जाता है'
समस्या जितनी ही कठिन होगी और जितना काफी व्यक्ति को सोचन
पड़ेगा उतनी ही अधिक क्रियाशीलता उसकी मांसपेशियों में पायी जायगी

मस्तिष्क के विभिन्न अंगों की क्रियाओं का उल्लेख करते समय य
'पाँचवें अध्याय' में स्पष्ट कर दिया गया है कि चिन्तन-क्रिया में 'मस्तिष्क
का अग्रखण्ड' (Frontal lobe) का ही प्रधानता है। मस्तिष्क के
इस खण्ड में क्षति पहुँचने पर व्यक्ति की चिन्तन-क्रिया में कमी ह
जाती है। 'फ्रीमैन' (Freeman) तथा 'वाट्स' (Watts) नामक
शल्य-चिकित्सकों (Surgeons) ने इस बात का पता लगाया है कि
पशुओं के मस्तिष्क से उसके अग्रखण्ड को काटकर बिल्कुल निकाल
देने पर उनमें चिन्तन-क्रिया एकदम नहीं देखी जाती है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिन्तन-क्रिया में व्यक्ति क
'शरीर तथा मस्तिष्क' (Body and Brain) दोनों क्रियाशील रहते
अर्थात् चिन्तन-क्रिया का 'केन्द्रीय' (Central) तथा 'गतिवाही' (Motor
दोनों सिद्धान्त सही हैं।

चिन्तन में 'धारणा' और 'अर्थ'
(Concept and Meaning in Thinking)

'धारणा' एक प्रक्रिया है जो विभिन्न वस्तुओं, परिस्थितियों या घटनाओं
के बीच की 'समानता' (Similarities) का 'वर्णन' (Represent)
करती है। जैसे—आदमी, बन्दर, घोड़ा, पेड़ आदि उन्हीं वस्तुओं को कह
जाता है जिनमें कुछ 'सामान्य' गुण हो। चिंतन के फलस्वरूप ह
धारणाओं की उत्पत्ति होती है और एक बार उत्पन्न हो जाने पर बाद के
चिन्तन में इनका प्रधान हाथ रहता है। किसी जटिल भाषा के अधिकांश
शब्दों के द्वारा ही धारणाओं का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ—बिल्ली
आदमी, पेड़, पक्षी, नदी, आदि सभी विभिन्न वस्तुओं के समान 'पहलुओं'
(Common aspects) का वर्णन करते हैं। हालाँकि प्रत्येक आदमी
एक दूसरे से भिन्न होते हैं फिर भी उनमें कुछ समान विशेषताएँ रहती हैं
जिनका ही वर्णन 'आदमी' नामक 'धारणा' (Concepts) से
किया जाता है।

'धारणा का विकास'
(Development of Concept)

धारणा के विकास में क्रमशः निम्नलिखित दो प्रक्रियाओं का समावेश रहता है—(क) 'पृथक्करण' (Abstraction) तथा (ख) 'साधारणीकरण' (Generalization). कभी-कभी तो इनको स्पष्टतया एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये दोनों प्रक्रियाएँ 'धारणा' के विकास मे सदा पाई जाती हैं।

विभिन्न वस्तुओं के समान गुण अथवा विशेषता को अलग कर लेने अथवा उसका निरीक्षण करने को ही 'पृथक्करण' की संज्ञा दी गई है। समान गुणों के 'पृथक्करण' के अभाव में धारणाओं का निर्माण सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ--जिस व्यक्ति ने पहले-पहल 'पशु' नामक धारणा (Concept) का निर्माण किया होगा, उसने इनमें वर्तमान विभिन्नता रहने पर भी कुछ सामान्य विशेषता अथवा गुण को पाया होगा और इसी गुण के आधार पर 'पशु' नामक धारणा का निर्माण उसने किया होगा। यहाँ पर वह समान गुण अवश्य ही 'चौपाया' होगा अर्थात् जो चार पैरों से चले। इसमे कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न प्रकार के पशुओं मे जैसे—घोड़े, हाथी, बाघ, कुत्ते, बिल्ली आदि मे भी काफी विभिन्नता है, फिर भी 'चौपाया' होने का विशेष गुण उन सबों में बिना किसी अपवाद के वर्तमान है। अस्तु, अपने इस अनुभव के आधार पर ही उस व्यक्ति ने सर्वप्रथम सामान्य पशुओं के सम्बन्ध में एक 'सामान्य-धारणा' बनायी होगी। इसी 'सामान्य-धारणा' (Common idea) बनाने की प्रक्रिया को ही 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गई है। 'पृथक्करण' के होने पर 'साधारणीकरण' नहीं भी हो सकता है परन्तु 'साधारणीकरण' का होना 'पृथक्करण' के अभाव में कदापि सम्भव नहीं है।

यहाँ पर स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि सदा 'पृथक्करण' तथा 'साधारणीकरण' की प्रक्रियाएँ चेतन मन के द्वारा ही सम्पन्न होती हों या प्राणी इसे जान-बूझकर ही करता हो।

'धारणा-निर्माण' सम्बन्धी बहुत से 'टेस्ट'(Test) मनोवैज्ञानिकों के द्वारा बनाये गये हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के 'धारणा-निर्माण' करने की क्षमता की जाँच की जाती है। इस सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिकों द्वारा कई 'प्रयोग' भी किये गये हैं जिनका वर्णन यहाँ करना अभीष्ट नहीं। 'धारणाएँ

दो प्रकार की होती हैं—(१) 'अमूर्त्त धारणा' (Abstract concept) तथा (२) 'मूर्त्त धारणा (Concrete concept). इन दो प्रकार की धारणाओं के निर्माण में व्यक्तियों को चिन्तन करना पड़ता है। 'अमूर्त्त धारणाओं' की अभिव्यक्ति 'शब्दों' (Words) द्वारा होती है या यह कहा जाय कि इसमें 'भाषा' का विशेष हाथ रहता है। किसी शब्द द्वारा अभिव्यक्त धारणा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उस शब्द-विशेष के 'अर्थ' को जानना आवश्यक है अन्यथा उससे अभिव्यक्त धारणा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

बच्चों और वयस्कों के 'धारणा-निर्माण' (Concept formation) में अन्तर है। बच्चो मे वयस्कों की अपेक्षा धारणाओं का विकास देर से होता है। कारण यह बतलाया गया है कि बालकों तथा वयस्कों की परिपक्वता में अन्तर है। इसके साथ-साथ बालकों के अनुभवों का क्षेत्र वयस्कों की अपेक्षा अधिक सीमित रहता है।

'रचनात्मक-चिन्तन'
(Creative Thinking)

अभी तक हमने साधारण प्रकार की चितन-क्रिया का वर्णन किया है जो किसी एक मूर्त्त समस्या-विशेष के उपस्थित होने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और उस समस्या का समाधान हो जाने पर समाप्त हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की चिन्तन-क्रिया की अवधि बहुत ही कम होती है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की भी चिंतन-क्रिया होती है जिसकी अवधि पहली प्रकार की चिंतन-क्रिया से कहीं अधिक होती है। इसे ही 'रचनात्मक चिन्तन-क्रिया' की सज्ञा दी गई है। किसी वैज्ञानिक-अन्वेषण तथा आविष्कार करने या किसी प्रमुख सिद्धान्त का प्रतिपादन करने आदि क्रियाएँ जिसे 'रचनात्मक-कार्य' (Constructive work) कहते हैं, रचनात्मक-चिंतन के बिना सम्भव नहीं हैं।

विशिष्ट अध्ययनों के आधार पर यह पता लगा है कि 'रचनात्मक चिंतन-क्रिया' के निम्नलिखित चार मुख्य अंग हैं—

(क) 'तथ्य-संग्रह' अथवा तैयारी (Collection of facts or preparation), (ख) 'गर्भीकरण' (Incubation), (ग) 'स्फुरण' (Illumination or inspiration). (घ) 'प्रमापन' (Verification).

अब हम इन चारों अंगों की व्याख्या उदाहरणों की सहायता से करेंगे—

(क) 'तथ्य-संग्रह' अथवा तैयारी (Collection of facts or preparation)—प्रत्येक प्रकार की 'शिक्षा' (Education) रचनात्मक-चिंतन के लिए तैयारी करने के हेतु ही दी जाती है। जैसे—'पेनिसिलिन' (Penicilin) का निर्माण करनेवाला इसका निर्माण करने मे समर्थ नहीं होता यदि उसे पहले चिकित्सा-शास्त्र (Medicine) में पर्याप्त शिक्षा नहीं मिली होती। रचनात्मक-चिंतन करने के लिए आवश्यक तथ्यों का पता लगाना पड़ता है जो 'रचनात्मक कार्य-विशेष' को करने मे सहायता प्रदान करता है। आवश्यक तथ्यों का संग्रह करने मे व्यक्ति को 'प्रयत्न और भूल की विधि' का उपयोग करना पड़ता है।

(ख) 'गर्भीकरण' (Incubation)—'गर्भीकरण' रचनात्मक चिंतन-क्रिया का दूसरा प्रमुख अंग है। इस अवस्था में वाह्य-व्यवहार का अभाव रहता है और किसी-किसी अवस्था म तो उस समस्या-विशेष के सम्बन्ध मे व्यक्ति कुछ सोचता तक भी नहीं है। फिर कभी-कभी बीच मे उस समस्या से सम्बन्धित कुछ विचार उस व्यक्ति के मस्तिष्क में आते भी हैं। 'गर्भीकरण' के वाद आनेवाली अवस्था को देखकर कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि जब 'रचनात्मक-चिंतन' करनेवाला अपना ध्यान समस्या-विशेष से दूसरी ओर लगाता है तो इसी बीच में उसकी समस्या का समाधान 'अचेतन रूप' (Unconsciously) से हो जाता है। इस बात को गलत साबित करना या इसका पुष्टीकरण करना असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है। कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति जब अपनी समस्या को छोड़ सो जाता है तो 'स्वप्न' में भी अपनी समस्या से सम्बन्धित बातों को देखता है। ये 'सम्बन्धित-क्रियाएँ' (Associative activities) जो एक वार शुरू हो जाती हैं वे सदा किसी-न-किसी रूप में तबतक जारी रहती हैं जब तक व्यक्ति 'रचनात्मक कार्य-विशेष' को कर नहीं लेता है। इस क्रिया को 'दीर्घ प्रयत्न' (Perseverance) करने की संज्ञा दी गई है। इस अवस्था में 'रचनात्मक विशेष कार्य' करने में प्रगति नहीं दीख पड़ती है। अस्तु, इसे 'सीखने की क्रिया के पठार' (Plateau of Learning) के समान माना गया है।

(ग) 'स्फुरण' (Illumination or inspiration)—यह 'रचनात्मक चिंतन-क्रिया' का तीसरा अग है। अधिकांश रचनात्मक चिंतन-

कर्त्ताओं का कहना है कि 'गर्भीकरण' की अवस्था के पश्चात् उनके 'रचनात्मक-विचार' (Creative ideas) अचानक चले आते हैं। इसे ही स्फुरण की क्रिया की संज्ञा दी गई है। यह 'स्फुरण' कभी भी स्वप्न की अवस्था मे भी व्यक्ति मे आ सकता है। यह समस्या-विशेष का समाधान करने में व्यक्ति को समर्थ बनाता है। इस अवस्था को सीखने की क्रिया की 'सूक्ष की प्रक्रिया' (Process of Insight) के अनुरूप माना गया है।

साधारणतः 'प्रयत्न और भूल' की प्रक्रिया, रचनात्मक-चिंतन के 'गर्भीकरण' की अवस्था से अधिक 'तथ्य-संग्रह' की अवस्था में पायी जाती है। अनेक रचनात्मक चिंतनकर्त्ताओं ने यह बतलाया है कि 'प्रयत्न और भूल की प्रक्रिया' रचनात्मक-चिंतन की किसी भी अवस्था मे नहीं वर्तमान रहती है तथा समस्या-विशेष से ध्यान हटा लेने के पश्चात् ही अचानक उनमें 'स्फुरण' की अवस्था देखी जाती है, जो उस समस्या-विशेष का समाधान करा देती है।

(घ) 'प्रमापन' (Verification)—रचनात्मक-चिंतन की सबसे आखिरी अवस्था को 'प्रमापन' की अवस्था के नाम से पुकारा गया है। 'स्फुरण' ही कभी-कभी रचनात्मक-चिंतन की अन्तिम अवस्था होती है। अधिकांश अवस्थाओं (Instances) में स्फुरण की अवस्था में आये विचारों की जाँच आवश्यक हो जाती है। अर्थात् यह पता लगाना आवश्यक हो जाता है कि कहाँ तक यह विचार 'तर्कपूर्ण' (Logical) है और यह रचनात्मक कार्य को करने में समर्थ होगा अर्थात् 'स्फुरण' की अवस्था में प्राप्त समस्या-समाधान की विधि की सत्यता की जाँच रचनात्मक-चिंतनकर्त्ता प्राप्त 'समस्या-समाधान-विधि' का पुनः निरीक्षण एक 'नियन्त्रित अवस्था' (Controlled condition) में करता है। अस्तु, इस प्रकार 'स्फुरण' के आधार पर बनाये सिद्धान्तों की पुनः जाँच की जाती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इसी अवस्था में स्फुरित विचारों की 'विश्वसनीयता' (Reliability) तथा 'सत्यता' (Validity) की जाँच की जाती है।

अब हम एक उदाहरण से 'रचनात्मक-चितन-क्रिया' के उपर्युक्त चारों अवस्थाओं को अत्यधिक रूप से स्पष्ट करेंगे। एक वैज्ञानिक को किसी विशेष चीज का 'आविष्कार' (Invention) करने के लिए रचनात्मक-

चिंतन करना पड़ता है। अस्तु, उसे 'रचनात्मक-चिंतन-क्रिया' के उपर्युक्त चारों अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। पहले वह आविष्कार के सम्बन्ध में उपयुक्त 'तथ्यों का संग्रह' करता है। फिर 'गर्भीकरण' की अवस्था आती है जिसम कुछ समय के लिए वह प्रत्यक्ष रूप से अपने आविष्कार के सम्बन्ध मे चिंतन करना स्थगित कर देता है। इस अवस्था को 'मुर्गी के अण्डे सेवने की अवस्था' से मिलाया गया है, चूँकि इसी अवस्था के बाद वह अवस्था आती है जब अचानक समस्या-समाधान ठीक उसी प्रकार स्फुरित हो उठता है जिस प्रकार अण्डा सेवने के बाद उसमें से मुर्गी का बच्चा निकल जाता है। इसे 'स्फुरण' की अवस्था कहते हैं। तत्पश्चात् ही 'वैज्ञानिक' (Scientist) अपने आविष्कार-विशेष को करने म समर्थ हो जाता है। यह रचनात्मक-चिंतन की तीसरी अवस्था है। और अन्त मे अपने इस स्फुरित ,विचार की 'विश्वसनीयता तथा सत्यता' (Reliability and Validty) की जाँच अथवा 'प्रमापन' अपनी प्रयोगशाला (Laboratory) में उस अवस्था में पुनः दुहराकर, उनका 'नियन्त्रित निरीक्षण' (Controlled observation) कर, करता है।

——— —

चौदहवाँ अध्याय

भाव

(Feeling)

भूमिका—भाव का स्वरूप—भाव की विशेषताएँ—संवेदना तथा भाव में अन्तर—क्या भाव संवेदना का गुण है ?—भाव-सम्बन्धी सिद्धान्त—'ऊँट' महोदय का भाव-सम्बन्धी 'त्रिदिशात्मक सिद्धान्त'—मिश्रित-भाव ।

हमारे मन के तीन पहलू होते हैं—'ज्ञानात्मक' (Cognitive), 'भावात्मक' (Affective) तथा 'क्रियात्मक' (Conative) जिनमें परस्पर सम्बन्ध है। भाव प्रत्येक संवेगात्मक अनुभूति का एक अंग है। कुछ वस्तु या व्यक्ति तथा परिस्थितियाँ जो संवेगात्मक परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती हैं फिर भी वे हममें सुख या दुःख की अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं।

मानव-व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए हमें खुश या नाखुश करनेवाली चीजों का ज्ञान एक बहुत ही व्यावहारिक महत्व रखता है। जो रंग, गंध तथा स्वाद हममे खुशी का भाव उत्पन्न करती है, उनको हम अधिक पसन्द करते हैं। इसके अतिरिक्त जो वस्तु अथवा परिस्थिति हममे दुःख का भाव पैदा करती है, उनको हम नापसन्द ही नहीं करते बल्कि उनसे घृणा भी करते हैं। अतः पसन्द या नापसन्द सम्बन्धी अध्ययन भाव का अध्ययन करता है। यह एक 'अप्रत्यक्ष अध्ययन' है। सफल विज्ञापन करने तथा मनोवृत्ति का पता लगाने के लिए ललित-कला-सम्बन्धी पसन्दों का अध्ययन अति आवश्यक है। हमारे वातावरण के बहुत से अंग, यहाँ तक कि दूसरे व्यक्ति तथा उनके व्यवहार प्रायः हमें कष्ट देते हैं (Source of annoyance). यदि एक व्यक्ति यह जान

पाता है कि उसके कौन-कौन-से व्यवहार दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं तो वह उनमें सुधार लाकर उन्हें प्रसन्न कर सकता है।

मानसिक जीवन में भाव का स्थान—जीवन के प्रत्येक क्षण में किसी-न-किसी रूप में हम भाव तथा संवेग से प्रभावित होते रहते हैं। कभी-कभी तो वे अनुभूति तथा व्यवहार दोनों में प्रधान स्थान रखते हैं। यदि कोई व्यक्ति बैठकर अपने पसन्दों तथा नापसन्दों की एक सूची बनाये जिसने किसी एक अमुक दिन उसके व्यवहारों को प्रेरित किया है, तो वह सूची निस्सन्देह आश्चर्यजनक रूप में बड़ी होगी। हमारी अनुभूतियों में परस्पर-सम्बन्धी मानसिक क्रियाओं का एक गहन जाल-सा बिछा हुआ है जिसमें सुख या दुःख के भाव इस तरह मिले हुए हैं कि उनको हमारी अनुभूतियों से अलग करना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव भी है। उदाहरण के लिए हम क्रोध के संवेग को ही ले लें। यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि उसमें एक अनोखे प्रकार की अनुभूति रहती है, जिसे भाव के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर भाव का जटिल संवेगात्मक अनुभूति के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि साधारण संवेदनाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्षीकरण के गहन ज्ञानात्मक अनुभूति से है।

भाव का स्वरूप
(Nature of Feeling)

भावात्मक जीवन को अत्यधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए की गयीं व्याख्याओं में दिन-प्रतिदिन नये-नये विकास एवं परिवर्तन होते जा रहे हैं। फिर भी हम साधारण भावों को इस प्रकार की अनुभूति के प्रारम्भिक अंग के नाम से पुकारते हैं। हम अपने जीवन में प्रत्येक दिन कहते हैं कि वातावरण के अमुक व्यक्ति, वस्तु अथवा घटना ने हमें सुख या दुःख पहुँचायी है। हमारी कोई भी मानसिक प्रक्रिया ऐसी नहीं है जो किसी न किसी अर्थ में न तो सुखकर हो या न दुःखकर हो। वे अन्य मानसिक क्रियाओं के साथ इस तरह मिले हुए हैं कि उनको उनसे अलग करना सम्भव नहीं है। परन्तु एक बात जो मुख्यतः स्मरण रखने योग्य है वह यह है कि हमारी कोई भी मानसिक प्रक्रिया ऐसी नहीं है जो एक ही समय दुखःकर तथा सुखकर दोनों हो। यही कारण है कि हम इसे 'विशुद्ध भाव' की संज्ञा (Pure feeling) देते हैं। वे या तो सुखकर ही होंगी या दुःखकर। अर्थात् 'मिश्रित भाव' (Mixed feeling) नाम की कोई

अनुभूति नहीं है। जब भाव स्थायी रूप से किसी खास ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी घटना के निकट सम्बन्ध में चले आते हैं तो हम उन्हें 'ज्ञान-भाव' (Sense feeling) से सम्बोधित करते हैं। उदाहरणार्थ—भूख-प्यास, सरदर्द तथा पीड़ा आदि दुःखद भावों का सम्बन्ध हमारे विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों से रहता है। यहाँ जो भी संवेदनाएँ होती हैं उनका सदा एक भावात्मक पहलू रहता है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रत्येक चेतन अनुभूति से सम्बन्धित सुख या दुःख के अनुभव को ही भाव की संज्ञा दी जाती है। यह चेतन मानसिक प्रक्रियाओं का सरलतम तथा प्रारम्भिक भावात्मक पहलू है, ठीक जैसे की संवेदना चेतना अनुभूति का सबसे सरल तथा तथा प्रारम्भिक ज्ञानात्मक प हलू है। (Feeling is the most simple and elementary process of the feeling aspect of any mental process just as sensation is the most simple and elementary process of the cognitive aspect of mental life). अर्थात् सवेदना की तरह इसका भी विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। इसका सम्बन्ध हमारे प्रत्येक चेतन अनुभूति तथा व्यवहार से रहता है।

भाव की विशेषताएँ
(Characteristics of Feeling)

भाव की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) यह एक सरलतम तथा प्रारम्भिक भावात्मक मानसिक प्रक्रिया है जिसका विश्लेषण करना सम्भव नहीं है।

(२) भाव दो प्रकार के होते हैं—सुख या दुःख।

(३) एक साथ एक से अधिक भाव नहीं हो सकते हैं जैसे हम एक ही समय सुख या दुःख का अनुभव नहीं कर सकते हैं। अर्थात् मिश्रित भाव (Mixed feelings) का होना सम्भव नहीं है।

(४) यह बहुत ही चचल है और क्षणिक होता है। एक के बाद दूसरे भाव का अनुभव होता रहता है। जैसे दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुख।

(५) भाव का सम्बन्ध शरीर के किसी एक अंग-विशेष से स्थापित नहीं किया जा सकता है। भाव का सम्बन्ध सपूर्ण शरीर से रहता है।

(६) भाव की मात्रा में अन्तर होता है अर्थात् दुःख एवं सुख की मात्रा में अन्तर रह सकता है जिसे साहित्यकारों ने विभिन्न नामों से पुकारा है।

(७) इसका सम्बन्ध चेतन अनुभूति तथा व्यवहार से सदा रहता है अर्थात् प्रत्येक अनुभूति और व्यवहार के साथ किसी-न-किसी प्रकार का भाव सदा मिला रहता है।

(८) यह आत्मगत होता है। यह सदा व्यक्ति-विशेष के अन्दर ही होता है अर्थात् इसका कोई वाह्य प्रदर्शन नहीं होता है। अतः इसका अध्ययन सिर्फ अन्तनिरीक्षण की विधि के द्वारा ही सम्भव है।

'संवेदना तथा भाव में अन्तर'
(Distinction between Sensation and Feeling)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्राथमिक तथा अविकसित प्रकार के संवेदनाओं को ही भाव की संज्ञा दी है। परन्तु ऐसा कहना गलत है। हालाँकि संवेदना तथा भाव दोनों ही क्रमशः चेतन अनुभूति के ज्ञानात्मक तथा भावात्मक पहलू से सम्बन्धित सरलतम प्राथमिक मानसिक क्रियायें हैं, फिर भी दोनों में निम्नलिखित विशेष अन्तर है। अतः हम दोनों को एक न मानकर दो विभिन्न मानसिक प्रक्रिया मानते हैं।

(क) संवेदना के बाद भाव का अनुभव होता है। संवेदना के बिना भाव नहीं हो सकता है। संवेदना हमारे चेतन अनुभूति का एक वस्तुगत अंग प्रस्तुत करता है तो भाव आत्मगत। संवेदना से हमें किसी वस्तु या परिस्थिति का आभास मिलता है परन्तु भाव हमारी ही मानसिक-अवस्था का वर्णन करता है। अर्थात् संवेदना वस्तुगत है तो भाव आत्मगत है। एक उदाहरण से इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे—जब बच्चा मिठाई देखता है तो उसे दृष्टि-संवेदना होती है जिससे की उसे मिठाई का ज्ञान होता है। मिठाई को देखकर उसे प्रसन्नता होने के कारण सुख का अनुभव होता है। यहाँ सुख का अनुभव जो हुआ उसे ही भाव कहेंगे। यह मिठाई से उत्पन्न उत्तेजना को ग्रहण करने के पश्चात् बालक की जो मानसिक-अवस्था हुई उसका बोध कराता है। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जहाँ संवेदना से हमें किसी वस्तु का आभास मिलता है वहाँ भाव वस्तु-विशेष की संवेदना के फलस्वरूप उत्पन्न हमारी मानसिक-अवस्था का बोध कराता है।

(ख) जहाँ संवेदना जितनी तरह की ज्ञानेन्द्रियाँ है उतनी ही प्रकार की होती है वहाँ भाव सिर्फ दो प्रकार का होता है। जैसे—'सुख या दुख का

भाव', परन्तु दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद, गन्ध आदि प्रकार की संवेदनाओं होती हैं।

(ग) संवेदना का 'स्थान-निरुपण' हो सकता है, चूँकि इसका सम्बन्ध किसी न किसी अंग-विशेष से सदा रहता है। लेकिन भाव मे यह सम्भव नहीं है चूँकि इसका सम्बन्ध किसी एक अंग विशेष से न होकर शरीर से रहता है।

(घ) एक समय एक से अधिक संवेदनाएँ हो सकती हैं परन्तु भाव एक समय एक ही प्रकार का हो सकता है, जैसे दुख या सुख का। एक नारंगी को खाते समय व्यक्ति में एक ही समय दृष्टि, गन्ध, स्पर्श तथा स्वाद सभी प्रकार की संवेदनाएँ होती हैं, परन्तु, खाने से सुख या दुख, दोनों मे से कोई एक ही भाव उसमें उत्पन्न होता है। 'मिश्रित भाव' का होना सम्भव नहीं है। अर्थात् जहाँ संवेदनाओं में विभिन्नता पायी जाती है वहाँ भाव में विरोध पाया जाता है।

(ङ) संवेदनाओं को प्रतिमा के रूप में पुनः उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु भाव में 'अनुस्मृति' (Reproduce) लागू नहीं होती है। भाव सर्वदा नया होता है। भूतकाल में ग्रहण की गई संवेदनाओं की मानसिक-प्रतिमायें पुनः उत्पन्न करना सम्भव है। परन्तु भाव को पुनः मानसिक चेतना में नहीं लाया जा सकता है।

ध्यान देने की दृष्टि से भी संवेदना तथा भाव में अन्तर है।

(च) सचेत चेतनावस्था में संवेदना तथा भाव का स्वरूप भिन्न रहता है। ध्यान देने से संवेदना स्पष्ट हो जाती है, इसके विपरीत ध्यान देने से भाव लुप्त हो जाता है। संवेदना की तरह भाव में भी गुण, मात्रा तथा सत्ताकाल सम्बन्धी अन्तर हो सकते हैं परन्तु उनमें 'इन्द्रियग्राह्य स्पष्टता-सम्बन्धी' कोई अन्तर नहीं होता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि स्पष्टता के दृष्टिकोण (from the view point of clearness) से संवेदना तथा भाव में अन्तर नहीं किया जा सकता है।

'क्या भाव संवेदना का एक गुण है ?'
(Is feeling an attribute of sensation)

एक ओर चूँकि प्रत्येक संवेदना में प्रसन्नता या अप्रसन्नता का भाव रहता है कुछ मनोवैज्ञानिक ने भाव को संवेदना के एक गुण या विशेषता की संज्ञा दी है। इस तरह उनके दृष्टिकोण में भाव का अपना

कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता है (Feeling has no status as an element of knowledge)—परन्तु दूसरी ओर चूँकि भाव में किसी न किसी तरह का इन्द्रिय-सम्बन्धी परिवर्त्तन अवश्य होता है कुछ मनोवैज्ञानिकों ने भाव को प्राथमिक एवं अविकसित आन्तरिक इन्द्रिय-संवेदना कहा है। परन्तु ऐसा कहना गलत है। यदि दो क्रियायें एक साथ होती हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि ये समान हैं। यदि निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों अभिन्न नहीं, वरन् विभिन्न है।

(१) गुण या विशेषण का अर्थ (Meaning of an attribute)—हम विशेषता या गुण उसी को कहते हैं जिसके अभाव मे उस चीज, वस्तु या क्रिया जिसका की वह गुण है उसकी कोई अपनी सत्ता नहीं रह जाती है। परन्तु 'कुलपे' (Kulpe) नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का अपने अध्ययनों के आधार पर कहना है कि चूँकि बिना किसी भाव के भी संवेदना होती है, इसलिए हम भाव को संवेदना की विशेषता या गुण नहीं कह सकते हैं।

(२) संवेदना की कुछ विशेषतायें जैसे तीव्रता (Intensity) और सत्ताकाल (Duration) भाव में भी पाये जाते हैं। अतः यदि भाव संवेदना की विशेषता रहता तो स्वयं भाव मे संवेदना की उपर्युक्त विशेषता नहीं पायी जातीं।

(३) संवेदना वस्तुगत (Objective) है तो भाव आत्मगत (Subjective) है। एक ही संवेदना के साथ विभिन्न समय में विरोधी भाव पाये जाते हैं। जैसे कॉलेज की घण्टी सुनकर परीक्षा के समय विद्यार्थियों को यह जानकर की समय बितता जा रहा है और वे पूरा प्रश्न नहीं लिख पाये हैं, उन्हें दुख का भाव होता है। परन्तु जब वर्ग में शिक्षक के भाषण में रुचि नहीं हो तो उसी घण्टी के बजने पर उन्हें सुख का अनुभव होता है। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि एक ही संवेदना में विभिन्न समय में व्यक्ति में उसके मानसिक झुकाव के अनुकूल उसके भाव में विभिन्नता पायी जाती है। चूँकि समान सवेदना के रहते हुए भी उनसे सम्बन्धित भाव बदलते रहते हैं, इसलिए भाव को संवेदना का गुण कहना उचित नहीं होगा। अतः हम अन्त में निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि भाव सवेदना का एक गुण-मात्र नहीं है वरन् अन्य मानसिक प्रक्रियाओं की तरह इसका भी अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है।

'भाव-सम्बन्धी सिद्धान्त'
(Theories of Feeling)

प्राथमिक भावों (Elementary feelings) की संख्या—भाव कितने प्रकार के हैं, इस पर भी मनोवैज्ञानिकों मे एक मत नहीं है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि साधारणतः दो ही प्रकार के भाव माने जाते हैं परन्तु 'ऊंट' (wundt) नामक प्रसि द्धमनोवैज्ञानिक ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि भाव को हम सिर्फ दो ही भाग में नहीं बाँट सकते वरन् भावों का वर्गीकरण निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है, जिसको उन्होंने भाव क 'त्रिदिशात्मक-सिद्धान्त' (Tridimensional theory of feeling) की सज्ञा दी है—(१) 'सुख-दुख' (Pleasantness-unpleasantness) (२) 'उद्दीप्त-शान्त' (Excitementn-calm) तथा (३) 'विज्ञाप-विराम' Ten-(sion-Relief).

इन क कथनानुसार यद्यपि भाव एक इकाई की अवस्था (unitary state) है फिर भी हम हमेशा अपने भावों को उपर्युक्त दिशाओं मे से किसी एक में निरूपित कर सकते हैं। जैसे—एक क्षण हमें सुख, उत्तेजना तथा विराम के भाव का अनुभव होता है तो दूसरे क्षण दुख, शान्ति तथा तनाव का। यद्यपि 'ऊट' (Wundt) ने भाव को इन तीन दिशाओं मे बाँटा है, फिर भी हम कह सकते हैं कि यदि भाव को एक ही दिशा अर्थात् सुख-दुख मे बाँटा जाय तो बाकी दोनों दिशायें इसमे सम्मिलित हो जाती हैं। जब हमें सुख के भाव का अनुभव होता है तो हमे उद्दीपनता तथा चैन (Excitement and Relief) दोनों की अनुभूति होती है। ठीक इसक विपरीत जब हमें दुख क भाव का अनुभव होता है तो हमे शान्ति तथा तनाव की भी अनुभूति होती है।

'ऊंट' महोदय के इस त्रिशात्मक-सिद्धान्त की आलोचना, उनक शिष्य 'टिचेनर' (Titchener) महोदय ने भी अपने अध्ययनों के आधार पर किया है जिसका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

'मिश्रित-भाव'
(Mixed feeling)

इस अध्याय के आरम्भ म ही कह दिया गया है कि मिश्रित-भाव नहीं होता है। प्रायः लोगों को हम यह कहते हुए पाते हैं कि एक ही

साथ वे सुख-दुःख दोनों प्रकार के भावों का अनुभव करते हैं। किसी अपने मित्र के पदोन्नति पाकर दूसरी जगह जाने के समय, उसकी विदाई के अवसर पर हम भाषण देते समय प्रायः कहते हैं कि हमे इस समय एक प्रकार के मिश्रित भाव का अनुभव हो रहा है। अर्थात् सुख और दुःख का अनुभव एक साथ हो रहा है। सुख का भाव इसलिए हो रहा है कि वे तरक्की पाकर जा रहे हैं परन्तु दुःख इसलिए हो रहा है कि हम उनसे बिछुड रहे हैं। लेकिन ऐसा कहना सर्वथा भूल है। हममें एक ही समय सुख और दुःख दोनों प्रकार के भावों का अनुभव कदापि नहीं होता है। एक समय हमें दुख या दुःख दोनों में किसी एक ही तरह के भाव का अनुभव होता जिसे हम 'विशुद्ध भाव' (Purefeeling) की संज्ञा देते हैं। जैसा कि भाव की विशेषताओं पर प्रकाशः डालते समय कहा जा चुका है कि हमारे भाव इतने चंचल एवं क्षणिक होते है कि हमें ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय में हम दो प्रकार के भावों का अनुभव करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि वे क्षण-क्षण बदलते रहते हैं अर्थात् एक क्षण सुख का अनुभव होता है तो शीघ्र दूसरे समय दुःख का। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण को ही ले लें। हम जब अपने मित्र से बिछुड़ने के बारे मे सोचते हैं तो हमें दुःख का अनुभव होता है परन्तु दूसरे ही क्षण जब उनकी पदोन्नति की बात ध्यान में आती है तो उसके शुभचिन्तक होने के नाते हमें सुख का अनुभव होता है। अतः उस समय हमारे विचारों मे परिवर्तन होने के साथ-साथ क्षण-प्रति-क्षण हमारे भाव भी बदलते रहते हैं। उनके शीघ्रातिशीघ्र बदलने के स्वभाव के कारण उस क्षण विशेष मे व्यक्ति को ऐसा लगता है—जैसे कि उसमें सुख और दुःख दोनों प्रकार के भावों का अनुभव एक साथ ही हो रहा हो। परन्तु बात ठीक इसके विपरीत है अस्तु, हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हम एक ही समय मिश्रित-भाव (सुख और दुःख दोनों साथ-साथ) का अनुभव नहीं होता, बल्कि एक क्षण-विशेष में हम एक ही 'विशुद्ध भाव' (सुख या दुःख) का ही अनुभव करते हैं (Feelings are pure and not mixed). इस बात को 'केलौग' (Kellog), 'फेलन' (Phelan) तथा 'यंग' (Young) आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों के द्वारा सिद्ध कर दिया है जिनका उल्लेख विस्तार में यहाँ करना अभीष्ट नहीं है।

———

पन्द्रहवाँ अध्याय

संवेग

(Emotion)

भूमिका—संवेग की परिभाषा—संवेग तथा भाव में अन्तर।

संवेग में निहित शारीरिक प्रक्रियाएँ।

संवेग के दो पहलू—संवेगात्मक अनुभूति एवं संवेगात्मक व्यवहार।

संवेगात्मक अनुभूति तथा अन्तर्निरीक्षणात्मक विधि।

संवेगात्मक व्यवहार—'वाह्य' एवं 'आन्तरिक' संवेगात्मक व्यवहार।

वाह्य संवेगात्मक व्यवहार—मुखाकृत्तिक अभिव्यञ्जन, स्वाराभिव्यञ्जन तथा शारीरिक-स्थिति में परिवर्तन।

आन्तरिक सवेगात्मक व्यवहार—साँस लेने की क्रिया, हृदय की गति, रक्त-सम्बन्धी परिवर्तन, रस-पाक में परिवर्तन, अँतड़ियों की क्रिया अथवा पाचन-क्रिया आदि में परिवर्तन, त्वक्-प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन तथा ग्रन्थि-क्रियाओं में परिवर्तन।

संवेग में निहित नाड़ी-यन्त्र—वृहन्मस्तिष्कीय-वल्क, स्वतः संचालित स्नायुमण्डल—सहानुभूतिक एवं उपसहानुभूतिक भाग तथा हाइपोथैलेमस।

संवेग के सिद्धान्त—सामान्य सिद्धान्त, जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त तथा इसकी आलोचनाएँ तथा हाइपोथैलेमिक सिद्धान्त।

संवेग-सिद्धान्तों-सम्बन्धी निष्कर्ष।

सवेग शब्द की उत्पत्ति 'लैटिन' (Latin) शब्द 'इमोभर' (Emovere) से हुआ है जिसका अर्थ होता है 'उत्तेजित करना' (To stir up) या 'घबड़ा देना' (To agitate). प्रत्येक व्यक्ति ने अपने तथा दूसरे क सवेगात्मक-प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया है

और वह जानता है कि व्यक्ति सिर्फ संवेग का अनुभव ही नहीं करता है बल्कि वह संवेगात्मक-व्यवहार भी करता है। वह यह भी जानता है कि संवेग उत्पन्न करनेवाले कोई उत्तेजक जब उसे उत्तेजित करते हैं तो वह सारे शरीर मे संवेग का अनुभव करता है। अर्थात् वे उसके सम्पूर्ण शरीर को उत्तेजित करते हैं। वह जानता है कि प्रायः संवेग हमारे वर्तमान अनुभूति तथा व्यवहारों मे एक प्रकार का 'उपद्रव' ला देता है। ये व्यक्ति को उत्तेजित कर उसकी क्रियाओं को उद्दीपन कर देता है। संवेग की उत्पत्ति वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की उत्तेजनाओं द्वारा होती है जैसे—संवेग को उत्पन्न करनेवाली परिस्थिति या तो धमाके की आवाज हो सकती है या पेट में दर्द या इन बातों का विचार भी, जैसे कि घर के किसी कोने में कोई चोर छिपा बैठा है आदि। अतः यह स्पष्ट है कि सवेग के दो पहलू हैं—(१) चेतनानुभूति-संबंधी तथा (२) व्यवहार-संबंधी।

परिभाषा—सवेग की परिभाषा के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिकों मे एक-मत नहीं है। परन्तु उनके द्वारा दिये गये संवेग की परिभाषाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि 'संवेग एक साधारण तथा प्राथमिक मानसिक अवस्था नही है वरन् यह एक जटिल भावात्मक मानसिक प्रक्रिया है'। संवेग का संबन्ध मन के भावात्मक पहलू से है। गत अध्याय मे भाव के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भाव जब वाह्य एवं आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों में अपने को अभिव्यक्त कर देता है तो इसे संवेग की संज्ञा दी जाती है। हालाँकि मनोवैज्ञानिकों में संवेग की परिभाषा के सम्बन्ध मे मतभेद है फिर भी उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखने पर हमें 'पी० टी० यंग' महोदय (P. T. Young) द्वारा दी गई संवेग की परिभाषा उपयुक्त मालूम होती है, जो इस प्रकार है—"Emotion is an acute disturbance of the individual as a whole, psychological in orign, involving behaviour, conscious experience and visceral functioning." अर्थात् संवेग की अवस्था में व्यक्ति के व्यवहारों मे 'तीव्र क्षुब्धता' (Acute disturbance) उत्पन्न हो जाती है जिसका प्रभाव उस व्यक्ति पर 'पूर्णरूप से' (as awhole.) पड़ता है। इसकी उत्पत्ति मानसिक होती है तथा इसके फल-स्वरूप व्यवहार-चेतन अनुभूति तथा अन्तरावयव-सम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं। इस परिभाषा की यदि थोड़ी-सी व्याख्या की जाय तो सवेग की विशषताओं का समुचित ज्ञान प्राप्त होने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

इसे 'तीव्र' (Acute) इसलिए कहा जाता है कि संवेग प्रायः एकाएक (Suddenly) तीव्र रूप मे होता है और कुछ देर के बाद क्षीण होकर लुप्त हो जाता है। इसे 'क्षुब्धता (Disturbances) उत्पन्न करनेवाला' इसलिए कहा जाता है कि साधारण सवेगो (Mildest emotions) के अतिरिक्त सभी सवेग अपने उत्पन्न होने के साथ-साथ ही उस समय जो भी कार्य व्यक्ति करता रहता है अथवा उसकी मानसिक-स्थिति जिस प्रकार की भी रहती है उसमे 'उपद्रव' (Disturbances) उत्पन्न करता है। 'सम्पूर्ण रूप मे' (As a whole) इसलिए कहा गया है कि जब व्यक्ति में सवेगात्मक-उपद्रव (Emotional disturbance) होता है तो वह अपने पूरे शरीर में एक प्रकार के उपद्रव का अनुभव करता है (Disturbed all over . 'मनोवैज्ञानिक-उत्पत्ति' (Psychological in origin) इसलिए कहा गया है कि व्यक्ति में कुछ उपद्रव जो 'एड्रीनीन' (Adrenin) आदि की सूई तथा अन्य दवाओं के प्रभाव मे उत्पन्न किये जाते हैं उन्हें सवेग नहीं कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक-उत्पत्ति उसे कहते हैं जिसमें अनुभूति एवं व्यवहारों की उत्पत्ति किसी वाह्य एवं आन्तरिक उत्तेजना के कारण साधारण ज्ञानवाही तथा क्रियावाही स्नायु मार्गों (Usual sensory-motor channels) के द्वारा होती है अर्थात् संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह एक परिस्थिति है जिसमें उत्तेजनाओं के प्रति व्यक्ति प्रतिक्रियाएँ करता है। 'व्यवहार' (Behaviour), 'चेतन-अनुभूति' (Conscious experience) तथा 'अन्तरावयवों' (Viscera), ये तीनों क्रियाएँ संवेग की अवस्था में होती हैं। अस्तु, सवेग की परिभाषा उपर्युक्त प्रकार से दी गयी है। इस परिभाषा को हम एक उदाहरण के द्वारा अधिक स्पष्ट कर सकते हैं, जैसे—जब कमरे मे पढते एक व्यक्ति की दृष्टि एकाएक सामने पड़े एक जीवित सर्प के ऊपर पड़ती है तो उसमे भय का सवेग उत्पन्न हो जाता है। यदि उसकी संवेगात्मक-स्थिति (Emotional state) का विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट होगा कि सर्प का एकाएक प्रत्यक्षीकरण होने के फलस्वरूप उसे भय का सवेग उत्पन्न होता है तथा उसमे कुछ 'आन्तरिक एव वाह्य' (Internal and External) शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं। संवेग की अवस्था में व्यक्ति-विशेष में एक प्रकार का 'तीव्र उपद्रव' (Acute disturbance) उत्पन्न हो जाता है, जो उसके सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करता है। इस परिस्थिति-विशेष में सफल अभियोजन करने

के लिए वह व्यक्ति कुछ व्यवहार भी करता है। जैसे—या तो वह भागता है या वह पास पड़े डण्टे से सर्प को मार डालता है।

अस्तु, संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि संवेग की अवस्था में उस व्यक्ति की वर्तमान मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में एक प्रकार का उपद्रव उत्पन्न हो जाता है जो उसके सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करता है। इसकी उत्पत्ति भी मनोवैज्ञानिक ढंग से (Psychological in Origin) होती है। तथा उस समय व्यक्ति में निम्नलिखित तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—

(१) 'चेतन-अनुभूति-सम्बन्धी' (Conscious experience), (२) 'व्यवहार-सम्बन्धी' (Behaviour) तथा (३) 'अन्तरावयव-सम्बन्धी' (Visceral functioning).

या हम कह सकते हैं कि सवेग की उत्पत्ति मे निम्नलिखित बातें पायी जाती हैं—

(क) किसी उत्तेजना-विशेष के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप प्राणी का उत्तेजित हो जाना।

(ख) इस उत्तेजित अवस्था का प्राणी को ज्ञान या चेतन-अनुभूति होना।

(ग) इस उत्तेजना के फलस्वरूप बाह्य एवं आन्तरिक परिवर्तनों का होना।

(घ) अन्त में इस उत्तेजना-विशेष अथवा परिस्थिति-विशेष से अभियोजन के हेतु संवेगात्मक व्यवहारों का होना।

'संवेग तथा भाव में अन्तर'
(Distinction between Emotion and Feeling)

साधारणतः कुछ मनोवैज्ञानिकों ने भाव तथा संवेग को विभिन्न नहीं मानकर एक ही समझा है, परन्तु ऐसा कहना सर्वथा भूल है। हालाँकि संवेग एवं भाव का सम्बन्ध मन के 'भावात्मक पहलू' (Feeling aspect) से होने के कारण उनमें 'प्रकार-भेद' नहीं है (Difference in kind), फिर भी दोनों मे निम्नलिखित अन्तर होने के कारण ये दोनों दो विभिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ हैं (Two different mental processes)—

(१) जहाँ भाव एक 'सरल एवं प्राथमिक भावात्मक मानसिक क्रिया' (Simple and primary affective mental activity) है, वहाँ संवेग एक 'जटिल भावात्मक मानसिक क्रिया' (Complex affective mental activity) है।

(२) भाव के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय ही 'गत अध्याय' में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संवेग के होने के पूर्व भाव होता है। या यह कहा जाय कि प्रत्येक संवेग के साथ किसी-न-किसी भाव का सम्बन्ध रहता है, जैसे—'शोक' (Sorrow) और 'आनन्द' (Joy) के संवेगों का सम्बन्ध क्रमशः दुःख एवं सुख के भावों के साथ रहता है। प्रत्येक संवेग को हम दो प्रकार की भावात्मक अनुभूतियाँ 'सुख और दुख' में से किसी एक के अन्तर्गत रख सकते हैं। संवेग के साथ भाव का गहरा सम्बन्ध है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि बिना भाव के संवेग सम्भव नहीं हैं परन्तु इसके विपरीत सवेग के अभाव मे ही भाव होता है। जब भाव की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में आन्तरिक एव वाह्य व्यवहारों में होती है तो यह भाव न रहकर संवेग हो जाता है। अतः 'भाव एक निष्क्रिय (Passive) भावात्मक मानसिक प्रक्रिया' है तो 'संवेग एक सक्रिय (Active) भावात्मक मानसिक प्रक्रिया' है।

(३) भाव सदा 'आत्मगत' (Subjective or Personal) होता है परन्तु संवेग 'आत्मगत और वस्तुगत' (Personal and Impersonal) दोनों भाव का अनुभव व्यक्ति सदा स्वयं करता है। दूसरे के भावों का अनुभव हम नहीं कर सकते हैं और न हम उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देख ही सकते हैं। कोई किसी के अन्दर के दुखद भाव को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकता है परन्तु 'शोक' (Sorrow) अथवा 'क्रोध' (Anger) का संवेग न केवल व्यक्ति अपनेआप में अनुभव करता है बल्कि इसे कुछ आन्तरिक एवं वाह्य दोनो प्रकार के व्यवहारों क द्वारा अभिव्यक्त भी करता है। फलतः संवेगात्मक-व्यवहार को वाहर से भी देखा जा सकता है। संवेगात्मक-अनुभूति तो व्यक्ति के अन्दर होती ही है। अस्तु, भाव को आत्मगत तथा संवेग को वस्तुगत एवं आत्मगत दोनों प्रकार की मानसिक प्रक्रिया की संज्ञा दी गयी ह।

(४) भाव सिर्फ 'सुख' और 'दुःख' इन्ही दो प्रकार का होता है परन्तु संवेग दो से अधिक होता है जैसे—'भय', 'क्रोध', 'शोक', 'आनन्द' तथा 'प्यार' आदि।

(५) भाव मे किसी भी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन नहीं होता है, इसके विपरीत संवेग की अवस्था में अनेक प्रकार के आन्तरिक एवं वाह्य शारीरिक परिवर्त्तन होते हैं जैसे—क्रोध की अवस्था में व्यक्ति की आँखें लाल हो जाती है, उसका शरीर काँपने लगता है, वह ओठ काटने लगता है तथा उसकी आवाज तेज हो जाती है आदि। ये ऐसे परिवर्तन है जिन्हें हम बाहर से देख सकते ह परन्तु इसके अतिरिक्त ऐसे भी परिवर्तन होते हैं जो शरीर के अन्दर होते ह जैसे—'पाचन-क्रिया (Digestive function) का रुक जाना', 'हृदय की गति मे परिवतन' होना, 'रक्तचाप में वृद्धि' आदि जिन्हें हम बाहर मे नहीं देख सकते। परन्तु भाव की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार क वाह्य एव आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन द्वारा नहीं होती है। जब हम किसी वस्तु को देखकर दुख का अनुभव करते हैं तो हम उससे छुटकारा पाना चाहते है परन्तु, जब किसी वस्तु को देखकर भय अथवा क्रोध के संवेग का अनुभव होता है तो हम इसकी अभिव्यक्ति क्रमशः भागने तथा आक्रमण करने के व्यवहार के द्वारा करते हैं। अतः संवेग की अवस्था में व्यक्ति अधिक क्रियाशील हो जाता है और उसके द्वारा की गयी प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट रूप की होती हैं जिनका सम्बन्ध उस संवेग-विशेष मे रहता है।

(६) संवेग की अवस्था मे हमारा शरीर भाव की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है। संवेग की अपेक्षा स्नायुमण्डल का कम भाग भाव में प्रभावित होता है। जैसे—संवेग में हमारे 'बृहन्मस्तिष्कीय वल्क' (Cerebral cortex) के अतिरिक्त 'स्वतः संचालित स्नायुमण्डल' और 'हाइपोथैलेमस' भी प्रभावित होते हैं। परन्तु भाव मे सिर्फ हमारा 'बृहन्मस्तिष्कीय वल्क' ही प्रभावित होता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि सवेग के होने के साथ-साथ व्यक्ति की वर्त्तमान अवस्था में एक प्रकार का 'उपद्रव' (Disturbance) उत्पन्न हो जाता है। पर भाव मे ऐसी बात नहीं पायी जाती है। सवेग की अवस्था मे उत्पन्न होनेवाले इस तीव्र उपद्रव के कारण ही 'वुड्वर्थ' (Woodrworth) नामक मनोवैज्ञानिक ने सवेग को ('Stirred up state of the organism') कहा है अर्थात् सवेग प्राणी की 'उत्तेजित अवस्था' को कहते ह। परन्तु जब तक यह उत्तेजित अवस्था आन्तरिक एवं वाह्य शारीरिक परिवर्त्तनों (External and Internal bodily changes) के रूप में प्रकट नहीं हो जाती है, तब तक इसे संवेग की

संज्ञा देना ठीक नहीं है। कुछ मनोवैज्ञानिक ने ऐसा भी कहा है कि 'Feeling expressed in behaviour is called emotion. अर्थात् हमारे भाव की अभिव्यक्ति हमारे शारीरिक व्यवहारों द्वारा होने लगती है तब उसे हम सवेग की सज्ञा देते हैं। जब तक व्यक्ति को किसी चीज को देखकर सुखद एवं दुखद अनुभव-मात्र ही होता है तब तक उसे संवेग न कहकर भाव की अनुभूति ही कहेंगे। परन्तु जिसी क्षण व्यक्ति हँसने या रोने लगता है तो हम उसे सवेग की सज्ञा देते हैं।

सवेग की इस प्रकार अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। परिभाषाओं की इन विविधता के बीच हमें न पड़कर संवेग को समझने के लिए 'संवेग में निहित शारीरिक प्रक्रियाओं' पर भी अत्यन्त संक्षेप में विचार करना होगा (Physiological processes involved in Emotion). सवेग में 'शारीरिक प्रक्रियाओं के क्रम' के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है, जिसका वर्णन 'सवेग-सम्बन्धी सिद्धान्तों' का उल्लेख करते समय आगे विस्तारपूर्वक किया जायगा, फिर भी सुविधा के लिए यहाँ इनका उल्लेख संक्षेप मे कर दिया जाता है।

'संवेग मे निहित शारीरिक प्रक्रियाएँ'
(Physiological processes involved in Emotion) ·

सवेगात्मक-परिस्थिति मे व्यक्ति के स्नायुमण्डल मे होनेवाली प्रक्रियाएँ विशेष रूप से निम्नलिखित प्रकार से होती हैं—

(१) एक उत्तेजना प्राणी को 'उत्तेजित' करती है (A stimulus stimulates the organism) जिसके फलस्वरूप वह कुछ प्रतिक्रियाएँ करता है। ये प्रतिक्रियाएँ केवल वाह्य व्यवहारों जैसे—पैर-हाथ आदि मासपेशियों के संचालन द्वारा ही प्रदर्शित नहीं होती है, बल्कि शरीर के अन्दर स्थित 'चिकनी मांसपेशियों' (Smooth muscles) तथा 'पिण्डों' (Glands) मे भी परिवर्तन होते हैं जिन्हें हम वाहर से नहीं देख सकते हैं।

(२) इनसे उत्पन्न शारीरिक प्रतिक्रियाएँ शरीर के 'परोपिरीयोसेप्टरस' (Proprioceptors) तथा 'इण्ट्रोसेप्टरस' (Interoceptors) दोनों को उत्तेजित करती हैं।

(३) उपर्युक्त दोनों प्रकार के उत्तेजित ग्राहकेन्द्रियों से स्नायुप्रवाह निकलकर 'ज्ञानवाही सयोजक नाड़ी-मण्डल' (Sensory-Peripheral

Nervous-System) से होकर 'केन्द्रीय स्नायु-मण्डल' (Central Norvous-system) में जाते हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य अपने वातावरण से अपने को अपने संवेगों द्वारा अभियोजित कर पाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सवेग के दो प्रमुख पहलू हैं—

(१) 'संवेगात्मक-अनुभूति' (Emotional Experience), तथा (२) 'संवेगात्मक-व्यवहार' (Emotional Behaviour).

'संवेग के दो पहलू'
(The Two aspects of Emotion)

संवेग के निम्नलिखित दो पहलू हैं—

(क) 'संवेगात्मक-अनुभूति' तथा (ख) 'संवेगात्मक-व्यवहार'।

अब हम इन पर एक-एक कर प्रकाश डालेंगे।

(क) संवेगात्मक-अनुभूति (Emotional Experience) 'संवेगात्मक-अवस्था' (Emotional-state) में व्यक्ति की जो मानसिक स्थिति रहती है उसका अध्ययन 'अन्तानरीक्षणात्मक' विधि द्वारा किया गया है। यह सत्य है कि संवेग की अवस्था मे जो व्यक्ति की मानसिक-स्थिति रहती है उसका 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) सम्भव नहीं है। परन्तु इसका 'अनुर्निरीक्षण' (Retrospection) हम कर सकते हैं। संवेग की अवस्था मे जो व्यक्ति की मानसिक स्थिति रहती है उसका निरीक्षण उसी समय कर उसक बारे में रिपोर्ट देना उसके लिए सम्भव नहीं है। परन्तु संवेग के लुप्त हो जाने पर व्यक्ति यदि अपने स्मरण के आधार पर उस परिस्थिति-विशेष के बारे में रिपोर्ट दे तो संवेग की अवस्था मे रहनेवाली व्यक्ति की मानसिक-स्थिति का ज्ञान हमे बहुत हद तक मिल सकता है। संवेग की अनुभूति करने के पश्चात् यदि भिन्न-भिन्न सामान्य व्यक्तियों द्वारा दिये गये रिपोर्टों मे समानता पायी जाय तो हमे निश्चित रूप मे सामान्य व्यक्तियों की सवेगात्मक-स्थिति में रहनेवाली मानसिक-अवस्था का एक समुचित ज्ञान मिल पायेगा। यहाँ पर एक यह दिक्कत होती है कि कभी-कभी व्यक्ति 'उचित शब्दों' (Appropriate words) के अभाव मे अपनी अनुभूति का सही-सही वर्णन नहीं कर पाता। इस दिक्कत को दूर करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने संवेगों की अवस्था मे होनेवाले अनुभवों की एक निम्नलिखित सूची' (List) तैयार की है जिनका सम्बन्ध किसी-न-किसी सवेग से

अवश्य रहता है, जैसे—'सुखकर' (Pleasant), 'दुःखकर' (Unpleasant), 'उदास' (Dull), 'उद्विग्नता' (Excitement), 'गतिशीलता' (Speed), 'हतोत्साह' (Cold), 'तनाव' (Tension) आदि। जब किसी व्यक्ति में संवेग की अवस्था में रहनेवाली मानसिक-अवस्था का ज्ञान प्राप्त करना होता है तो उपर्युक्त प्रकार की सूची को उसके सामने प्रस्तुत किया जाता है, तथा उससे उस संवेग की अवस्था मे होनेवाले प्रस्तुत अनुभवों में जिनका अनुभव उसे होता है, उसके सामने 'हाँ' और जिसका अनुभव नहीं होता है, उसमें 'ना' लिखकर अपने अनुभवों को व्यक्त करना पड़ता है। इस तरह के 'प्रयोगात्मक-अध्ययनों' (Experimental studies) से यह स्पष्ट हुआ है कि 'अधिकांश लोगों मे भय के संवेग की अवस्था मे दुःख, तनाव, हतोत्साह आदि का अनुभव होता है तथा आनन्द के संवेग मे सुख, उद्विग्नता, आराम आदि का अनुभव होता है'। पर यहाँ स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि ऊपर की सूची मे हम देखते हैं कि कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हैं, जो प्रायः सभी संवेगों मे किसी-न-किसी मात्रा में पायी जाती हैं, जैसे—दुःख का अनुभव व्यक्ति 'शोक तथा भय' दोनों के संवेगों की अवस्था में करता है। अतः संवेग की अवस्था में हुई अनुभूतियों का व्यक्ति द्वारा किये गये वर्णन के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि किस संवेग से इन अनुभूतियों का सम्बन्ध है। अस्तु, इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन अनुभूतियों से सम्बन्धित संवेगात्मक-परिस्थिति से उत्पन्न व्यवहारों का भी अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

(ख) 'संवेगात्मक-व्यवहार'
(Emotional Behaviour)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सवेग का अध्ययन चेतनानुभूति के साथ-साथ व्यवहार के रूप मे भी होता है। संवेग की अवस्था में प्रायः मुख्यतः निम्नलिखित दो प्रकार के व्यवहार पाये जाते हैं—

(१) 'वाह्य-व्यवहार या परिवर्तन' (External behaviour or changes) तथा (२) 'आन्तरिक-व्यवहार या परिवर्तन' (Internal behaviour or changes).

'वाह्य-व्यवहार' से हमारा तात्पर्य उन परिवर्तनों से है जिन्हें हम बाहर से देख सकते हैं। जैसे—'मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन' (Facial expression), 'स्वराभिव्यञ्जन' (Vocal expression) तथा 'शारीरिक-स्थिति' (Bodily posture) में परिवर्तन आदि।

'आन्तरिक-परिवर्तन' से हमारा तात्पर्य शरीर के अन्दर होनेवाले परिवर्तनों से है। जैसे—'हृदय की गति', 'रक्त-संचार', 'रक्त-चाप' आदि में परिवर्तन। इन्हें हम पृष्ठ ३३३ पर दिये तालिका द्वारा अत्यधिक रूप से स्पष्ट कर सकते हैं।

अब हम एक-एक कर सन्क्षेप में इनपर प्रकाश डालेंगे।

(क) संवेग में होनेवाले 'वाह्य शारीरिक परिवर्तन'
(External Bodily changes in Emotion)

(१) 'मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन' (Facial Expression)—संवेग की अवस्था में विशेष प्रकार का मुखाकृतिक-अभिव्यंजन देखा जाता है। चेहरे के उन भागों में, जैसे—ललाट, आँख, नाक, गाल, मुख आदि में एक विशेष प्रकार की 'गतिशीलता एवं संक्षोभन' के द्वारा विभिन्न प्रकार के सवेगों की अभिव्यक्ति होती है। इन अभिव्यक्तियों को देखकर ही हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति किसी तरह के संवेग का अनुभव कर रहा है। जैसे—साधारणतः जब हम किसी व्यक्ति को आँख लाल-लाल किये तथा उसे दाँत पीसते हुए देखते हैं तो समझ जाते हैं कि वह 'क्रुद्ध' है। हालाँकि विभिन्न संवेगों में खास-खास तरह के मुखाकृतिक-अभिव्ञ्जन पाये जाते हैं फिर भी यह कहना कि एक विशिष्ट प्रकार के मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन एक ही तरह के संवेग में पाये जाते हैं गलत होगा, चूँकि एक ही प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यञ्जन दो विभिन्न संवेगों की अवस्था में भी पाये जाते हैं। फिर विभिन्न 'संस्कृतियों' (Culture) मे एक ही प्रकार के मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन का भिन्न-भिन्न संवेगात्मक अर्थ होता है। कुछ संस्कृतियों के व्यक्तियों में 'विस्फारित नेत्र' (Wide open eyes) आश्चर्य की अवस्था में देखे जाते हैं परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसी संस्कृतियाँ भी हैं (जैसे—चीन की संस्कृति) जहाँ विस्फारित-नेत्र सिर्फ क्रोध के परिचायक हैं। खास-खास प्रकार का मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन विभिन्न संस्कृतियों में एक विशिष्ट अर्थ रखता है, जो उस संस्कृति की 'परम्परा' (Tradition) का सूचक है। इस सम्बन्ध म

'संवेग' (Emotion)
संवेगात्मक-अनुभूति
(Emotional experience)
संवेगात्मक-व्यवहार
(Emotional behaviour)
आन्तरिक परिवर्तन
(Internal changes)
वाह्य परिवर्तन
(External changes)
हृदय की गति में परिवर्तन
(Change in the Heart-beat),
श्वास गति
(Respiration),
नाड़ी-गति
(Pulse-rate),
रक्त-चाप
(Blood-pressure),
पाचन-क्रिया
(Digestive-function),
पिण्ड-सम्बन्धी
(Glandular)
त्वक्-प्रतिक्रिया
(Psycho-galvanic response)
(१) मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन
(Facial expression)
(२) स्वराभिव्यञ्जन
(Vocal expression)
(३) शारीरिक-स्थिति
(Bodily posture)

'डार्विन' (Darwin) तथा 'फर्नबर्गर' (Fernberger) आदि महोदयों ने भी प्रयोग किया है। उन्होंने कुछ 'निर्णायकों' (Judges) के समक्ष विभिन्न संवेगों को प्रकट करनेवाले कुछ चेहरो के 'चित्रों' (Photographs) को रखा और उनसे यह कहने को कहा कि उन चित्रों को देखने से कौन-कौन से संवेगों का पता चलता है। परन्तु निर्णायकों द्वारा दिये गये विचारों में काफी विभिन्नता पायी गयी। एक ही चित्र को विभिन्न निर्णायकों ने विभिन्न संवेगों का द्योतक बतलाया। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुतः ये चित्र किसी विशिष्ट प्रकार के सवेग के द्योतक नहीं हैं।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जब तक जिस परिस्थिति में किसी व्यक्ति के चेहरे का चित्र लिया गया है उसका पूर्व ज्ञान नहीं हो तबतक सिर्फ मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन-सम्बन्धी चित्र को देखकर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि कौन-सा संवेग उनसे प्रकट होता है। इस निष्कर्ष का समर्थन 'उडवर्थ' महोदय (Woodworth) ने भी किया है। उनका कहना है कि मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जनों के आधार पर सवेगों का अध्ययन करना गलत होगा अर्थात् यह एक गप्प है। (Reading facial expression is a myth).

(२) **'स्वराभिव्यञ्जन'** (Vocal expression)—संवेग की अवस्था मे प्राणियों मे एक विशेष प्रकार का 'स्वराभिव्यञ्जन' भी पाया जाता है। जैसे रोने, हँसने, चिल्लाने, कराहने, जोर-जोर से कटु शब्द बोलने, धीरे-धीरे मधुर शब्द बोलने आदि। यदि सामान्य अवस्था तथा संवेग की अवस्था में व्यक्ति के 'स्वर की गम्भीरता, ऊँचाई तथा गति' आदि पर ध्यान दिया जाये तो दोनों में काफी अन्तर पाया जायगा। संवेग की अवस्था में अपेक्षाकृत 'स्वर की गम्भीरता, ऊँचाई तथा गति' अधिक रहती है। क्रोध की अवस्था मे स्वर ऊँचा रहता है और इसमें कम्पन भी पाया जाता है। मधुर-स्वर 'प्यार' के सवेग में पाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'भाषा' (Language) के द्वारा भी संवेग की अभिव्यक्ति की जाती है। हम अपने नेताओं को भाषण देते समय विभिन्न प्रकार के संवेगों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न तरह के स्वरों का उपयोग कर करते पाते हैं। इसके अतिरिक्त नाटकों तथा फिल्मों में भी नायकों और नायिकाओं को भी विभिन्न संवेगों की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के स्वरों के माध्यम से करते देखते हैं। फिर भी इस सम्बन्ध मे स्मरण रखने योग्य

बात यह है कि जैसा कि ऊपर 'मुखाकृतिक-अभिव्यञ्जन' के बारे मे कहा गया है, स्वराभिव्यञ्जन के सम्बन्ध में भी पाया गया है कि एक विशिष्ट प्रकार का स्वराभिव्यञ्जन सदा एक विशेष प्रकार के संवेग के साथ सम्बन्धित नहीं रहता है। एक ही प्रकार का स्वराभिव्यञ्जन दो विभिन्न संवेगों मे भी पाया जाता है। जैसे—अत्यधिक आनन्द तथा विषाद दोनों के संवेग मे व्यक्ति रोत हुए पाये जाते हैं अथवा उनका गला रुद्ध जाता है।

इसका यह अर्थ हुआ कि सिर्फ स्वरों को सुनकर निश्चित रूप से उनके द्वारा अभिव्यक्त संवेग का पता नहीं चलता है। यहाँ पर भी उस परिस्थिति विशेष का ज्ञान होना आवश्यक है जिसमें व्यक्ति ने इन स्वरों की अभिव्यक्ति की है।

(३) 'शारीरिक-स्थिति' (Bodily Posture)—संवेगों की अवस्था मे प्राणी में एक विशेष प्रकार की शारीरिक-स्थिति पायी जाती है। फिर भी यहाँ पर स्मरण करने योग्य प्रायः निम्नलिखित तीन प्रमुख बातें हैं—

(क) एक ही संवेग की अवस्था भिन्न-भिन्न व्यक्ति में विभिन्न प्रकार की शारीरिक-स्थिति उत्पन्न करती है। अर्थात् एक ही संवेग की अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति में एक ही प्रकार की शारीरिक-स्थिति नहीं पायी जाती है। जैसे—एक व्यक्ति में साँप को देखकर भय का संवेग होने पर वह भागता हुआ पाया जाता है तो दूसरा किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर मूर्त्तिवत खड़ा रह जाता है।

(ख) विभिन्न संस्कृतियों में एक ही प्रकार की शारीरिक-स्थिति भिन्न-भिन्न संवेगों के द्योतक हैं।

(ग) विभिन्न संवेग भिन्न-भिन्न शारीरिक-स्थिति को उत्पन्न करता है जैसे—प्रसन्नता की अवस्था में मनुष्य का सीना तना रहता है तथा सिर ऊँचा उठा रहता है। दुख की अवस्था में सारा शरीर झुका रहता है। क्रोध की अवस्था में मुट्ठी बँधी होती है, वह हाथ-पैर पटकने लगता है और आक्रमण कर बैठता है। भय की अवस्था में वह भागने लगता है तथा प्रेम की अवस्था में अपने प्रेमपात्र के समीप जाने लगता है। हालाँकि विभिन्न संवेगों की अवस्था में पायी जानेवाली शारीरिक-स्थितियाँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं फिर भी जैसा कि ऊपर (क) और (ख) में कहा गया है उसके अनुसार सिर्फ शारीरिक-स्थिति को देखकर यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे किस संवेग-विशेष के द्योतक हैं।

'जेम्स-लाँजे' (James-Lange) के अनुसार इन शारीरिक स्थितियों का संवेग के होने में प्रमुख स्थान माना जाता है। उनका कहना

है कि इनके अभाव में किसी भी प्रकार के सवेग का होना असम्भव है। 'जेम्स-लॉजे के संवेग सम्बन्धी सिद्धान्त' का उल्लेख करते समय इस पर आगे विस्तार में प्रकाश डाला जायगा।

(ख) 'संवेग में होनेवाले 'आन्तरिक-शारीरिक-परिवर्तन'
(Internal Bodily changes in Emotion)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संवेग की अवस्था म वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के शारीरिक परिवर्तन होते हैं। वाह्य-परिवर्तनों का उल्लेख पहले हो चुका है। सवेग की अवस्था में शरीर के अन्दर होनेवाले कुछ प्रमुख शारीरिक परिवर्तनों पर हम अब प्रकाश डालेंगे। शरीर के अन्दर होनेवाले इन परिवर्तनों का हम वाह्य रूप से निरीक्षण नहीं कर सकते हैं। इनका निरीक्षण विशिष्ट यंत्रों (Special instruments) के द्वारा ही सम्भव है। इस सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिकों द्वारा बहुत से अनुसधान (Researches) किये गये हैं जिनके फलस्वरूप उनका निष्कर्ष है कि संवेग की अवस्था मे शरीर के अन्दर निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन होते हैं। जैसे—

(क) साँस लेने की क्रिया मे परिवर्तन; (ख) हृदय की गति में परिवर्तन; (ग) नाड़ी की गति में परिवर्तन, (घ) रक्त-सम्बन्धी परिवर्तन; (ङ) रस-पाक में परिवर्तन; (च) अँतड़ियों की क्रिया में या पाचन-क्रिया मे परिवर्तन; (छ) त्वक्-प्रतिक्रियाओं आदि मे परिवर्तन।

हम एक-एक कर संक्षेप में इनका वर्णन नीचे करेंगे।

(क) 'साँस की गति' में परिवर्तन (Changes in Respiration)—प्रायः यह देखा जाता है कि सवेग की अवस्था मे अपेक्षाकृत साँस की गति धीमी या तेज हो जाती है। साँस लेने और साँस छोड़ने की क्रियाओ की अवधि का अनुपात (Ratio) सामान्यतः—१:४ रहता है। परन्तु संवेग की अवस्था मे यह बदलकर कम या अधिक हो जाता है और यह अनुपात विभिन्न संवेगों मे भिन्न रहता है। संवेग मे सामान्य अवस्थाओं के अपेक्षाकृत साँस लेने की गति भिन्न रहती है। साँस लेने की गति को 'निमोग्राफ' (Pneumograph) नामक यन्त्र द्वारा मापा जाता है।

(ख) 'हृदय की गति' में परिवर्तन (Changes in the Heart-beat)—साँस की गति से हृदय की गति का एक गहरा सम्बन्ध है। इसके फलस्वरूप संवेग की अवस्था में साँस की गति में परिवर्तन होने के साथ-साथ हृदय की गति में भी परिवर्तन होता है जो 'इलेक्ट्रोकार्डियो-

ग्राफ' (Electrocardiograph) नामक यन्त्र द्वारा मापा जाता है। साधारणतः यह पाया जाता है कि संवेग की अवस्था में अपेक्षाकृत हमारे हृदय की गति बढ़ जाती है। परन्तु कभी कभी इसकी गति धीमी अथवा रुक जाने-सी भी हो जाती है। जैसे—जब हम बहुत डर जाते हैं तो कभी-कभी हमारे हृदय की गति बहुत ही तेज हो जाती है। परन्तु कभी-कभी इसकी गति क्षण भर के लिए अत्यधिक मन्द पड़ जाती है।

(ग) **'नाडी की गति' में परिवर्तन** (Changes in Pulse-rate)—हृदय की गति से नाड़ी की गति का गहरा सम्बन्ध है। अतः संवेग की अवस्था में हृदय की गति में परिवर्तन होने के साथ-साथ हमारी नाड़ी की गति में भी परिवर्तन होता है। संवेग की अवस्था में सामान्य अवस्थाओं के अपेक्षाकृत नाड़ी की गति विशेष-रूप से भिन्न रहती है। इसे 'स्फिगमोमैनोमिटर' (Sphygmomanometer) नामक यन्त्र से मापा जाता है।

(घ) **'रक्त-सम्बन्धी परिवर्तन'** (Changes in Blood)—रक्त-सम्बन्धी परिवर्तन निम्नलिखित तीन प्रमुख प्रकार के होते हैं—

(१) 'रक्तचाप' में परिवर्तन (Changes in Blood-pressure), (२) 'रक्त-संचालन' मे परिवर्तन (Changes in Blood-circulation) तथा (३) 'रक्त के रासायनिक तत्त्वों' में परिवर्तन (Changes in the Chemical composition of the Blood).

साधारणतः सामान्य अवस्थाओं के अपेक्षाकृत संवेग की अवस्था में उपर्युक्त रक्त-सम्बन्धी तीनों प्रकार के परिवर्तन पाये जाते हैं। क्रोध और प्रेम के संवेग की अवस्था में रक्तचाप तथा रक्त संचालन की गति में भी वृद्धि हो जाती है। परन्तु भय के संवेग में रक्तचाप तथा रक्त-संचालन की गति दोनों प्रायः कम हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त संवेग की अवस्था में रक्त के रासायनिक तत्त्वों में भी काफी परिवर्तन हो जाता है। रक्तचाप में होनेवाले परिवर्तन को हम 'स्फिगमोमैनोमिटर' (Sphygmomanometer) तथा 'स्टिथेसकोप' (Stethescope) नामक यन्त्रों द्वारा माप सकते हैं।

(ङ) **'रस-पाक' में परिवर्तन** (Metabolic Changes)—यह पाया गया है कि क्रोध और भय के संवेग की अवस्थाओं मे 'रस-पाक-परिवर्तन' काफी मात्रा में पाया जाता है। परन्तु प्रेम के संवेग में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता है।

(च) 'पाचन-क्रिया' में परिवर्तन (Changes in Gastro-intestinal or Digestive function)—संवेग मे निम्नलिखित तीन प्रकार के पाचन-क्रिया-सम्बन्धी परिवर्तन पाये जाते हैं—

(i) पाचन-क्रिया का थोड़ी देर के लिए बन्द हो जाना, या (ii) इसका थोड़ी देर के लिए मन्द पड़ जाना या (iii) पाचन-क्रिया का अत्यधिक तेज हो जाना। संवेग की अवस्था में कभी-कभी थोड़ी देर के लिये पाचन-क्रिया मन्द हो जाती है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति में 'कब्ज' (Constipation) की शिकायत हो जाती है। पेट में दर्द आदि होने लगता है। इसके विपरीत जब संवेग की अवस्था में पाचन-क्रिया अत्यधिक तेज हो जाती है तो अतड़ियों की 'मंथन-क्रिया' (Churning function) बहुत बढ़ जाती है। इसके कारण व्यक्ति में 'अजिर्णता' (diarrohea) की शिकायत हो जाती है। उसे बहुत जोरों का 'दस्त' होने लगता है। इस हालत में कुछ व्यक्तियों में पेशाब अधिक होने लगता है। बिल्ली आदि जानवरों पर प्रयोगकर इस बात का पुष्टीकरण भी किया गया है। 'एक्स-रे' (X-ray) द्वारा संवेग की अवस्था में 'अन्तरावयवों' (Viscera) क अन्दर होनेवाले परिवर्त्तनों का अध्ययन किया जा सकता है। यही कारण है कि कब्जियत तथा दस्त आदि बीमारियों का कारण 'संवेगात्मक-असंतुलन' (emotional instability) भी बताया गया है। जिन व्यक्तियों में क्रोध तथा भय के सवेग की मात्रा अधिक पायी जाती है वे उपर्युक्त बीमारियों से अधिक पीड़ित पाये जाते हैं।

(छ) 'साईकोगैलभेनिक' या 'त्वक्-प्रतिक्रियाओं' तथा 'मानस-तरंगों' में परिवर्त्तन (Change in Psychogalvanic-Response and Brain waves)—प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि संवेग की अवस्था में 'त्वक्-प्रतिक्रिया' तथा 'मानस-तरंगों' में भी काफी परिवर्त्तन पाये जाते हैं जो सामान्य अवस्था से काफी भिन्न होते हैं। जैसे—रोंगटों का खड़ा हो जाना अथवा सारे शरीर में रोमांच या सिहरन उत्पन्न हो जाना। इसका अध्ययन 'साईकोगैलमेनोमिटर (Psychogalvanometer) नामक यन्त्र द्वारा सम्भव है।

(ज) 'ग्रन्थियों या पिडों' की क्रियाओं में परिवर्तन (Changes in the activities of the gland)—प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि विशेष रूप से निम्नलिखित प्रकार की ग्रंथि-क्रियायों में परिवर्तन, संवेग

की अवस्था मे पाये जाते हैं, जो सामान्य अवस्थाओं से विशेष रूप में भिन्न होते हैं जैसे—(१) 'एड्रीनल-ग्रन्थि' (Adrenal gland), (२) 'लार-ग्रन्थि' (Salivary gland), (३) 'अश्रु-ग्रन्थि' (Tear gland), (४) 'स्वेद-ग्रन्थि' (Sweat gland) आदि की क्रियाओं में परिवर्तन।

'एड्रीनल-ग्रन्थि' आमाशय में स्थित एक बहुत ही प्रमुख-ग्रन्थि है जिसका हमारे जीवन-रक्षा-सम्बन्धी (preservation of life) कार्यों से घनिष्ट सम्बन्ध है। संवेग की अवस्था में सामान्य अवस्थाओं के अपेक्षाकृत ऐड्रीनल-ग्रन्थि की क्रिया तेज हो जाती है, जिसके 'कारण 'यकृत' (Liver) उत्तेजित हो जाता है और यह अधिक मात्रा मे चीनी (Sugar) छोड़ने लगता है। अतः हवा लगने से रक्त शीघ्र जम (Coagulate) जाता है और मासपेशियों में थकावट देर से होती है। साथ-साथ व्यक्ति मे अधिक शक्ति भी आ जाती है। यही कारण है कि जब कभी एकाएक साँप देख लेने से भय का संवेग उत्पन्न होने पर हम बदहवास होकर भाग सकते हैं तथा हम ऐसी क्रियाएँ करते हैं जिनके बारे मे संवेग-समाप्त होने पर यदि हम सोचें तो हमें स्वयं आश्चर्य होगा कि हमने कैसे यह सब कर लिया। जैसे—भागते समय ऊँची दीवार अथवा चौड़े नाले को तड़प जाना। यह सम्भव है कि बदहवास होकर भागने के समय हमारे शरीर के किसी अंग के फूट जाने के कारण रक्त बहने लगे। परन्तु जैसा कि ऊपर ही कहा गया है कि एड्रीनल ग्रन्थि की क्रिया में वृद्धि होने के कारण हवा लगने पर रक्त शीघ्र जम जाता है, जिससे अधिक रक्त शरीर से नहीं निकल पाता है। इस तरह स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था मे एड्रीनल-ग्रन्थि की क्रियाओं मे वृद्धि हो जाने के कारण ऐसी-ऐसी क्रियाएँ व्यक्ति करता है जिनका जीवन-रक्षण से घनिष्ठ संबंध है।

संवेग की अवस्था में 'लार-ग्रन्थि' (Salivary gland), 'अश्रु-ग्रन्थि' (Tear gland) तथा 'स्वेद-ग्रन्थि' (Sweat gland) की क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। भय तथा क्रोध के समय लार-ग्रन्थि की क्रिया मन्द पड़ जाती है, जिससे ओठ सूखने लगता है। फलतः व्यक्ति को बहुत जोर से प्यास लगती है। अश्रु और स्वेद ग्रन्थि की क्रियाओं के बढ़ जाने पर इन संवेगों की अवस्था में क्रमशः आँसू निकलने लगते हैं और पसीना अधिक छूटने लगता है जो सामान्य अवस्थाओं में नहीं पाये जाते हैं। पर ऐसी बातें प्रेम के सवेग में नहीं पायी जाती हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में अनेक प्रकार के आन्तरिक परिवर्तन शरीर में होते हैं। परन्तु यहाँ पर निम्नलिखित दो बातों का स्मरण रखना बहुत ही आवश्यक है—

(१) प्रायः एक ही प्रकार के आन्तरिक-शारीरिक-परिवर्तन विभिन्न संवेगों मे पाये जाते हैं।

(२) प्रत्येक संवेग मे एक विशिष्ट तरह के आन्तरिक परिवर्तनों की शृङ्खला एक ही जैसी नहीं पायी जाती है।

फलतः हम सिर्फ व्यक्ति के शरीर के अन्दर हुए परिवर्तनों के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं कि उसे किस प्रकार के संवेग की अनुभूति हुई है। अर्थात् किस संवेगात्मक-अनुभूति का सम्बन्ध इन शारीरिक परिवर्तनों से है।

अतः सक्षेप मे यह कह सकते हैं कि संवेग की अवस्था मे होनेवाले आन्तरिक-शारीरिक-परिवर्तनों को किसी एक विशिष्ट संवेग का द्योतक नहीं माना जा सकता है। यहाँ पर भी जिस परिस्थिति अथवा उत्तेजना-विशेष के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप ये परिवर्तन हुए हैं उनका ज्ञान इस परिस्थिति में उत्पन्न संवेग की सही-सही जानकारी के लिए अनिवार्य है।

'संवेग मे निहित नाड़ी-यन्त्र'
(Neural Mechanisms in Emotion)

हालाँकि संवेग की परिभाषा देते समय यह स्पष्ट हो चुका कि संवेग को हम शरीर के किसी खास अंग में निरुपित (Localize) नहीं कर सकते हैं, चूँकि यह सारे शरीर को प्रभावित करता है। फिर भी उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि प्रायः हमारे स्नायु-मण्डल के निम्नलिखित दो भाग विशेष रूप से संवेग में उत्तेजित होते हैं, जिनका उल्लेख यहाँ पर संवेग के सिद्धान्तों को ठीक से समझने के हेतु कर देना आवश्यक है—(१) केन्द्रीय स्नायु-मण्डल, जिसमें मुख्यतः (क) 'बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क' (Cerebral cortex), (ख) 'हाइपोथैलेमस' (Hypothalamus) तथा (२) 'स्वतः-संचालित स्नायुमण्डल' (Autonomic Nervous-system). इस तरह हम देखते हैं कि संवेग मे स्नायुमण्डल के निम्न-लिखित भाग विशेष रूप से प्रभावित होते हैं—

(१) 'बृहन्मस्तिष्कीय वल्क' (Cerebral cortex); (२) 'स्वतः-संचालित स्नायुमण्डल' (Autonomic Nervous-system) तथा (३) 'हाइपोथैलेमस' (Hypothalamus).

(१) 'संवेग में बृहन्मस्तिष्कीय वल्क की क्रियाएँ'
(Role of Cerebral cortex in Emotion)

संवेग और बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क मे घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो निम्न-लिखित बातों से स्पष्ट है—

(क) संवेगात्मक-परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण बृहन्मस्तिकीय-वल्क द्वारा ही सम्भव है।

(ख) इसके साथ-साथ संवेगात्मक-परिस्थितियों के साथ सफल अभि-योजन करने के लिए बृहत्-मस्तिष्क का रहना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में कुत्तों तथा बिल्लियो आदि जानवरों पर प्रयोग (Experiments) किये गये हैं। बिल्ली जिसका बृहत्-मस्तिष्क काट दिया गया था उसके समक्ष कुत्ते को रखने पर यह चुपचाप बैठी रह गयी। इसने भागने की भी कोशिश नहीं की। प्रायः भागना इस परिस्थिति मे सफल अभियोजन के लिए जरूरी था।

(ग) संवेगात्मक-परिस्थिति के हट जाने पर भी संवेगात्मक-व्यवहार प्रायः होते रहते हैं पर ऐसी बात बृहत्-मस्तिष्क के अभाव में सम्भव नहीं है। जैसे—शत्रु को देखकर क्रोध का संवेग होने के कारण शारीरिक परिवर्तन होते हैं, और शत्रु की दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी कुछ देर तक ये होते पाये जाते हैं। परन्तु बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क के अभाव मे यह कदापि सम्भव नहीं था।

(घ) बृहत्-मस्तिष्क के अभाव में संवेगात्मक अभिव्यक्ति की तीव्रता बढ़ जाती है। इस सम्बन्ध मे किये गये प्रयोगो के आधार पर मनो-वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि 'बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क' (Cerebral cortex), 'हाइपोथैलेमस' (Hypothalamus) आदि अन्य 'नाड़ी-यन्त्रों' (Neural mechanisms) की क्रियाओं को नियन्त्रित करता है जिन पर 'संवेगात्मक-व्यवहार' निभर है।

(२) 'संवेग में स्वतः-सचालित स्नायुमण्डल की क्रियाएँ'
(Role of Autonomic Nervous-system in Emotion)

'स्नायुमण्डल' का उल्लेख करते समय यह बतला दिया गया है कि स्वतः-सचालित स्नायुमण्डल भी स्नायुमण्डल के अन्य अवयवों की तरह उसका एक अव्यव है। इसके प्रधानतः दो अंग हैं—

(१) 'सहानुभूतिक-मण्डल' (Sympathetic Division) और (२) 'उपसहानुभूतिक-मण्डल' (Parasympathetic Division).

यहाँ पर फिर से इन दोनों की बनावट तथा क्रियाओं का उल्लेख विस्तार मे करना आवश्यक नहीं है। परन्तु सिर्फ इतना कह देना अनिवार्य है कि इन दोनों से की गयी क्रियाएँ परस्पर विरोधी होती हैं। उदाहरण के लिए, जब 'उपसहानुभूतिक-मण्डल' के कार्य की प्रधानता रहती है, तो लार का टपकना बढ़ जाता है, एड्रीनल-ग्रन्थि का कार्य रुक जाता है तथा हृदय की गति धीमी हो जाती है, आँखो की पुतली फैल जाती है आदि। ठीक इसके विपरीत जब सहानुभूतिक-मण्डल की प्रधानता रहती है तो हृदय की गति बढ़ जाती है, लार का टपकना रुक जाता है, 'ऐड्रीनल' पिण्ड-विशेष रूप से उत्तेजित हो जाता है तथा आँखों की पुतली सिकुड़ जाती है आदि।

इस तरह स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में शरीर के अन्दर होनेवाले विभिन्न परिवर्तन जिनका उल्लेख विस्तार में पहले ही किया जा चुका है, उनका आधार प्राणी का 'सहानुभूतिक-मण्डल' ही है। 'जेम्स-लाँजे' महोदय (James-Lange) ने सहानुभूतिक-मण्डल को ही संवेग का आधार माना है। अर्थात् उनके कथनानुसार इसके अभाव में संवेगात्मक-अनुभूति का होना सम्भव नहीं है।

हाल तक मनोवैज्ञानिकों का मत था कि संवेग में 'स्वतः-सञ्चालित स्नायु-मण्डल' के 'उपसहानुभूतिक भाग' (Parasympathetic Division) का कोई भी स्थान नहीं है। संवेग मे स्वतः-सञ्चालित-स्नायुमण्डल का सिर्फ वही भाग जिसे 'सहानुभूतिक-मण्डल' की संज्ञा दी गयी है, प्रभावित होता है। परन्तु हाल ही मे इधर जो पशुओं पर अध्ययन किये गये हैं, इसके फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ है कि सवेग की अवस्था में प्राणी में 'स्वतः-सञ्चालित-स्नायुमण्डल' का सिर्फ सहानुभूतिक भाग ही नहीं बल्कि इसमें उसका पूरा 'स्वतः सञ्चालित स्नायुमण्डल' ही क्रियाशील रहता है। अत: हम यह कह सकते हैं कि 'संवेग की अवस्था में स्वतः-सञ्चालित स्नायुमण्डल ही क्रियाशील रहता है या हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण स्वतः-सञ्चालित स्नायुमण्डल के द्वारा ही संवेग की अवस्था में होनेवाली आन्तरिक क्रियाओं का नियन्त्रण होता है।'

(३) 'संवेग में हाइपोथैलेमस की क्रियाएँ'
(Role of Hypothalamus in Emotion)

'शरीर-शास्त्रज्ञों' (Physiologist) ने अपने अनुसंधानों (researches) के आधार पर पता लगाया है कि सवेगात्मक-व्यवहार का नियन्त्रण 'हाइपो-

थैलेमस' करता है। 'मासरमैन' (Masserman) आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी इस संबंध में कुत्ते तथा बिल्लियों पर प्रयोग कर इस बात का पुष्टीकरण किया है। जब किसी प्राणी के 'हाइपोथैलेमस' को उसके मस्तिष्क से काटकर निकाल दिये जाने के बाद उसके सामने किसी संवेग उत्पन्न करनेवाली परिस्थिति को प्रस्तुत किया गया तो उसमें किसी भी प्रकार का संवेगात्मक व्यवहार नहीं दृष्टिगत हुआ। पर ऐसी बात उसके शरीर के अन्य अगों को काटकर हटाने पर नहीं पायी गयी। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि संवेगात्मक-व्यवहार का होना सिर्फ 'हाइपोथैलेमस' पर ही आधारित है, चूँकि मस्तिष्क के दूसरे भाग, विशेषतः बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क का प्रभाव भी संवेगात्मक व्यवहार पर पड़ता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह सही है कि हाइपोथैलेमस का संवेगात्मक-व्यवहार को उत्पन्न करने में एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। परन्तु संवेग के भावात्मक पहलू (Feeling aspect) में हाइपोथैलेमस का कहाँ तक महत्त्व है, यह बात विवादास्पद है।

'कैनन' (Cannon) तथा 'बार्ड' (Bard) आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'हाइपोथैलेमस' (Hypothalamus) को ही सवेगात्मक-व्यवहार का प्रमुख आधार माना है जिस पर प्रकाश आगे डाला जायगा।

'संवेग के सिद्धान्त'
(Theories of Emotion)

मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर संवेग के विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। पर उन सभी का उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। फिर भी हम यहाँ संवेग के निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख एक-एक कर करेंगे—

(१) 'सामान्य-सिद्धान्त' (Commonsense theory); (२) 'जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त' (James-Lange theory), तथा (३) 'हाइपोथैले-मिक-सिद्धान्त' (Hypothalamic theory).

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संवेग के दो पहलू हैं—

(क) 'सवेगात्मक-अनुभूति', तथा (ख) 'संवेगात्मक-व्यवहार'।

कुछ सिद्धान्तों में संवेगात्मक-व्यवहार पर जोर दिया गया है और कुछ में संवेगात्मक-अनुभूति पर। परन्तु कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जिनमें सवेगात्मक-व्यवहार और अनुभूति दोनों पर जोर दिया गया है।

(१) संवेग-सम्बन्धी 'सामान्य-विचार'
(Commonsense theory of Emotion)

संवेग में संवेगात्मक-अनुभूति की प्रधानता है और संवेगात्मक-व्यवहार, संवेगात्मक अनुभूति के बाद ही होता है। जैसे—एक पागल कुत्ते का प्रत्यक्षीकरण होने के बाद पहले भय की संवेगात्मक-अनुभूति होती है तब हममें भागने का सवेगात्मक-व्यवहार देखा जाता है। जन-साधारण का विचार है कि किसी भी संवेगात्मक-उत्तेजना या परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप हमें पहले संवेग की अनुभूति होती है और उसके बाद हम संवेगात्मक-व्यवहार करते हैं। पर इस विचार को 'जेम्स तथा लाँजे' आदि महोदयों ने नहीं माना है।

(२) 'जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त'
(James-Lange theory)

'जेम्स' (अमेरिका निवासी) तथा 'लाँजे' (डेनमार्क निवासी) दो मनोवैज्ञानिकों ने भी अपने-अपने अध्ययनों के द्वारा संवेग का एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। हालाँकि दोनों ने इस सम्बन्ध में अलग-अलग प्रयोग किये हैं, फिर भी सवेग-सम्बन्धी निष्कर्ष दोनों के एक ही हैं। अतः हम उनके द्वारा प्रतिपादित सवेग के सिद्धान्तों को 'जेम्स-लाँजे' (James-Lange) नामक एक ही सिद्धांत के नाम से पुकारते हैं। उनका कहना है कि 'संवेग में पहले संवेगात्मक-व्यवहार होता है और इसी व्यवहार की चेतन-अनुभूति को ही उन्होंने संवेग की संज्ञा दी है। साथ-साथ उन्होंने तो संवेगात्मक-व्यवहार को संवेगात्मक-अनुभूति का कारण (Cause) भी माना है'। (Emotional behavior not only preceeds emotional experience rather is its cause as well) किसी 'संवेगात्मक-परिस्थिति' (Emotion provoking situation) के प्रत्यक्षीकरण क तुरत बाद 'संवेगात्मक-व्यवहार' (emotional behaviour) होता है। उनके अनुसार डर का संवेग इसलिए होता है कि हम किसी वस्तु को देखकर काँपने लगते हैं तथा भागते हैं। यदि उसी वस्तु को देखकर हम कॉपने नहीं लगें या भागें नहीं, बल्कि सीना तानकर खड़े रहें तो हमें डर का संवेग कदापि नहीं होगा। हमें क्रोध के संवेग की अनुभूति इसलिए होती है कि क्रोध उत्पन्न करनेवाली वस्तु या परिस्थिति में हम आँखें लाल-लाल कर लेते हैं, मुट्ठी बाँध लेते हैं

तथा आक्रमण करने लगते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो क्रोध का संवेग कभी नहीं होगा। ('We feel sorrry because we cry, angry because we strike, afraid because we tremble and not that we cry, strike and tremble because we are sorry, angry or fearful as the case may be' James, W. Psychology, Briefer course). अर्थात् विभिन्न संवेगो से सम्बन्धित विशिष्ट संवेगात्मक-व्यवहार उस सवेग के फलस्वरूप नहीं होते हैं, वल्कि संवेगों की उत्पत्ति संवेगात्मक-व्यवहारों के होने के उपरान्त ही होती है। उनके अनुसार ये सवेगात्मक-व्यवहार ही संवेग के कारण हैं, या यह कहा जाय कि संवेग संवेगात्मक-व्यवहार के परिणामस्वरूप ही होते हैं। 'जेम्स-लॉजे' का सिद्धान्त सामान्य-विचार के ठीक विपरीत है जो निम्नलिखित बातों से अत्यधिक स्पष्ट हो जायगा।

जहाँ सामान्य-विचार के अनुसार संवेग का क्रम इस प्रकार है कि (१) पहले सवेगात्मक-परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होना, (२) संवेगात्मक-अनुभूति का होना और (३) इसके पश्चात् संवेगात्मक-व्यवहार का होना, वहाँ 'जेम्स-लॉजे' के अनुसार संवेग का क्रम सामान्य-विचार के ठीक विपरीत है, जो इस प्रकार है—

(१) सर्वप्रथम संवेगात्मक-परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होना, (२) इस परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप संवेगात्मक-व्यवहार का होना और (३) इसके पश्चात् संवेगात्मक-अनुभूति का होना।

'जेम्स-लाँजे' का कहना है कि जब तक विभिन्न संवेगों से सम्बन्धित शारीरिक-व्यवहार (जिनका वर्णन विस्तार में पहले ही किया जा चुका है) नहीं होगा, हमें सवेग का अनुभव कदापि नहीं होगा। अपने सिद्धान्त के प्रमाण-स्वरूप उन्होंने इस सम्बन्ध में अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों द्वारा किये गये अन्तर्निरीक्षण के रिपोर्ट को प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि यदि अभिनेतागण संवेग-विशेष से सम्बन्धित विशिष्ट शारीरिक-सवेगात्मक-व्यवहार, जैसे—शारीरिक स्थिति, मुखाकृतिक-अभिव्यंजन आदि में परिवर्तन नहीं करते तो उन्हें वस्तुतः उस सवेग की अनुभूति नहीं होती और जब एक खास तरह के संवेग का अभिनय करते समय वे उससे सम्बन्धित शारीरिक-व्यवहार करते हैं तो उन्हें व्यवहार करते-करते सचमुच में उससे सवेग की अनुभूति भी होने लगती है। फलतः वे अपने प्रेम, क्रोध, भय आदि के अभिनय को करने में सफल होते हैं।

यदि 'जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त' के 'शारीरिक-आधार' (Physiological basis) पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि उनके अनुसार संवेगात्मक-परिस्थिति या उत्तेजना के उपस्थित होने के साथ प्राणी की ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। इसको नीचे के रेखा-चित्र नं० १८ से अत्यधिक स्पष्ट कर दिया जाता है। फलतः उनसे 'ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह' (Sensory nerve-impulse) निकलकर (1 से होकर) वृहत्-मस्तिष्क में जाते हैं। तदुपरान्त उसे उस परिस्थिति या वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसके प्रत्यक्षीकरण के साथ-साथ 'गतिवाही स्नायु-प्रवाह' (Motor nerve-impulse) वृहत्-मस्तिष्क से निकलकर

जेम्स-लाँजे

वृहन्मस्तिष्कीय-वल्क

4 2 3 1
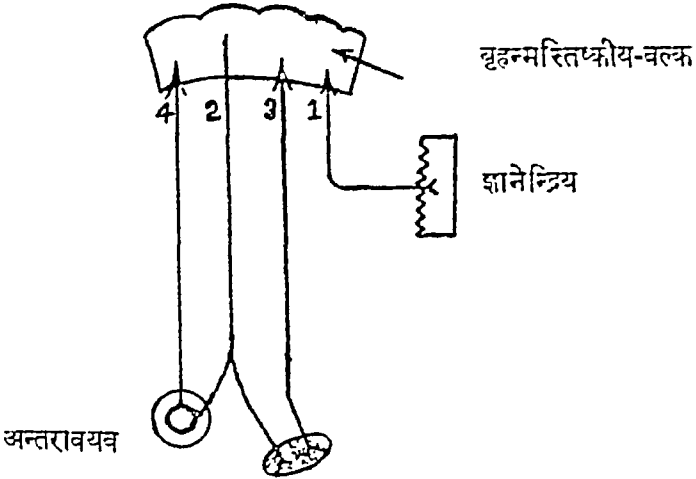
ज्ञानेन्द्रिय

अन्तरावयव

धारीदार मासपेशी

चित्र नं० १८—जेम्स-लाँजे सिद्धान्त का रेखाचित्र

[इसमें जेम्स-लाँजे के अनुसार सवेग के शारीरिक आधार के क्रम को दिखलाया गया है।]

(2 से होकर) अन्तरावयवों की मांसपेशियाँ तथा धारीदार मासपेशियाँ एवं पिण्डों (Glands) में पहुँचते हैं और उनकी क्रियाओं में परिवर्तन लाते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्ति संवेगात्मक-व्यवहार करता है। फिर इन मांसपेशियों तथा अन्तरावयवों मे स्थित ज्ञानेन्द्रियों जिन्हें क्रमशः 'इण्ट्रोसेप्टर' (Interoceptor) और 'परोपेरियोसेप्टर' (Proprioceptor) कहते हैं, उनसे 'ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह' निकलकर फिर वृहत्-मस्तिष्क में (3 तथा 4 से होकर) जाते हैं। तत्पश्चात् ही उसे उस परिस्थिति से सम्बन्धित संवेग की अनुभूति होती है। चित्र न० १८ को ठीक से देखने पर ये बातें और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

अतः स्पष्ट है कि 'जेम्स-लाँजे-सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक-व्यवहार संवेगात्मक-अनुभूति के पहले होता है। जिसका आधार स्वतः-सञ्चालित-स्नायुमण्डल है। इसके अतिरिक्त बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क का भी हाथ रहता है। उनके अनुसार, संवेगात्मक-अनुभूति, संवेगात्मक-व्यवहार के बाद ही नहीं होता है बल्कि इसके परिणामस्वरूप ही है। अर्थात् संवेगात्मक व्यवहार की चेतनानुभूति ही संवेग है। (My theory......is that the bodily changes follow direcly the perception of an exciting fact, and that the feeling of the same changes as they occur is the emotion." James, W. Psychology; Briefer Course)

हालाँकि यह सत्य है कि सवेग की अवस्था में शारीरिक परिवर्तन होते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि सवेग में पहले संवेगात्मक-व्यवहार होता है तब उसकी अनुभूति। यदि निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाय तो हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि 'जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त' पूर्णतः सही नहीं है।

'जेम्स-लाँजे के सिद्धान्त की आलोचनाएँ'
(Criticisms of James-Lange theory)

(क) कभी-कभी बिना किसी संवेगात्मक-व्यवहार का अनुभव किये हुए ही हमें उसकी अनुभूति होती है।

(ख) 'शेरिंगटन' (Sherrington) तथा 'कैनन' (Cannon) महोदयों ने क्रमशः कुत्ते और बिल्ली पर प्रयोगकर यह देखा है कि जब गर्दन के पास मेरुदण्ड को इस प्रकार काट दिया गया जिससे कि सहानुभूतिक-मण्डल में उत्पन्न होनेवाले स्नायु-प्रवाह बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क में नहीं जा सके, तब भी उन पशुओं के संवेगात्मक-अनुभूति तथा व्यवहार मे कोई परिवर्तन नहीं दीख पड़ा।

(ग) एक महिला, जिसके गर्दन के पास 'मेरुदण्डरज्जु' (Spinal cord) घोडे से गिर जाने के कारण टूट गया था, ने बताया कि संवेगात्मक-परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् उन्हें उस परिस्थिति से सम्बन्धित संवेग का अनुभव होता रहा। परन्तु यहाँ पर स्मरण रखने योग्य बात यह है कि उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में 'भेगस नर्भ' या 'प्राणेशा-स्नायु' (Vagus nerve) जो 'उपसहानुभूतिक मण्डल' के

'क्रेनियल फाइवर्स' या 'शीर्ष-तन्तु' (Cranial fibres) को मस्तिष्क में ले जाते हैं, उनमें कोई क्षति नहीं पहुँचती है। इसके फलस्वरूप आन्तरिक-अवयवों से स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क में पहुँचते रहते हैं। यदि सम्पूर्ण आन्तरिक-अवयवों तथा बृहन्मस्तिष्कीय-वल्क का आपसी सम्बन्ध पूर्णरूपेण विच्छेदित कर दिया जाता और तब भी प्राणी में अगर संवेगात्मक-व्यवहार पाये जाते तो हम इन्हें 'जेम्स-लाँजे-सिद्धान्त' के विरुद्ध एक उपयुक्त सबूत मानते। अतः ये अनुसन्धान इस सिद्धान्त को न तो पूर्णतः गलत ही साबित करते हैं और न इसका पुष्टीकरण ही करते हैं।

(घ) सवेग की अवस्था मे होनेवाले शारीरिक-परिवर्तनों पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विभिन्न सवेगों मे एक विशिष्ट प्रकार का शारीरिक-परिवर्तन नहीं होता है बल्कि एक ही तरह का शारीरिक-परिवर्तन प्रायः विभिन्न सवेगों का परिचायक होता है जिसके कारण विभिन्न संवेगों में सिर्फ उनमे हुए शारीरिक-परिवर्तनों के आधार पर ही उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। यदि शारीरिक-परिवर्तनों का होना ही संवेगात्मक-अनुभूति का आधार होता तो विभिन्न सवेगों मे एक विशिष्ट प्रकार के शारीरिक-परिवर्तन एक विशिष्ट क्रम मे होते तथा विभिन्न संवेगात्मक-अनुभूतियों के लिए भिन्न-भिन्न सवेगात्मक-व्यवहार देखे जाते। 'जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त' इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाता है कि प्रायः समान शारीरिक-व्यवहार किस प्रकार भिन्न-भिन्न संवेगात्मक-अनुभूतियाँ उत्पन्न करते हैं। काँपना, दौड़ना आदि व्यवहार न केवल भय की अनुभूति में पाये जाते हैं बल्कि ये व्यवहार हमारे क्रोध की अवस्था मे भी देखे जाते हैं। अस्तु, 'हम जेम्स-लाँजे के सिद्धान्त को पूर्णतः सही नहीं मान सकते हैं'।

(घ) 'एड्रीनिन की सूई' जो काफी मात्रा में प्राणी के अन्तरावयवों की क्रियाओं मे परिवर्तन लाती है, प्रायः संवेगात्मक-अनुभूति उत्पन्न नहीं कर पाती है। यदि शारीरिक-परिवर्तन ही संवेग का आधार होता, जैसा कि 'जेम्स-लाँजे-सिद्धान्त' का मत है तो ऐसी हालत में जब कि 'एड्रीनिन की' सूई देने पर अन्तरावयवों की क्रियाओं में विशेष-रूप से परिवर्तन होता है तो संवेगात्मक-अनुभूति का भी होना अनिवार्य था। चूँकि यहाँ शारीरिक-परिवर्तन होने के पश्चात् संवेगात्मक-अनुभूति नहीं होती, 'जेम्स-लाँजे-सिद्धान्त' को त्रुटिपूर्ण माना गया है। पर 'जेम्स और लाँजे' का कहना है कि संवेग के कुछ अन्तरावयवों तथा धारीदार मांसपेशियों-सम्बन्धी पहलू

है जो व्यक्ति में एड्रीनिन की सूई देने से उत्पन्न नहीं हो पाती है और जो उनके अनुसार संवेग की अनुभूति को उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य हैं। यही कारण है कि एड्रीनिन की सूई देने पर भी प्राणी म सवेगात्मक-अनुभूति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में किसी सवेगात्मक-परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण भी प्राणी को नहीं होता है। 'जेम्स और लॉजे' के अनुसार संवेगात्मक-परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् शारीरिक परिवर्तनों के होने पर ही संवेगात्मक-अनुभूति हो सकती है। अतः 'उपर्युक्त आलोचना से हम जेम्स लॉजे क सिद्धान्त को बिल्कुल गलत नहीं साबित कर सकते हैं'।

(ङ) 'अन्तरावयव' (Viscera) अपेक्षाकृत न सिर्फ असंवेदनशील (Relatively) हैं, बल्कि ये प्रतिक्रियाएँ करने में भी धीमे हैं। (Visceral organs are not only relatively insensitive rather they are also slow to react). संवेगात्मक-अनुभूति, संवेगात्मक-परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण होने के एक ही सेकेण्ड से कम ही की अवधि के बाद हो सकती है, परन्तु अन्तरावयवों की प्रतिक्रियाएँ एक सेकेंड के बाद ही होती हैं। अस्तु, हम देखते हैं कि वस्तुतः 'संवेगात्मक-अनुभूति, सवेगात्मक-व्यवहार के बाद न होकर इसके पूर्व हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि संवेगात्मक-अनुभूति के फलस्वरूप ही सवेगात्मक-व्यवहार होते हैं, चूँकि ऊपर (क) मे भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसी संवेगात्मक अनुभूतियाँ भी होती हैं जिनुमे स्पष्टरूप से कोई शारीरिक-परिवर्तन नहीं दीख पड़ता है।

हालाँकि यहाँ पर 'हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त' (Hypothalamic theory) का विस्तारपूर्वक वर्णन करना अभीष्ट नहीं है, फिर भी 'जेम्स-लॉजे सिद्धान्त' की आलोचना-स्वरूप इसका उल्लेख संक्षेप मे कर दिया जाय तो उचित होगा।

(३) 'हाइपोथैलेमिक सिद्धान्त'
(Hypothalamic Theory)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाले 'कैनन' (Cannon) तथा 'बार्ड' (Bard) नामक दो मनोवैज्ञानिक हैं। उनका कहना है कि 'जेम्स-लॉजे-सिद्धान्त' गलत है। उनके अनुसार संवेगात्मक-अनुभूति,

मस्तिष्क का सम्बन्ध-विच्छेद भी कर दिया जाय तो भी हाइपोथैलेमिक सिद्धान्त के अनुसार हाइपोथैलेमस और बृहत्-मस्तिष्क का सम्बन्ध बना रहा। इस सम्बन्ध के बने रहने के कारण हम देखते हैं कि कुत्ते तथा बिल्ली और घोडे से गिरी हुई महिला जिसका मेरुदण्डरज्जु गर्दन के पास टूट गया था, इनमे भी संवेगात्मक-अनुभूति एवं व्यवहार दोनों देखे गये।
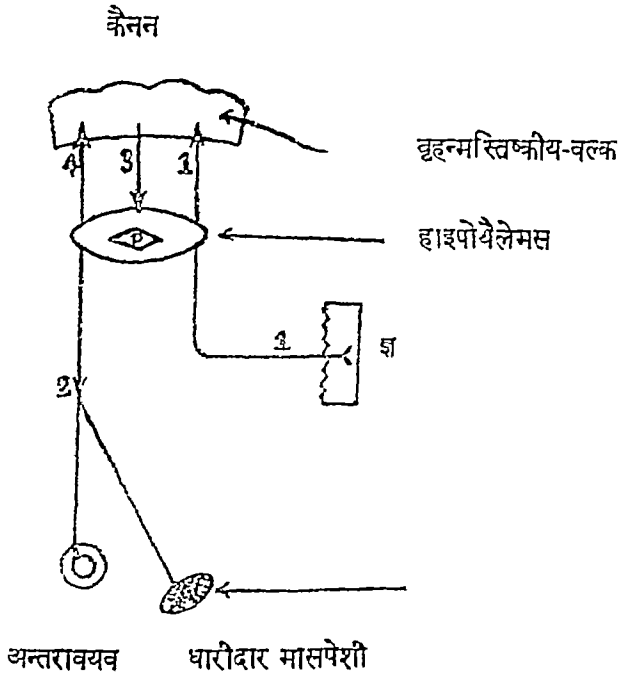
चित्र नं० १६—हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त का रेखाचित्र

[चित्र की व्याख्या—ज्ञानवाही-स्नायु (Sensory impulses) (1 तथा 1 से) वृहत् मस्तिष्क में जाते समय जब हाइपोथैलेमस से गुजरते हैं तो एक निश्चित एव विशेष प्रकार के (Definite patterns—'p') ' अर्जित तथाअनर्जित हाईपोथैलेमिक-स्राव' (Discharge) को उत्पन्न (Arouse) करते हैं। हाइपोथैलेमस में उत्पन्न होनेवाले ये स्नायु-प्रवाह (Impulses) तब एक ही समय वृहत्मस्तिष्क (4 से होकर) तथा अन्तरावयवो एवं धारीदार मासपेशियो (२ से होकर) में जाते हैं। 'राह नं० ३' (Path 3) ही वृहत्-मस्तिष्क से हाइपोथैलेमस तक की राह है जहाँ के स्नायु-प्रवाह (Impulse) हाइपोथैलेमस के स्राव (Discharge) को रोकने का काम (Inhibitory influence) करते है अथवा उसको नियन्त्रित करते हैं।]

हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त के अनुसार हम इस बात की व्याख्या कर पाते हैं कि जब अन्तरावयव आदि को क्रियाशील होने में थोड़ा समय लगता है तो फिर संवेगात्मक-परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही

सवेगात्मक-अनुभूति अविलम्ब क्यों हो जाती है। हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त अन्तरावयव (Viscera) को संवेग की उत्पत्ति में गौण महत्व का समझता है। यह सिद्धान्त बतलाता है कि संवेगात्मक-अनुभूति इसलिए अविलम्ब हो जाती है कि हाइपौथैलेमस से स्नायु-प्रवाह जब वृहत्-मस्तिष्क में पहुँचता है तो उसे क्रियाशील होने में कुछ भी समय नहीं लगता है। यही कारण है कि संवेगात्मक-अनुभूति तथा संवेगात्मक-व्यवहार एक दूसरे के बाद न होकर एक ही साथ होते हैं और न कि सवेगात्मक-व्यवहार, संवेगात्मक-अनुभूति उत्पन्न करता है जैसा कि जेम्स-लाँजे ने अपने सिद्धान्त मे माना है। 'हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त' के अनुसार हाइपोथैलेमस को ही संवेग की उत्पत्ति में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। हाइपोथैलेमस क्रियाशील होने में अन्तरावयव (Viscera) की तरह समय नहीं लेता। यही कारण है कि अन्तरावयव के अपेक्षाकृत देर से क्रियाशील होने की बात हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त के लिए विशेष महत्व नहीं रखती। परन्तु हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त भी दोषरहित नहीं है। इसमे भी बहुत से दोष बतलाये गये हैं, जिनका वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नहीं हैं। अतः हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त को भी संवेग का एक 'यथेष्ट (Adequate) सिद्धान्त' नहीं माना जा सकता है।

'संवेग-सिद्धान्त-सम्बन्धी निष्कर्ष'
(Conclusion regarding Theories of Emotion)

सवेग-सिद्धान्तों (Theories of Emotion) के सम्बन्ध में किये गये उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि पूर्णरूप से न तो 'जेम्स-लाँजे सिद्धान्त' को, न 'हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त' को ही संवेग का एक यथेष्ट-सिद्धान्त (Adequate theory) मान सकते हैं, क्योंकि इन दोनों में त्रुटियाँ (Defects) हैं। फलतः संवेगात्मक-अनुभूति तथा व्यवहार के सम्बन्ध के स्वरूप का पूर्ण (Complete) एवं समुचित (Correct) ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है। हालाँकि यह सत्य है कि संवेग की अवस्था में कुछ शारीरिक-परिवर्तन भी होते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जैसा कि जेम्स-लाँजे-सिद्धान्त का कहना है, संवेगात्मक-व्यवहार, सवेगात्मक-परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के बाद ही होता है और सवेगात्मक अनुभूति इसी संवेगात्मक-व्यवहार की चेतनानुभूति है। अतः यह स्पष्ट है कि जेम्स-लाँजे का सिद्धान्त (Jams-Lange theory) न तो पूर्णतः

ठीक है, न पूर्णतः गलत ही है। अर्थात् इसे आंशिक रूप मे ही संवेग का एक ठीक सिद्धान्त मान सकते हैं।

इसी तरह 'हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्त' भी अपने में आंशिक सत्यता ही रखता है। इस सिद्धान्त को भी बिलकुल बेकार नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि हाइपोथैलेमस को संवेग का केन्द्र नहीं माना जा सकता है फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि संवेग म हाइपोथैलेमस का एक प्रधान स्थान है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि उसी सिद्धान्त को संवेग का एक 'यथेष्ट सिद्धान्त' (Adequate theory) माना जा सकता है, जिसमें न सिर्फ जेम्स-लॉजे और हाइपोथैलेमिक-सिद्धान्तो के द्वारा प्राप्त तथ्यो का समावेश हो, बल्कि जो इनकी त्रुटियों को दूर कर पूर्णरूप से संवेग को व्याख्या कर सके।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी संवेग के अन्य सिद्धान्त दूसरे-दूसरे मनोवैज्ञानिको जैसे—'मैकडूगल' (Mc Dougall), 'लीपर' (Leeper) आदि के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं, जिनका वर्णन छात्र उच्च वर्गों में पढ़ेंगे।

———

सोलहवाँ अध्याय

क्रिया तथा प्रेरक-वृत्तियों का संघर्ष

(Action and Conflict of Motives)

भूमिका—क्रियाओं का वर्गीकरण—(१) अनैच्छिक एवं (२) ऐच्छिक क्रियाएँ।

१. अनैच्छिक क्रियाएँ—सहज क्रियाएँ तथा मूल प्रवृत्ति की क्रियाएँ।

(क) सहज क्रियाएँ—सहज क्रियाओं की विशेषताएँ—सहज क्रियाओं के प्रकार—'शारीरिक सहज क्रिया' तथा 'ज्ञानात्मक सहज क्रिया'।

(ख) मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ—मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित संवेग तथा 'मैकडूगल' महोदय के अनुसार मूल प्रवृत्तियों की संख्या—मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण—मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया की विशेषताएँ।

(ग) सहज क्रिया तथा मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में अन्तर।

२. ऐच्छिक क्रियाएँ—(क) ऐच्छिक क्रियाओं की विशेषताएँ (ख) ऐच्छिक क्रियाओं की अवस्थाएँ—इच्छा अथवा प्रेरक वृत्तियों का संघर्ष—चेतन तथा अचेतन मानस के द्वारा प्रेरक वृत्तियों के संघर्षों का समाधान एवं (ग) आदतें अथवा अभ्यासजन्य क्रियाएँ।

मनुष्य जब तक जीवित रहता है कुछ न-कुछ क्रिया एवं प्रतिक्रिया करता ही रहता है। इनके बिना वातावरण से उसका अभियोजन होना सम्भव नहीं। अगर उसकी सारी क्रियाओं का एक अध्ययन किया जाय तो पाया जायगा कि उसकी कुछ क्रियाएँ स्वतः होती हैं और अन्य क्रियाओं के लिए उन्हें जान-बूझकर प्रयास करना पड़ता है।

आँखों में कोई कण पड़ जाने पर पानी का निकलने लगना अथवा अँगुली में अगर कहीं 'पिन' चुभ गई तो अँगुली का चट पीछे की ओर

बचाव के लिए खींच लेना आदि कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं जो मनुष्यों में उत्तेजना-विशेष के होते ही आप-से-आप सञ्चालित हो जाती हैं। ये क्रियाएँ स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। इनके लिए मनुष्यों को तर्क चिन्तन अथवा मानसिक विचार-विमर्श करने की एकदम आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार की क्रियाओं को 'स्वतः-सञ्चालित अथवा अनैच्छिक (Involuntary action) क्रियाएँ' कहते हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ 'अनर्जित' होती हैं—'अनसीखी' (Unacquired or unlearned) होती हैं।

दूसरी प्रकार की वे प्रतिक्रियाएँ हैं जो मनुष्य सोच-समझकर करते हैं। ये क्रियाएँ 'स्वतः सञ्चालित' नहीं होती वरन् उन्हें मनुष्य अपनी इच्छा, रुचि अथवा अपने किसी उद्देश्य की पूर्त्ति आदि के लिए 'जानकर' करते हैं। इस प्रकार की क्रियाओं को 'ऐच्छिक क्रियाएँ' (Voluntary activities) कहते हैं। ऐसी क्रियाएँ 'अर्जित' होती हैं—'सीखी' होती हैं।

अस्तु, मनुष्य की सारी प्रतिक्रियाओं को निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है जो पृष्ठ ३५७ पर दिये गये तालिका से आप ही स्पष्ट हो जायगा। अब हम एक-एक कर इनका अध्ययन करेंगे—

(क) अनैच्छिक क्रियाएँ
(Involuntary Actions)

मनुष्यों में अनैच्छिक अर्थात् स्वतः सञ्चालित प्रतिक्रियाओं को भी मनोवैज्ञानिकों ने कई भागों में बाँटा है, जिनमें दो प्रमुख हैं—(१) 'सहज क्रियाएँ' (Reflex Action) तथा (२) 'मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ' (Instinctive Actions).

(१) 'सहज क्रियाएँ'
(Reflex Actions)

सहज क्रियाएँ मनुष्यों की ऐसी क्रियाएँ हैं जो किसी उत्तेजना-विशेष के सम्पर्क में आते ही आप-से-आप होती हुई पायी जाती हैं।* मान लीजिए

---

* अंगरेजी में सहज क्रियाओं की परिभाषा इस प्रकार है—

A reflex action in usually defined as "an inherited muscular or glandular reaction which is determind immediately by the stimulation of a receptor and the consequent excitation of an afferent sensory neuron and which follows immediately upon such stimulation and excitation"

—*Collins & Drever*

क्रिया (Action)
(क) अनैच्छिक क्रियाएँ
(Involuntary Action)
(ख) ऐच्छिक क्रियाए
(Voluntary Action)
(१) सहज क्रियाएँ
(Reflex Action)
(२) मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ
(Instinctive Action)
(१) सहज
(Simple)
(२) जटिल
(Complex)
(३) अर्द्ध ऐच्छिक-क्रियाएँ
अथवा अभ्यासजन्य
(Semi-Voluntary or
Habitual)
(i) शारीरिक सहज
क्रियाएँ
(Physiological
Reflex Actions)
(ii) ज्ञानात्मक सहज
क्रियाएँ
(Sensory or conscious
Reflex Actions)
१ प्रकटीकरण के दृष्टिकोण से
२ उद्देश्य के दृष्टिकोण से
(i) जन्म काल से वर्तमान रहनेवाली
(Present at birth)
(ii) परिपक्वता की प्राप्ति के बाद
देखी जानेवाली
(Appearing at maturity)
(i) आत्म-रक्षा-सम्बन्धी क्रियाए
(Activities for self-
preservation)
(ii) जाति-रक्षा-सम्बन्धी क्रियाएँ
(Activities for
preservation of race)

कि आपकी जीभ पर किसी ने अँचार का एक टुकड़ा डाल दिया है। टुकड़ा को जीभ के सम्पर्क में आते ही आपके मुँह मे लार आने लगती है। अँचार का टुकड़ा एक 'उत्तेजक' (Stimulus) है और लार का निकलना एक 'प्रतिक्रिया' (Response) है। परन्तु 'अँचार' (Pickle) के टुकड़े को जीभ पर जाने के बाद आपके मुँह मे लार आप-से-आप निकलने लगती है। इसके लिए आपको किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार किसी का हाथ कभी खूब गर्म लोहे पर पड जाता है तो हाथ पड़ते ही वह तुरत अपना हाथ पीछे खींच लेता है। गर्म लोहे पर से तुरत हाथ हटा लेने की क्रिया स्वतः हो जाती है। इसमे कोई विलम्ब नहीं लगता। ऐसी ही तुरत हो जानेवाली स्वतः-सञ्चालित क्रियाओं को 'सहज क्रिया' (Reflex action) कहते हैं।

'सहज क्रियाओं का शारीरिक आधार' (Physiological basis of Reflex Actions)—सहज क्रिया पर अगर ध्यान से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह क्रिया प्रायः पूर्णतः शारीरिक आधार पर ही अवलम्बित है। सहज क्रियाओं का शारीरिक आधार 'सहज-क्रिया-धनु' (Reflex-Arc) है। सहज-क्रिया-धनु मे निम्नलिखित अवयवों की आवश्यकता पडती है—

(i) 'ग्राहकेन्द्रिय' (A receptor organ), (ii) 'अन्तर्वाहक-स्नायु' (Sensory nerve), (iii) 'सुषुम्ना' (Spinal cord), (iv) 'वहिर्वाहक-स्नायु' (Motor nerve), (v) 'पिण्ड अथवा मास-पेशियाँ' (Glands and Muscles or Effectors).

सबसे पहले उत्तेजना को ग्राहकेन्द्रिय ग्रहण करती है। फलतः ग्राहकेन्द्रियों से लगे स्नायुओं मे स्नायु-प्रवाह (Nerve-impulse) उत्पन्न होते हैं जो 'अन्तर्वाहक स्नायुओं' (Sensory nerves) के द्वारा 'सुषुम्ना' (Spinal cord) तक पहुँचते हैं, फिर वहाँ से 'वहिर्वाहक-स्नायु' (Motor nerves) के द्वारा ये 'स्नायु-प्रवाह' (Nerve-impnlse) 'पिण्ड अथवा मासपेशियों' (Glands or muscles) तक पहुँचते हैं जिसके फलस्वरूप प्राणी में क्रिया होती है। अँगुली गर्म लोहे मे जलन ग्रहण करती है और इसी जलन के कारण अँगुली के अन्दर के स्नायुओं मे स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होते हैं। ये स्नायु-प्रवाह सुषुम्ना में पहुँचते हैं। फिर वहाँ से स्नायु-प्रवाह लौटकर अँगुलियों

की मांसपेशियों तक आते हैं जिसके कारण अँगुलियों की मांसपेशियाँ सक्रिय हो उठती हैं और तब हम व्यक्ति में गर्म लोहे पर से हाथ खींच लेने की सहज-क्रिया देखते हैं।

इसी प्रकार सहज-क्रिया के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। एक नवजात शिशु के कण्ठ में यदि थोड़ा तरल पदार्थ डाल दिया जाय तो हम पाते हैं कि बच्चे के कण्ठ से लगे 'घोटने' (Swallowing) की क्रिया' से सम्बन्ध रखनेवाली मांसपेशियों में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप शिशु इस तरल पदार्थ को स्वतः निगल जाता है। एकाएक बहुत जोर से आवाज होने पर चौंक उठना, अचानक अधिक प्रकाश हो जाने पर पलकों का झँप जाना आदि सहज-क्रिया के कितने उपयुक्त उदाहरण हैं। नवजात शिशु के हथेली पर यदि पेंसिल डाल दें, तो बच्चे की हथेली मे उसे पकड़ लेने की सहज क्रिया देखी जाती है जिसे 'वैबिनस्की रिफ्लेक्स' (Banbinski-reflex) कहते हैं।

इसी प्रकार कुछ मनोवैज्ञानिकों की राय में बच्चों का 'जन्म-रुदन' (Birth cry), उपयुक्त उत्तेजना के उपस्थित होने पर रोंगटों का खड़ा हो जाना आदि सहज-क्रिया के ऐसे उदाहरणों में से है जिन पर हमारा ध्यान अधिक नहीं जाता। इसका अर्थ यह नहीं कि सहज-क्रिया केवल मांसपेशियों में ही देखी जाती है। सहज-क्रिया पिण्डों में भी होते हैं। जैसे—'सलाइभरी रिफ्लेक्स' (Salivary reflex), 'टियर रिफ्लेक्स' (Tear reflex) आदि।

सहज क्रियाओं पर न केवल शरीर-शास्त्रज्ञों एव मनोवैज्ञानिकों का ही ध्यान रहा है बल्कि प्राचीन काल में ही 'डेकार्टे' (Descartes) जैसे प्रमुख दार्शनिकों ने भी इस विषय की चर्चा की है।

'सहज क्रियाओं की विशेषताएँ'
(Characteristics of Reflex Action)

(१) सहज-क्रिया अत्यन्त ही सरल एवं सारी अन्य क्रियाओं से अधिक शीघ्रता से सम्पन्न हो जानेवाली क्रिया है। साधारणतः ऐसी क्रियाओं का मनुष्य में चेतना भी नहीं हो पाती है। जब आँखों के सामने बहुत तेज प्रकाश चला जाता है तो आँखों की पुतलियाँ आप-से-आप छोटी हो जाती हैं। मनुष्यों को यह चेतना नहीं हो पाती है कि उसकी आँखों की पुतलियाँ छोटी होती जाती हैं, परन्तु कुछ सहज-क्रियाएँ ऐसी भी हैं जिनकी

चेतना हो जाती हैं। जैसे—अगर शरीर पर कोई कीड़ा चढता रहता है तो मनुष्य उसे तुरत झटक कर गिरा देता है। यह झटक देने की क्रिया इसलिए होती है चूँकि मनुष्य में कीड़ा चढने की चेतना हो जाती है। परन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि सहज क्रियाओं में चेतना की तीव्रता (Intensity of consciousness) अधिक नहीं रहती।

सहज-क्रिया मनुष्यों की एक 'जन्मजात' (Inborn) प्रक्रिया है। सहज क्रियाओं को सीखने के लिए किसी शिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक नवजात शिशु में 'प्यूपिलरी रिफ्लेक्स' (Pupilary reflex) 'सलाइभरी रिफ्लेक्स' (Salivary reflex), 'टियर रिफ्लेक्स (Tear reflex), 'बैबिनसकी रिफलेक्स' (Banbinsiki reflex) आदि देखने को मिलते हैं। हालाँकि ऐसी सहज-क्रियाएँ भी हैं जिन्हें प्राणी-विशेष में 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन' (Conditioning) के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। 'पावलव' (Pavlov) ने अपने 'प्रयोग के' द्वारा यह दिखलाया कि घण्टी की आवाज सुनने पर भी कुत्ते क मुँह से लार टपकने लगी। ऐसी सहज क्रियाओं को हम 'स्वाभाविक सहज क्रिया' (Natural reflex) नहीं कहकर अगर 'कृत्रिम सहज क्रिया' (Artificial reflex) कहें तो अधिक उचित होगा जो परिस्थिति-विशेष तथा पद्धति-विशेष से उत्पन्न हो जाती है अथवा की जाती है।

(३) सहज क्रियाओं पर प्राणी का प्रायः नियन्त्रण (Control) नहीं होता। मनुष्य लाख चाहने पर भी आँखों में धूल का एक कण पड़ जाने पर उनमें से पानी का निकलने लगना रोक नहीं सकता। मुँह में भोजन पड़ते ही लार का निकलना नहीं रोका जा सकता। जलते लोहे पर अँगुली पड़ जाने पर अँगुली पीछे की ओर खींच ही ली जायगी। अगर कोई व्यक्ति जान-बूझकर काफी देर तक किसी विशेष कारणवश खूब गर्म लोहा पकडे रह जाता है तो इस क्रिया को सहज क्रिया की संज्ञा न देकर हम एक 'ऐच्छिक क्रिया' (Voluntary action) की संज्ञा देंगे।

(४) यह क्रिया उत्तेजना-विशेष के उपस्थित होते ही तत्काल हो जाती है। 'तात्कालिकता' (Immediateness) इसका विशेष गुण है। आँखों के नजदीक जैसे ही कोई पदार्थ अचानक झटके से चला आता है कि तुरत इसकी पलकें गिर जाती हैं और आँखें बन्द हो जाती हैं। उत्तेजना के उपस्थित होने तथा इस क्रिया के उत्पन्न होने के बीच में जो

समय लगता है वह इतना कम होता है कि यह क्रिया तत्काल घटते प्रतीत होती है। यदि वर्ग मे आगे बैठे लड़के को पीछे से कोई बदमाश लड़का पिन चुभा देता है तो आगे के लड़के का शरीर तुरत आगे की ओर उचक उठता है। यह सहज क्रिया तत्काल होती है। ऐसी बात नहीं होती है कि पिन अभी चुभाई जाय और कुछ देर के बाद शरीर के चुभाये गये भाग को हटा लेने की क्रिया देखी जाय।

(५) सहज क्रियाओं को देखकर ऐसा लगता है जैसे उसमें किसी भावी उद्देश्य की सर्वथा अनुपस्थिति रहती हो। कुछ अंशों में ऐसा कहना उचित भी है। परन्तु ध्यान मे देखा जाय तो प्रत्येक सहज क्रिया के पीछे एक महान उद्देश्य छिपा रहता है और वह उद्देश्य है, प्राणी की जीवन-रक्षा का। नाक की नली में जब कोई अनावश्यक पदार्थ किसी प्रकार पहुँच जाता है और साधारण सांस की क्रिया के द्वारा वह पदार्थ बाहर नहीं निकल पाता है तो 'छींक' आने की सहज क्रिया होती है और जिसके फलस्वरूप वह अनावश्यक चीज नाक की नली से बाहर निकाल दी जाती है। अगर वह चीज नाक से बाहर न निकाल फेंकी जाय तो साँस-नली में या फेफड़ों में कोई विकार उत्पन्न हो सकता है जो मनुष्य के लिए घातक सिद्ध हो। ठक इसी प्रकार आँखों मे धूल के कण पड़ने के बाद पानी न निकलना शुरू हो जाय तो उस कण का बाहर निकलना कठिन हो जायगा। कण का आँखों में छूट जाने से आँखों मे भयंकर बीमारी अथवा घाव उत्पन्न हो जा सकता है। ठीक इसी प्रकार 'लार' का निकलना भोजन को पचाने के लिए आवश्यक है जिसका मनुष्य के जीवन को बनाये रखने से घना सम्बन्ध है। अस्तु, सहज क्रियाओं की तह में जीवन-रक्षा का उद्देश्य अवश्य रहता है।

(६) सहज क्रिया मे शरीर का एक अंगविशेष ही मूलतः शामिल होता है। कौन-सा अंग कब सहज क्रिया प्रकट करेगा, यह उत्तेजना की उपस्थिति एवं स्वभाव पर निर्भर करता है। प्रकाश की उत्तेजना से उत्पन्न सहज-क्रिया आँखों में ही होगी। जब हाथ जलने लगता है तो हाथ को पीछे खींचने की सहज क्रिया देखी जाती है। शरीर के अन्य अवयव अपेक्षाकृत अप्रभावित रहते हैं। एक विशेष तरह की उत्तेजना के प्रभाव से एक विशेष तरह की ही सहज क्रिया देखी जाती है। अर्थात् सहज क्रिया में 'स्थानीय-करण' (Localisation) सम्भव है। इस परिस्थिति में मनुष्य का व्यवहार 'यान्त्रिक' (Mechanical) होता है।

(७) सहज क्रियाओं को हजार बार दुहराये जाने पर भी उनमें सुधार सम्भव नहीं हो पाता। नाक में नस पड़ जाने पर छींक आ जाने की क्रिया की पुनरावृत्ति होने पर भी उसके प्रकटीकरण के रूप में सुधार नहीं होता। जीभ पर कुछ खाद्य पदार्थ पड़ने पर 'लार' निकलने की क्रिया जिस प्रकार पहली बार होती है, उसी प्रकार अन्य बार भी होती पायी जाती है। यह बात दूसरी है कि भोज्य-पदार्थ की मात्रा एवं स्वाद के अन्तर के कारण कभी कम 'लार' निकले अथवा कभी अधिक। परन्तु लार निकलने की प्रतिक्रिया के तरीके (Process) में कोई अन्तर नहीं होता।

सहज क्रियाओं के प्रकार

(Kinds of Reflex Action)

सहज क्रियाएँ व्यक्ति में जन्मकाल से ही देखने को मिलती हैं, जैसे— 'टेण्डन रिफ्लेक्स' (Tendon reflex), 'ग्रास्पिंग रिफ्लेक्स' (Grasping reflex), 'बैबिनस्की रिफ्लेक्स' या 'प्लैण्टर रिफ्लेक्स' (Babinski reflex or Planter reflex) आदि। इन सहज क्रियाओं की विशद व्याख्या पाठक बाल-मनोविज्ञान में पढ़ेंगे। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से सहज क्रियाओं को मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित दो प्रमुख भागों में बाँटा है—

(i) 'शारीरिक सहज क्रिया' (Physiological reflex action), एवं (ii) 'ज्ञानात्मक सहज क्रिया' (Sensory reflex action or Conscious reflex action).

(i) 'शारीरिक सहज क्रिया' (Physiological reflex action)— ऐसी सहज क्रियाओं को शारीरिक सहज क्रिया कहते हैं जो मनुष्यों में घटित हो जाती हैं, पर जिनका ज्ञान उन्हें नहीं हो पाता है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण 'प्यूपिलरी रिफ्लेक्स' (Pupilary reflex) है। आँखों के सामने तेज रोशनी आने पर 'उपतारा' (Iris) नामक मांसपेशी की सहज क्रिया के द्वारा आँखों की पुतली का आकार छोटा हो जाता है तथा कम तीव्र प्रकाश होने पर इस पुतली का आकार क्रमशः बड़ा हो जाता है। पुतली के आकार के बड़ा होने अथवा क्रमशः छोटा होने का ज्ञान मनुष्य को नहीं हो पाता। ऐसी सहज क्रियाओं को 'शारीरिक सहज क्रिया' (Physiological reflex action) कहते हैं।

(ii) 'ज्ञानात्मक सहज क्रिया' (Sensory or conscious reflex action)—ये ऐसी सहज क्रियाएँ हैं जिनके होते ही मनुष्यों को यह भी ज्ञान हो पाता है कि फलाँ क्रिया उसके द्वारा हो गई है। जैसे—भोजन के मुँह में पड़ते ही लार का आना। लार आते ही मनुष्यों को इस बात का ज्ञान भी हो जाता है कि उसके मुँह में लार आ रही है। इस प्रकार की सहज क्रियाओं की विशेषता यह है कि इन्हे रोका नहीं जा सकता। जलने पर हाथ पीछे खींच लेना, खाँसना, छींकना आदि इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सहज क्रियाओं की 'उत्पत्ति' (Origin) और 'प्रकटीकरण' (Expression) को ध्यान में रखकर इन्हें दो अन्य भागों मे भी बाँटा जा सकता है। एक को कहते हैं 'प्राथमिक या स्वाभाविक सहज क्रिया' (Primary or Natural reflex action) और दूसरे को 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तित सहज क्रिया' (Conditioned reflex action).

भोजन को देखकर लार का आना एक 'प्राथमिक अथवा स्वाभाविक सहज क्रिया' है। अचानक भयंकर ध्वनि से भयभीत होना 'स्वाभाविक सहज क्रिया' है।

परन्तु यदि घण्टी की आवाज सुनकर लार निकलने लगे अथवा कोई गुलाब के सुन्दर फूल को देखकर भयभीत हो जाय तो इसे हम 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तित सहज क्रिया' (Conditioned reflex action) कहेंगे। इस विषय की चर्चा 'पावलव' (Pavlov) के सीखने के 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तन के सिद्धान्त' (Theory of conditioning) की व्याख्या करने के सिलसिले मे की जा चुकी है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने 'प्राथमिक सहज क्रिया' (Primary reflex action) की जगह 'स्वाभाविक सहज क्रिया' (Natural reflex action) तथा 'सम्बन्ध-प्रत्यावर्त्तित सहज क्रिया' (Conditioned reflex action) की जगह 'कृत्रिम सहज क्रिया' (Artificial reflex action) कहना 'सहज क्रियाओं' का अधिक उपयुक्त वर्गीकरण माना है।

(२) 'मूल प्रवृत्ति की क्रियायें'
(Instinctive Actions)

सहज क्रियाओं की तरह मूल प्रवृत्ति की क्रियाएँ भी 'अनर्जित एवं अनसीखी' (Unacquired or unlearned) होती हैं। ये क्रियाएँ भी प्राणी में स्वतः संचालित होती पायी जाती हैं। इनके लिए भी किसी

प्रकार के शिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती। मुर्गी का बच्चा अण्डा मे बाहर निकलते ही दाना चुगना शुरू कर देता है। मनुष्य का बच्चा जन्म के तुरत बाद ही माँ का स्तन चूसना शुरू कर देता है। न किसी को मुर्गी के बच्चे को दाना चुगने की क्रिया सिखलाने की जरूरत पड़ती है और न किसी को यह आवश्यकता पड़ती है कि बच्चे को यह शिक्षा दे कि माँ क स्तन मे किस प्रकार दूध पीना चाहिए।

यह मूल प्रवृत्ति की क्रिया का ही परिणाम है कि सारे के सारे पक्षी अपने घोसले एक ही प्रकार के बनाते हैं। मकड़ों के जाल को ध्यान से देखा जाय तो सभी मकडों क जाल की बनावट की विधि एवं रूप में समानता पायी जायगी। मधुमक्खियों द्वारा एक जैसे मधु के छत्तों का निर्माण, रेशम के कीडों का अवस्था विशेष होने पर रेशम निकालने की क्रिया, कोयल का समय आते ही कूकने लगना आदि मूल प्रवृत्ति की क्रियाओं के सुन्दर उदाहरण हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि मूल प्रवृत्ति की क्रियाएँ सिर्फ जानवरों अथवा पंछियो में ही देखने को मिलती हैं। मनुष्यों में भी ऐसी क्रियाओं की कमी नहीं। फर्क इतना है कि जानवरों मे मूल प्रवृत्ति की क्रियाओं का अपेक्षाकृत आधिक्य पाते हैं। मनुष्यों में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव के कारण इनक रूप बहुत अशों मे बदले नजर आते हैं। हर मनुष्य में भय में 'भागना' (Escape), 'साथ-साथ रहना' (Gregariousness), 'जिज्ञासा' (Curiosity) आदि मूल प्रवृत्ति की क्रियाएँ पायी जाती हैं।

'मैकडूगल' (McDougall) नामक अमेरिकन मनोवैज्ञानिक ने मूल प्रवृत्तियों की एक बृहत्-सूची तैयार की थी। उन्होंने मनुष्यों के सारे व्यवहारो की व्याख्या मूल प्रवृत्तियों के आधार पर करने का प्रयास किया। उनक अनुसार व्यक्ति मे 'चौदह प्रमुख मूल प्रवृत्तियाँ' हैं जो उसके व्यवहारों मे प्रदर्शित होती रहती हैं। हरएक मूल प्रवृत्ति के साथ किसी-न-किसी प्रकार का 'भाव' (Feeling) अथवा 'संवेग' (Emotion) भी सम्बन्धित होता है। वे इस प्रकार हैं:—

'मैकडूगल' के अनुसार मूल-प्रवृत्तियाँ तथा उनसे सम्बन्धित संवेगों की सूची

मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts).	'संबंधित सवेग' (Related Emotions)
1. Escape	Fear
2. Combat	Anger
3. Repulsion	Disgust

4.	Parental	Tender emotion
5.	Appeal	Distress
6.	Mating	Lust
7.	Curiosity	Wonder
8.	Submission	Negative self-feeling
9.	Self-assertion	Positive self-feeling
10.	Gregariousness	Feeling of loneliness
11.	Food Seeking	Gusto
12.	Acquisition	Feeling of ownership
13.	Construction	Feeling of creativeness
14.	Laughter	Amusement

ऊपर की सूची से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ कोई-न-कोई भाव अथवा संवेग भी लगा रहता है। अचानक जंगल में शेर की आवाज सुनकर प्राणी खतरे से भागता है (Instinct of escape); परन्तु इस भागने की मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया में भय का भी संवेग (Emotion) शामिल है। ठीक उसी प्रकार लड़ने-झगड़ने की मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों के अध्ययन में संवेगात्मक पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इन चौदह प्रमुख मूल प्रवृत्तियों के अलावे 'मैकडूगल' महोदय (McDougall) ने और भी कई मूल प्रवृत्तियों का नामकरण किया। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मूल प्रवृत्तियों की संख्या सौ से भी अधिक है और कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मूलतः इसकी संख्या दो अथवा एक से अधिक नहीं।

चाहे मूल प्रवृत्तियों की संख्या कितनी भी हो, हमें इतना अवश्य समझना चाहिए कि इन क्रियाओं के पीछे कुछ उद्देश्य छिपा होता है। मूल प्रवृत्तियों की कुछ क्रियाओं के द्वारा प्राणी के अपने जीवन की रक्षा होती है। जैसे—Instinct of food seeking अर्थात् 'भोजन खोजने के मूल प्रवृत्ति' के पीछे प्राणी की भूख एवं जीवन-निर्वाह का प्रश्न है। अपनी रक्षा (Self-preservation) के अतिरिक्त मूल प्रवृत्ति की क्रियाओं के पीछे जाति-विशेष की रक्षा (Preservation of the race) का भी उद्देश्य रहता है। 'यौन समागम' (Sexual intercourse) की मूल प्रवृत्ति सन्तानोत्पत्ति अथवा जाति-रक्षा के लिए आवश्यक है।

परन्तु मूल प्रवृत्ति के कार्य करते समय प्राणी को इन उद्देश्यों का ज्ञान नहीं रहता है।

'मैकडूगल' (Mc Dougall) के द्वारा दी गई परिभाषा* के आधार पर भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने हिन्दी में मूल प्रवृत्ति की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से देनी चाही है—

'जब प्राणी आत्म-रक्षा या जाति-रक्षा के निमित्त किसी निश्चित फल-प्राप्ति के लिए क्रमबद्ध (Systematic) क्रियाओं को फल के ज्ञान के बिना अथवा पूर्ण क्रिया के अभाव में करता है तो उसे मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया कहते हैं।'

परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसी भी जन्मजात एवं अनर्जित क्रियाएँ हैं जो प्राणी की आत्म-रक्षा और जाति-रक्षा दोनों के लिए घातक है। जैसे—फतिंगा का चिराग पर उड़-उड़कर मँड़राना तथा अन्त में झुलस-मरना। इस प्रकार की क्रियाओं को Tropistic behaviour अथवा 'अन्ध-व्यवहार' की संज्ञा दी गई है जिसकी विशेष चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया को एक अलग प्रकार की क्रिया न मानकर कुछ दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों ने इसे 'सहज क्रियाओं की शृङ्खला' (Chain of reflexes) की संज्ञा दी। 'हर्बर्ट स्पेंशर' (Herbert

---

Mc Dougall's Definition of Instinct—

"Instinct is an inherited or innate Psycho-physical disposition which determines its possessor to perceive and to pay attention to objects of certain class, to experience an emotional excitement of a particular quality upon perceiving such an object and to act in regard to it in a particular manner or at least, to experience an impulse to such action"

—*William Mc Dougall*

उपर्युक्त परिभाषा (जो 'मैकडूगल' महोदय का है) का भारतीय मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद—

"मूल प्रवृत्ति एक ऐसी जन्मजात मनोदैहिक प्रवृत्ति है जिससे प्रभावित होकर व्यक्ति किसी उत्तेजना की ओर ही अपना ध्यान देता है, किसी विशेष प्रकार के सवेग अथवा आवेश का ही अनुभव करता है तथा उस उत्तेजना-विशेष के प्रति विशिष्ट ढग की ही प्रतिक्रिया प्रकट करता है।"

—'विलियम मैकडूगल'

Spencer) का नाम उनमें प्रमुख है। कुछ अन्य लोगों ने सहज क्रियाओं की शृङ्खला न कहकर सहज क्रियाओं का समन्वय कहना अधिक उचित समझा है। परन्तु इतना तो सभी ने स्वीकार किया है कि यह एक ऐसी 'मनोदैहिक-प्रवृत्ति' (Psychophysical disposition) है जो प्राणी के व्यवहारों के पीछे 'मूल प्रेरक-शक्ति' (Primary motivating force) के रूप में काम करती रहती है।

अनेक कारणों से वर्तमान युग के मनोवैज्ञानिक मूल प्रवृत्ति (Instinct) शब्द का प्रयोग नहीं करते। आजकल इस शब्द की जगह पर 'Basic need', 'Urge', 'Drive' आदि शब्दों का प्रयोग (use) अधिक उचित माना जाता है।

'मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण'
(Division of Instincts)

प्राणी के सारे-के-सारे मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार जन्म के समय ही नहीं देखे जाते हैं। उनमें से कुछ जन्म के समय ही से वर्तमान रहते हैं और कुछ बाद में चलकर प्रकट होते हैं। अस्तु, प्रकटीकरण के दृष्टिकोण से मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

'प्रकटीकरण के दृष्टिकोण से वर्गीकरण'

(१) जन्मकाल से वर्तमान रहनेवाले मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ (Instinctive actions present at birth)—वे 'मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार' जो प्राणी में जन्म के समय ही वर्तमान रहते हैं, जैसे—मुर्गी के बच्चे का अण्डों से बाहर निकलते ही दाना चुगने लगना अथवा मानव-शिशु का जन्म के बाद तुरत ही माँ का स्तन चूसने लगना आदि।

(२) परिपक्वता की प्राप्ति के बाद देखे जानेवाले मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ (Instinctive actions appearing at maturity)—दूसरे प्रकार के मूल प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार वे हैं जो प्राणी में परिपक्वता (Maturity) की प्राप्ती के बाद देखे जाते हैं। जैसे—बुलबुल जवान होते ही सुरीला गाना गाने लगती है। इसी प्रकार प्राणियों में विशुद्ध शारीरिक यौन प्रवृत्यात्मक व्यवहार भी परिपक्वावस्था की प्राप्ति के बाद ही देखे जाते हैं। इस प्रकार की मूल प्रवृत्तियों को 'विलम्बित मूल प्रवृत्ति' (Delayed instinct) की संज्ञा दी गई है।

इनके अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिकों ने उद्देश्य के दृष्टिकोण से मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारो को निम्नलिखित वर्गों मे बाँटा है—

उद्देश्य के दृष्टिकोण से वर्गीकरण

(i) 'आत्म-रक्षा के लिए किये गये मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार' (Instinctive actions for self preservation).

(ii) 'जाति-रक्षा के लिए किये गये मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार' (Instinctive actions for the preservation of the race).

इन वर्गों की चर्चा पाठकों के लिए पहले की जा चुकी है।

'मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया की विशेषताएँ'
(Characteristics of Instinctive Actions)

(१) **'जन्मजात एवं वांशिक'** (Inborn and Hereditary)—मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ 'जन्मजात' होती हैं। प्राणी को ये क्रियाएँ सीखने की जरूरत नहीं पड़ती। इसे करने के लिए किसी प्रकार की पूर्व-शिक्षा अथवा गत अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। बन्दर का बच्चा अपनी माँ के पेट से इस तरह चिपक जाता है कि माँ-बन्दर दौड़ती, उछलती कूदती भी रहती है तो वह नहीं गिरता है। पेट मे चिपकने की कला बन्दरों में जन्मजात है। यह प्राणी को अपने 'वंशानुक्रम' (Heredity) से प्राप्त होता है। अस्तु, इसे 'वांशिक' (Hereditary) भी कहा गया है।

(२) **'भावात्मक तथा संवेगात्मक पहलू'** (Feeling and emotional aspect)—प्रत्येक मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया में एक-न-एक 'संवेगात्मक पहलू' भी होता ही है। 'मैकडूगल' महोदय (McDougall) के द्वारा दी गई मूल प्रवृत्तियों की तालिका से बात का अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। बिल्ली को देखकर जब चूहा भागता है तो यहाँ पलायन (Escape) की मूल प्रवृत्ति काम करती होती है। परन्तु इस पलायन की क्रिया मे भय का संवेग भी निहित होता है। इसी प्रकार हँसने में आनन्द का, जिज्ञासा में आश्चर्य का भाव छिपा होता है। ध्यान से देखा जाय तो मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों में मानस-जीवन के 'ज्ञानात्मक' (Cognitive), 'भावात्मक' (Affective) एवं 'क्रियात्मक' (Conative) सभी पहलू छिपे होते हैं। एक तितली उड़कर जब एक फूल से दूसरे फूल पर बैठती-उड़ती रहती है तो इस मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार मे उपर्युक्त तीनों पहलू स्पष्ट

दिखलाई पड़ते हैं जैसे—(१) तितली को फूल के होने का ज्ञान, 'ज्ञानात्मक पहलू, (Cognitive aspect), (२) विशेष भाव एवं संवेग का अनुभव 'भावात्मक पहलू' (Affective aspect) एव (३) उड़-उड़कर फूलों पर जाना 'क्रियात्मक पहलू' (Conative aspect). है।

(३) 'जाति भर में पाया जाना' (In the whole of the race)—एक प्राणी में पाये जानेवाले मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार उस प्राणी की जाति (Race) के सभी प्राणियो में पाये जाते हैं। घोसला बनाने की क्रिया पक्षी-विशेष की जाति के किसी एक ही पक्षी को नहीं आता, बल्कि जाति भर के सारे पक्षी इस कला को करते दिखाई देते हैं। जवान होने पर सिर्फ एक-दो बुलबुल नहीं गाने लगती, बल्कि उस जाति के उस उम्र के सभी बुलबुल गाती पाई जाती हैं। यदि जाति भर में उस प्रकार के व्यवहार को नहीं पाया जाय तो बुलबुल के गाने की क्रिया को मूल-प्रवृत्यात्मक व्यवहार की सञ्ज्ञा नहीं दी जायगी।

(४) 'उद्देश्य की पूर्त्ति, परन्तु प्राणी को ध्येय-पूर्ति का ज्ञान नहीं' (Aims obtaining without the complete knowledge of the organism)—इन क्रियाओं के पीछे आत्म-रक्षा अथवा जाति-रक्षा का उद्देश्य छिपा होता है। परन्तु व्यवहार करते समय प्राणी को इस विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं होता कि उसके द्वारा किये गये अमुक व्यवहार से आत्म-रक्षा अथवा जाति-रक्षा के उद्देश्यों की किस प्रकार पूर्त्ति हो रही है। जब मुर्गी का बच्चा दाना चुगता रहता है तो उस समय उसका ध्यान 'आत्म-रक्षा' से अधिक भोज्य पदार्थ पर रहता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य जब 'यौन-समागम' (Sexual intercourse) में लगा होता है तो उसे एक विशेष आनन्द का ज्ञान भले होता हो, परन्तु उसे उस समय इस बात का ज्ञान शायद ही होता रहता है कि यह क्रिया जाति-रक्षा के लिए आवश्यक है।

(५) जटिलता (Complexity)—पहले ही संकेत किया गया है कि कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों को सहज क्रियाओं की शृङ्खला कहा है। स्पष्ट है कि मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार सरल नहीं होकर जटिल होते हैं और कभी कभी इन व्यवहारों में इतनी अधिक जटिलता देखी जाती है कि आश्चर्य होता है कि छोटे-छोटे जीव-जन्तु अथवा छोटी-छोटी चिड़िया किस प्रकार इतने जटिल व्यवहारों को ठीक-ठीक कर सकने में समर्थ होती है! मधुमक्खियों का 'मधु का छत्ता' बनाने

की कला की जटिलता पर विचार किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार कबूतरों का घोसला बनाना या मकड़ो का जाल बुनने की क्रियाओं पर भी ध्यान दिया जा सकता है।

(६) 'शारीरिक बनावट' (Congenital determination)—प्राणी-विशेष में होनेवाले विशेष मूल प्रवृत्यात्यक व्यवहार उस प्राणी की शारीरिक बनावट से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। बुलबुल के शरीर एवं कण्ठ की बनावट एवं उनका परिपक्वीकरण ही इस प्रकार का होता है कि युवावस्था होते ही उसकी आवाज सुरीली हो जाती है। यदि कण्ठ आदि की बनावट किसी दूसरे ढंग की होती तो यह सम्भव नहीं हो पाता।

(७) 'विलम्ब से होना' (Takes time in performance)—यह इसी जटिलता का परिणाम है कि मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार के होने में सहज क्रियाओं की अपेक्षा अधिक समय लगता है। कुछ जातियों के पंछियों में अण्डे देने पर उन्हें 'सेवने' की क्रिया कुछ काल तक चलती रहती है। घोसला बनाना, मधु संचय करना आदि क्रियाएँ भी देर तक होती रहती हैं। प्राणियों को इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की 'विधियों' (Methods) को अपनाना होता है।

(८) 'एक से अधिक ग्राहकेन्द्रिय एवं मांसपेशियों के सहयोग का होना (More than one receptor or effector involved)—मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार में एक से अधिक ग्राहकेन्द्रियों एवं मांसपेशियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। पूर्ण शरीर अथवा शरीर के अवयवों का एक बड़ा हिस्सा इस प्रकार के व्यवहार को करने में प्रयुक्त होता है।

(९) 'सुधार सम्भव' (Modification possible)—पहले मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारो में सुधार अथवा किसी प्रकार का परिवर्तन लाना सम्भव नहीं। परन्तु अनुभवों एवं प्रयोगों के आधार पर 'पेकहम' (Pekham) आदि मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जानवर अथवा मनुष्य सभी की मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों में 'परिवर्तन अथवा परिमार्जन' (Modification) सम्भव है। मनुष्य का बच्चा बचपन में लड़ाई का मूल-प्रवृत्यात्मक व्यवहार जिस प्रकार तथा जिन परिस्थितियों में प्रकट करता है, वयस्क होने पर वह अपने क्रोध को दूसरे ढंग से अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर देता है। दुश्मन के प्रति वह छिप-छिपकर षड्यन्त्र करता है, परन्तु सामने होने पर परम मित्र जैसा मुस्कुराकर बातें भी करता है।

'सहज क्रियाओं एवं मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में अन्तर'
(Distinction between Reflex Actions and Instinctive Actions)

अब तक हम इतना तो अवश्य समझ चुके हैं कि सहज क्रियाएँ तथा मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ दोनों 'अनसीखी' (Unlearned) तथा अनर्जित हैं। दोनों क्रियाएँ जन्म के समय से ही देखी जाती हैं। दोनों का उद्देश्य है प्राणी की रक्षा करना। वातावरण से जीव का समुचित अभियोजन कराने में दोनों का विशेष सहयोग है। दोनों प्रकार की क्रियाएँ हमारी अनैच्छिक क्रियाएँ हैं। परन्तु इन समानताओं के साथ-साथ दोनों प्रकार की क्रियाओं के आपसी अन्तर पर भी ध्यान देना आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं—

(१) दोनों प्रकार की क्रियाओं में सबसे पहला अन्तर यह है कि सहज क्रियाएँ सरल होती हैं, परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ 'जटिल' (Complex)। इसीलिए कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों को 'सहज क्रियाओं की शृङ्खला' (Chain of reflexes) की संज्ञा दी है। घोंसला बनाने की क्रिया निश्चय ही मुँह में लार आ जाने की क्रिया से कहीं अधिक जटिल है।

(२) सहज क्रियाओं में एक ही ग्राहकेन्द्रिय एवं कुछ ही स्नायु-मांसपेशियाँ सम्मिलित होती हैं। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में कई एक ग्राहकेन्द्रियाँ एवं कई एक जोड़े मांसपेशियाँ एवं स्नायुओं की आवश्यकता पड़ती है। एक तितली जब उड़-उड़कर एक फूल से दूसरे फूल पर जाकर पराग अथवा रस का पान करती है तो उसमें उसकी आँखें, उसकी नाक, उसके मुँह आदि के अतिरिक्त पङ्ख, पैर आदि से लगे मांसपेशियों की भी आवश्यकता पड़ती है। मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में प्राणी के शरीर का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग सक्रिय होता है। कभी-कभी तो पूरा शरीर सक्रिय होता है। परन्तु सहज क्रिया में ऐसी बात नहीं पाते।

(३) यही कारण है कि सहज क्रियाओं का 'स्थान-निरूपण' (Localisation) करना सम्भव है। छींक की क्रिया नाक में, आँसू आना, आँख में अथवा लार निकलने की सहज-क्रिया मुँह में ही होती है। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में 'स्थान-निरूपण' (Localisation) करना सम्भव नहीं क्योंकि मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में एक विशेष ग्राहकेन्द्रिय अथवा अन्य कोई अवयव-विशेष ही नहीं कार्य करता होता है

बल्कि प्रायः सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील होता पाया जाता है। यदि कोई पलायन करता है तो प्रायः पूरे शरीर के अवयवों की सक्रियता की आवश्यकता पड़ती है। ठीक इसी प्रकार एक ही मांसपेशी अथवा ग्राहकेन्द्रिय के क्रियाशील होने से युद्ध की 'मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया' (Instinct to combat) सम्भव नहीं हो सकती।

(४) सहज क्रियाओं की कितनी भी 'पुनरावृत्ति' (Repetition) हो उनमें किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं है। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में सुधार सम्भव है।

(५) सहज क्रिया उपयुक्त उत्तेजना-विशेष के उपस्थित होने पर उसमें सम्बन्धित इन्द्रिय-विशेष में होती है। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ परिस्थिति-विशेष से उत्पन्न होती है। आँखों में पानी निकलने की सहज क्रिया आँखो मे कुछ पड़ जाने की उत्तेजना उपस्थित होने पर होती है। मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं के लिए उत्तेजना से अधिक उस परिस्थिति का महत्त्व है जिसमें वह उत्तेजना प्राणी के सामने आती है। जंगल में खुले शेर को देखते ही पलायन की मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया देखा जाना स्वाभाविक है। परन्तु जब यही शेर किसी पिंजड़ों मे बन्द होता है तो मनुष्यों मे पलायन की क्रिया नहीं देखते। शेर (उत्तेजना) तो दोनों हालतों मे है। परन्तु परिस्थिति ऐसी है कि मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया उत्पन्न करने में समर्थ है और दूसरी परिस्थिति मे वैसी बात नहीं। अस्तु, मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों में उत्तेजना से अधिक परिस्थिति का महत्त्व है।

(६) सहज क्रियाएँ तुरत हो जाती हैं। वे 'तात्कालिक' (Immediate) हैं। जब हाथ जलने लगता है तो तुरत मनुष्य हाथ पीछे खींच लेता है। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया विलम्ब से होती है। जैसे—मकड़ा को जाल बुनने में काफी देर लगता है।

(७) सहज क्रियाओं के लिए वाह्य उत्तेजनाओं का महत्त्व अधिक है। परन्तु मूल प्रत्यात्मक क्रियाओं में प्राणी की आन्तरिक (मानसिक अथवा शारीरिक) आवश्यकताओं एवं प्रेरणाओं का महत्त्व प्रमुख है। भूख लगने पर ही भोजन खोजने की मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया प्राणी में देखी जाती है।

(८) सहज क्रियाओं के होने का ज्ञान अथवा चेतना मनुष्यों को अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं के होने के सिलसिले में मनुष्यों को इतना ज्ञान अथवा चेतना अवश्य होती रहती है

कि वह कौन-कौन-सी क्रियाएँ करता जा रहा है। यह बात अलग है कि दोनों ही अवस्थाओं मे छिपे हुए चरम उद्देश्यों की जानकारी उन्हें सर्वथा हो अथवा नहीं।

(६) सहज क्रियाओं में उद्देश्य की पूर्त्ति मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं की उद्देश्य-पूर्ति से अधिक जल्द हो जाती है। शरीर के किसी भाग पर चढ़ा हुआ कीटाणु तुरत हाथ के एक झटके से झिटककर सहज क्रिया के द्वारा गिरा दिया जाता है ताकि वह कीटाणु मनुष्य को कोई क्षति नहीं पहुँचा पाता है। प्राणी को इस सम्भावित क्षति से बचाने का उद्देश्य सहज क्रिया के द्वारा तुरत पूर्ण हो जाता है। ठीक इसी तरह छींकने, आँसू निकलने आदि सहज क्रियाओं के द्वारा भी मनुष्यों को आशंकित क्षति से बचाने के उद्देश्य की पूर्त्ति तत्काल हो जाती है। पर मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ इस प्रकार के उद्देश्य की पूर्त्ति में अपेक्षाकृत कहीं अधिक विलम्ब लगती हैं।

(क) 'ऐच्छिक क्रियाएँ'
(Voluntary Actions)

'ऐच्छिक क्रियाएँ' ऐसी क्रियाओं को कहते हैं जिन्हें प्राणी जान-बूझकर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के विचार मे करता है। इस प्रकार की क्रियाएँ सहज अथवा मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं की तरह उत्तेजना-विशेष अथवा परिस्थिति-विशेष की उपस्थिति के बाद स्वतः संचालित ढंग से नहीं होतीं। ऐच्छिक क्रियाओं पर व्यक्ति की 'चेतना का पूर्ण नियंत्रण' होता है। यह व्यक्ति की पूर्णतः 'चेतन-क्रिया' (Conscious activity) है। व्यक्ति सोचता है कि ऐसा करना अच्छा है अथवा वैसा। ऐसा करने से यह लाभ है अथवा हानि है। इस कार्य को ऐसे नहीं करके यदि इस प्रकार किया जाय तो क्या हर्ज है। अमुक कार्य सम्पादन की सबसे अच्छी विधि क्या होती है? फलाँ कार्य करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए आदि।

और तब चिन्तन अथवा लाभ-हानि पर विचार-विमर्श के बाद मनुष्य एक कार्य को करता है अथवा नहीं करता है। यदि मनुष्य स्वयं किसी निश्चित दिशा में निर्णय नहीं कर पाता है तो वह किसी दूसरे से राय भी लेता पाया जाता है।

ऐच्छिक क्रिया उस समय उत्पन्न होती है जब मनुष्य के सामने कई एक 'विकल्प' (Alternatives) उपस्थित हो जाते हैं और उसके

सामने यह समस्या हो जाती है कि इस रास्ते (विकल्प) को अपनाया जाय अथवा दूसरे को। विकल्पों की संख्या कम-से-कम दो होती है। जैसे—मान लीजिए किसी गरीब लड़के की माँ बीमार है। उसे माँ की दवा भी खरीदनी है तथा युनिवर्सिटी-परीक्षा की फीस भी देनी है और उसके पास सिर्फ इतने ही रुपये हैं जिनसे युनिवर्सिटी-फीस ही दी जा सकती है तो उसके सामने यह समस्या हो जाती है कि माँ का इलाज कराये अथवा युनिवर्सिटी की फीस दाखिल करे। प्रिय माँ का इलाज भी उतना ही आवश्यक है जितनी युनिवर्सिटी की फीस। एक ओर अपना भविष्य है दूसरी ओर माँ का जीवन। कहीं से कर्ज मिलने की भी सम्भावना नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उस छात्र के सामने दो ही रास्ते (Alternatives) हैं। पहला यह कि छात्र अपनी बीमार माँ को इलाज के बिना मरती छोड़ दे और युनिवर्सिटी की फीस दाखिल कर परीक्षा देकर अपने भविष्य को बनाने का प्रयास करे। दूसरा यह है कि अपने भविष्य को सुधारने का खयाल छोड़कर वह अपनी माँ के इलाज के लिए उन पैसों को लगा दें। तीसरा कोई रास्ता नहीं।

दोनों विकल्प उस छात्र को दो भिन्न-भिन्न तरह से इस परिस्थिति में व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं। छात्र के सामने एक समस्या हो जाती है। उसके अन्दर दो विरोधी प्रेरक शक्तियों का संघर्ष होने लगता है। बहुत चिन्तन, विचार-विमर्श, आदि के बाद छात्र इस निर्णय पर पहुँचता है कि माँ का इलाज करना अधिक उपयुक्त है। फिर वह संकल्प करता है कि वह इन रुपयों को युनिवर्सिटी-फीस के रूप में जमा न कर उन्हें वह अपनी माँ के इलाज में लगायेगा। फलस्वरूप रुपयों को दवा-दारू में खर्च करने लगता है। इलाज में खर्च करने की इस क्रिया को छात्र की 'ऐच्छिक क्रिया' (Voluntary Action) कहेंगे।

जीवन में ऐसे अनेक अवसर चले आते हैं जब मनुष्यों के सामने दो अथवा दो से कहीं अधिक विकल्प उपस्थित हो जाते हैं। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें कि किस विकल्प अथवा रास्ते को अपनाया जाय, इस संघर्ष का निर्णय करना आसान होता है। परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जब यह निर्णय एक महान कठिन कार्य होता है। अस्तु, कुछ ऐच्छिक क्रियाएँ बहुत आसानी से हो जाती हैं जिन्हें अपेक्षाकृत 'आसान' (Simple) ऐच्छिक क्रिया कहा जा सकता है। जैसे—यदि इस बात का निर्णन करना हो कि आज रोटी खाऊँ अथवा भात, सिनेमा

देखने जाऊँ अथवा पढ़ूँ, कालेज जाऊँ अथवा घर पर चादर तानकर आराम करूँ, पास के दो पैसे भिखारी को दे दूँ अथवा खुद पान खाऊँ, महीने के बचे हुए पैसे मे अपनी धोती खरीद लूँ अथवा श्रीमती जी की साड़ी, इस कालेज में भर्ती हो जाऊँ अथवा दूसरे कालेज में, पढ़ाई के विषय में मनोविज्ञान को रक्खूँ अथवा इतिहास को, आदि। तो ऐसी अवस्थाओं में मनुष्यों को निर्णय करने में बहुत कम समय लगता है तथा वे इस बात का बहुत जल्द निर्णय कर लेते हैं कि वे क्या करेंगे। ऐसी परिस्थिति में 'आसान ऐच्छिक क्रिया' (Simple Voluntary Action) देखी जाती है।

परन्तु ऐच्छिक क्रिया 'कठिन' (Difficult) तब हो जाती है जब उपस्थित सारे के सारे विकल्प एक से एक महत्वपूर्ण होते हैं। ऐसी स्थिति मे मनुष्य परेशान हो जाता है कि करे तो क्या (Dilemma)। जैसे—

(i) भारतीय झगड़ालू परिवार मे नौकरी करते हुए सबसे बड़े लड़के के सामने की यह समस्या कि वह अपनी विधवा माँ की बातों का अधिक ध्यान रखे अथवा अपनी नवविवाहिता पत्नी की बातों का।

(ii) अपने पिता अथवा अभिभावक की मृत्यु के बाद विद्यार्थी के सामने यह समस्या कि वह अपने भूखे एवं गरीब परिवार के कष्ट को दूर करने के लिए, कोई कम पैसों की नौकरी पकड़ ले अथवा अच्छी नौकरी की आशा में किसी तरह उच्च पढ़ाई के लिए प्रयत्नशील रहे और परिवार के लोगों के वर्तमान सुख का ख्याल छोड़ दे।

(iii) डाक्टरों के सामने यह समस्या अक्सर उपस्थित हो जाती है कि गाँवों में जाकर अधिक पैसे कमाऊँ, किन्तु उजाड़ जीवन बिताऊँ अथवा बहुत कम पैसे कमाकर भी किसी शहर की चहल-पहल में जीवन बिताता रहूँ।

(iv) आज के समाज में एक अविवाहित किन्तु समझदार युवक के सामने यह समस्या आती है कि क्या वह किसी मनचाही अच्छी लड़की से शादी करे, भले ही वह अत्यन्त गरीब परिवार की क्यों न हो, अथवा वह लड़की के रूप एव गुणों मे अधिक महत्व दहेज मे मिलनेवाले रुपयों को दे तथा किसी ऐसे घर मे शादी करे जहाँ से उसे काफी रुपये मिलें जिन रुपयों के मिलने से युवक के पिताजी को आनन्द एवं संतोष मिले अथवा उसकी छोटी बहन की शादी में दहेज देने में कुछ सुविधा हो। अर्थात् युवक अच्छी पत्नी स्वीकार करे या अधिक पैसे'।

उपर्युक्त लिखी गई परिस्थितियों मे मनुष्य एक गहरी 'विचारणा' (Deliberation) मे पड जाता है कि आखिर वह किस मार्ग को अपनावे। ऐसे विषम (Difficult to decide) 'विकल्पों' (Alternatives) के बीच बहुत मुश्किल से किये गये निर्णय के अनुसार होनेवाले कार्य को हम 'कठिन ऐच्छिक क्रिया' (Difficult voluntary action) की संज्ञा देते हैं।

अन्तिम उदाहरण में, हो सकता है कि विकल्पों के आपसी गुण-दोष एवं होनेवाले परिणामों की विषमता के कारण युवक यह निर्णय करने में असमर्थ हो जाय कि वह शादी के लिए लड़की को अधिक महत्त्व दे अथवा दहेज के पैसों को। ऐसी परिस्थिति मे उसके मस्तिष्क में विरोधी विचारों का एक कठिन सघर्ष उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण वह अपने में अत्यधिक तनाव (Tension) का अनुभव करता है। इस कष्टदायक 'तनाव' (Tension) से बचने के लिए हो सकता है कि वह आगे बिना अधिक सोचे एक रुपया को उछाल (By tossing the coin) कर गिरे हुए रुपए के 'चित' (Head) अथवा 'पट' (Tail) होने की अवस्था के अनुसार यह निर्णय करे कि वह क्या करेगा। यदि इसी प्रकार अथवा इसी तरह के किसी अन्य विधि के अनुसार किये गये निर्णय के आधार पर वह व्यवहार करता देखा जाता है तो इसे हम 'संयोग ऐच्छिक क्रिया' (Chance voluntary action) की संज्ञा देते हैं। ऐसी ऐच्छिक क्रियाएँ साधारण व्यक्ति में अत्यन्त विषम विकल्पों के बीच होती पायी जाती है। इन क्रियाओं का प्रादुर्भाव जीवन में शायद ही कभी-कभी देखा जाता है।

'ऐच्छिक क्रियाओं की विशेषताएँ'
(Characteristics of Voluntary Actions)

'उडवर्थ' (Woodworth) की राय में ऐच्छिक क्रियाओं का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है वातावरण मे व्यक्ति को समुचित 'अभियोजन' (Adjust) कराने म सहायता प्रदान करना। चूँकि व्यक्ति को अपनी ऐच्छिक क्रियाओं के उद्देश्य का पूर्ण ज्ञान रहता है, अस्तु, ये क्रियाएँ अभियोजन के दृष्टिकोण मे बहुत 'दुरुस्त अथवा यथार्थ' (Precise and accurate from the point of view of adjustment) होती है। इस प्रकार की क्रियाएँ एक निश्चित-मार्ग के अनुसार की जाती हैं

जो एक खास ध्येय की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के द्वारा सबसे अधिक दुरुस्त मानी जाती।

बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में भी परिवर्तन होते जाते हैं। नई आवश्यकताएँ व्यक्ति के सामने नये उद्देश्यों का सृजन करती हैं जिनकी प्राप्ति बदलती हुई परिस्थितियों से अभियोजन करने के लिए आवश्यक हो जाती है। यही कारण है कि ऐच्छिक क्रियाओं की कार्य-प्रणाली में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए ऐच्छिक क्रियाओं के द्वारा किये गये अभियोजनो की विधि में सदा कुछ-न-कुछ 'नवीनता' (Novelty in adjustment) आती जाती है।

अगर ऐच्छिक क्रियाओं के होने में कोई रुकावट आ जाती है तो इन क्रियाओं की 'प्रबलता' (Intensity) और भी अधिक बढ जाती है।

एक ऐच्छिक क्रिया में कुछ अनैच्छिक क्रियाएँ एवं अन्य सरल क्रियाएँ भी सम्मिलित होती हैं जिनके कारण इन क्रियाओं के द्वारा किये गये अभियोजन का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। अस्तु, इसका 'अभियोजन-विस्तार' (Breadth of adjustment) भी अधिक होता है।

'ऐच्छिक क्रियाओं की अवस्थाएँ'
(Stages in Voluntary Action)
तथा
'चेतन-मानस-स्तर पर प्रेरक-वृत्तियों के संघर्ष का समाधान'
(Resolution of conflict of Motives at the Conscious mental level)

ऐच्छिक क्रियाओं का यदि विश्लेषण किया जाय तो उनकी उत्पत्ति होने से लेकर घटित होने के समय तक उनकी कई एक 'अवस्थाएँ' (Stages) देखी जा सकती हैं। उन अवस्थाओं को मनोवैज्ञानिकों ने क्रमशः मुख्यतः तीन प्रमुख भागों मे बाँटने का प्रयास किया है—

(१) 'मानसिक अवस्था' (Mental stage)—इसके अन्तर्गत आनेवाली अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं।

(क) अभाव का अनुभव (Experience of want), (ख) अभाव-पूर्ति की इच्छा अथवा प्रेरणा (Desire or motive to satisfy the want), (ग) प्रेरक-वृत्तियों के संघर्ष का जागरुक होना (Arousal of Conflict of motives), (घ) विचारणा अथवा तर्क-वितर्क

(Deliberation), (ङ) निर्णय (Decision) एवं (च) संकल्प (Resolution).

(२) उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रियाओं का प्रकटीकरण (Overt behavioural stage for the attainment of the aim).

(३) उद्देश्य की प्राप्ति (Attainment of aim).

(१) 'मानसिक अवस्था'
(Mental Stage)

ऐच्छिक क्रियाओं की उत्पत्ति की पहली अवस्था मानसिक होती है। इस मानसिक अवस्था को भी कई एक छोटी-छोटी अवस्थाओं में बाँटा गया है। ये अवस्थाएँ पूर्णतः एक दूसरे से पृथक् नहीं। एक अवस्था दूसरी अवस्था को जन्म देती है और इस प्रकार ये अवस्थाएँ अलग-अलग प्रतीत होती हुई भी एक दूसरे से सर्वथा सम्बन्धित हैं।

(क) **'अभाव की अनुभूति की अवस्था'** (Experience of want)—किसी कारण से एक विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को किसी अभाव की अनुभूति होती है। यह अभाव शारीरिक हो सकता है अथवा मानसिक अथवा दोनों। अभाव की अनुभूति से व्यक्ति को 'क्षोभ' (Frustration) होता है। अस्तु, अभाव की अनुभूति के साथ-साथ दुःख का भी भाव (Feeling of unpleasantness) लगा होता है। एक छात्र मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद भी अपने में विद्वता का अभाव पाता है। यह अभाव उसे दुःखद प्रतीत (Unpleasant) होता है।

(ख) **'इच्छा अथवा प्रेरणा की जागृत होने की अवस्था'** (Arousal of desire or motive to satisfy the want)—दुःख के भाव की अनुभूति के बाद व्यक्ति स्वभावतः ऐसे कार्य करना चाहता है जिससे उसमें अभाव का अन्त तथा सुख की अनुभूति हो सके। अस्तु, उस मैट्रिक पास छात्र मे एक इच्छा अथवा प्रेरणा जागती है कि वह अपनी विद्वता के अभाव को दूर करे। ध्यान से देखा जाय तो विद्वता के अभाव की अनुभूति ही छात्र मे कॉलेज में नाम लिखाने की क्रिया को जन्म देनेवाली प्रतीत होगी। जो छात्र मैट्रिक पास करने के बाद अपने को पूर्ण पण्डित समझ लेता है, उसमे कॉलेज मे नाम लिखाने की ऐच्छिक क्रिया प्रायः नहीं देखी जाती। अस्तु, दूसरी अवस्था पहुँचते-पहुँचते यही अभाव का भाव इच्छा अथवा प्रेरणा का रूप ग्रहण कर लेता है।

व्यक्ति पहले अपने शरीर में स्वास्थ्य विकास (Healthy development) का अभाव अनुभव करता है, फिर उसमें इस अभाव को दूर करने की इच्छा जाग्रत होती है। यह इच्छा प्रेरक-शक्ति का काम करती है जिसके फलस्वरूप वह व्यायाम अथवा खेल-कूद में भाग लेने की ऐच्छिक क्रिया करता दिखलाई पड़ता है। इन व्यायाम अथवा खेल-कूद की ऐच्छिक क्रियाओं के पीछे शरीर को स्वस्थ्य-रूप से विकसित करने के ध्येय (Aim) की प्राप्ति का उद्देश्य रहता है।

जब व्यक्ति में एक ही इच्छा अथवा प्रेरक शक्ति काम करती होती है तो ऐच्छिक क्रियाएँ व्यक्ति के द्वारा अपेक्षाकृत अधिक आसानी से सम्पादित होती पाई जाती हैं।

पर जब इन प्रेरक-शक्तियों की संख्या एक से अधिक हो जाती है नो व्यक्ति को यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि वह कौन-सी ऐच्छिक क्रिया करे और कौन-सी नहीं। इन प्रेरक शक्तियों की संख्या अथवा उस व्यक्ति-विशेष के लिए इनका जितना ही अधिक महत्व है, उतनी ही निर्णय करने तथा ऐच्छिक क्रिया के सम्पादन मे कठिनाई होती है। इसका कारण है, प्रेरक शक्तियों का मनुष्य के मानस मे आपसी 'सघर्ष'। यह संघर्ष जितना ही अधिक 'तीव्र' (Intense) होता है उतनी ही अधिक ऐच्छिक क्रिया के निर्णय में विलम्ब एवं कठिनाई उपस्थित होती है।

(ग) 'इच्छा अथवा प्रेरक-वृत्तियों का संघर्ष' (Conflict of Desires or Motives)—व्यक्ति के अन्दर क्रियाशील हर एक प्रेरक (Motive) व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा अपनी संतुष्टि (Satisfaction) चाहता है। जब कई एक प्रेरक शक्तियाँ एक साथ ही यह चाहने लगती हैं कि 'सबसे पहले मेरी संतुष्टि कर दी जाय, तो सबस पहले मेरी' तो ऐसी अवस्था में व्यक्ति के मानस (Mind) में संघर्ष उठ खड़ा होता है। यह संघर्ष विभिन्न इच्छाओं अथवा प्रेरकों के बीच होता है। इस 'मानसिक-संघर्ष' (Mental conflict) को ही 'प्रेरणा संघर्ष' (Conflict of Motives) कहा गया है।

जब अविवाहित युवक के सामने यह समस्या हो जाती है कि वह शादी में अच्छा दहेज ले या अच्छी लड़की, तो उस समय उसके मानस में दो प्रमुख विरोधी 'प्रेरक शक्तियाँ' (Motivating forces) सघर्ष करती होती हैं तथा संघर्ष के छिड़ जाने पर प्रारम्भिक 'प्रेरक शक्तियाँ' तथा इससे सम्बन्धित अन्य प्रेरक शक्तियाँ भी क्रियाशील हो जाती हैं। एक ओर

एक प्रेरक शक्ति के अनुसार वह यह सोचता है कि शादी तो मुझे आखिर लड़की से ही करनी है जिसको अपनाकर जीवन के सारे सुख-दुख में साथ-साथ हँसना-रोना है। अस्तु, लड़की तथा उसके गुणों को अधिक महत्व देना चाहिए। आखिर मैं कोई दूकान का खिलौना तो नहीं जो कुछ ठिकरों पर अपने को बिक जाने दूँ कि जो चाहे खरीदकर झोले में डाल ले। मुझे मेरी इच्छा की लड़की चाहिए, दहेज नहीं। रुपये तो बहते पानी जैसे ह आज हैं कल नहीं। परन्तु पत्नी जीवन भर की निधि जो ठहरी।

साथ-साथ दूसरी प्रेरक शक्ति उसे यह सोचने पर मजबूर कर देती है कि "मैं भी कितना नीच हूँ। माता-पिता की एक छोटी-सी इच्छा भी पूरी नहीं कर पा रहा हूँ। उन्होंने मुझे जन्म दिया है, पाला-पोषा है, पढा-लिखाकर योग्य बनाया है। आज मैं जो कुछ हूँ, उन्हीं के कारण हो पाया हूँ। कभी किसी दूसरे ने तो कोई सहायता नहीं की। फिर आज यदि वे अपनी अभिलाषा के कारण मेरी शादी मे कुछ दहेज माँग ही रहे हैं तो इसमे मुझे एतराज क्यों। उनका मुझपर पूर्ण अधिकार है। वे मेरे ऊपर जितना चाहे दहेज ले लें। जिससे चाहे उससे मेरी शादी करा दें। मुझे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

वह फिर सोचता है—"माना कि माता-पिता जी का मुझपर अधिकार है, पर वे तो जीवन भर मेरे साथ नहीं रहेंगे। साथ तो रहेगी वह लड़की जिससे मेरा विवाह कर देगें। अस्तु, अच्छी लड़की से सम्बन्ध जोड़ना ही ठीक है। पैसे तो पिता जी की अभिलाषा की पूर्ति करने के लिए मैं कमाकर उन्हें जब तक जीवित रहेंगे, दे भी सकता हूँ। मैं गलती में हूँ। पैसों का महत्व आदमी से अधिक आंकना भूल है। मुझे दहेज नहीं चाहिए।"

सहसा इन प्रेरकों से सम्बन्धित एक नई प्रेरक शक्ति आ जाती है। "परन्तु अगर पिताजी मेरी शादी में दहेज नहीं लेंगे तो फिर अगले वर्ष मेरी बहन की शादी में उन्हें दहेज देने में बड़ी कठिनाई होगी। वे भी तो कोई सेठ साहुकार नहीं। उन्हें कितना दुःख होगा। दहेज के अभाव मे हो सकता है, मेरी बहन को योग्य वर प्राप्त नहीं हो सके। सभी लड़के तो बिना दहेज के शादी करने को तैयार नहीं होते। उस दिन मेरी बहन भी रायेगी—माँ तथा पिताजी भी; और मैं ये सब किन आँखो से देख सकूँगा। माना कि दहेजवाली जगह पर विवाह करने से मुझे अच्छी

लड़की नहीं मिल रही है। परन्तु क्या मैं अपनी प्रिय बहन, माँ अथवा अपने वृद्ध पिताजी के लिए इतना भी त्याग नहीं कर सकता। दहेज लेने से परिवार के बहुत लोगों को सुख मिलने की सम्भावना है। तो क्या अपने प्यारे परिवार के लिए मैं इतना भी दुःख झेल नही सकता। आखिर दहेज क साथ-साथ यहाँ भी तो मुझे एक पत्नी मिलेगी ही, कोई मिट्टी की मूरत थोड़े ही होगी। धनी बाप के घर की बेटी है तभी तो वे लोग इतने रुपये दे रहे हैं—नहीं मुझे दहेज चाहिये—घरवाले मेरा निर्णय सुनेंगे तो कितना खुश होंगे। परन्तु, क्या मेरा जीवन कभी सुखमय हो सकेगा—कभी ! उफ हे ईश्वर ! कुछ समझ में नहीं आता, क्या करूँ, क्या नहीं करूँ।"

पाठकों ने ऊपर के छोटे-से दृष्टान्त मे यह देखा कि परिस्थिति-विशेष उत्पन्न हो जाने पर किस प्रकार कुछ विरोधी पूरक शक्तियाँ एक साथ ही अपनी-अपनी संतुष्टि के लिए क्रियाशील हो उठती हैं और मनुष्य किस प्रकार किसी एक के पक्ष में निर्णय करने मे असमर्थ रहता है। मनोविज्ञान मे इसी विरोधी प्रेरक शक्तियों के इसी प्रकार से मानसिक संघर्ष को 'प्रेरणा-संघर्ष' (Conflict of motives) कहा गया है। ऊपर क उदाहरण मे दिखलाई गई परिस्थिति में—दो प्रमुख विरोधी प्रेरक-शक्तियाँ काम कर रही थीं—एक 'अपने सुख की प्राप्ति की प्रेरक-शक्ति तथा दूसरी परिवार के सुख की प्राप्ति चाहनेवाली प्रेरक-शक्ति।'

यह तो एक छोटा-सा उदाहरण है। पाठक अपने जीवन में ऐसे अनेक प्रेरणा-संघर्षों का अनुभव कर चुके होंगे अथवा करेंगे।

संघर्ष का कारण सिर्फ विरोधी (Incompatible) प्रेरक शक्तियों का एक साथ मनुष्य के मानस मे आकर टकराना ही नहीं है। इस सघर्ष का कारण वातावरण के द्वारा उत्पन्न ऐसी रुकावटें भी हैं जो क्रियाशील प्रेरकों की संतुष्टि में बाधा पहुँचाती हैं। यही कारण है कि 'काम-प्रेरक' (Sex-motive) की संतुष्टि की क्रिया मे सामाजिक बन्धनों (Social taboos) को लेकर मनुष्य के मानस मे इतने अधिक संघर्ष उपस्थित होते पाये जाते हैं। मनुष्य जब, जहाँ, जैसे, जिसके साथ चाहे, अपने 'काम-प्रेरक' (Sex-motive) की संतुष्टि, धार्मिक, सामाजिक आदि प्रतिबन्धों के कारण नहीं कर सकता।

साथ-साथ मनुष्य की मानसिक अथवा शारीरिक त्रुटि भी इस प्रकार के मानसिक सघर्ष का कारण बन जाती है। एक अल्प-बुद्धि (Low

intelligence or dull) का व्यक्ति कुशल दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक न हो पा सकने के 'क्षोभ' (Frustration) के कारण मानसिक संघर्ष से पीड़ित हो सकता है।

(घ) 'विचारणा अथवा तर्क-वितर्क की अवस्था' (Stage of Deliberation)—'पत्नी अथवा दहेज' की समस्यावाले उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जब विरोधी प्रेरक-शक्तियाँ एक साथ उपस्थित हो जाती हैं तो मनुष्य के मानस में किस प्रकार तर्क-वितर्क होने लगता है। यह अवस्था किसी निश्चय अथवा निर्णय पर पहुँचने के पूर्व की अवस्था होती है। इस अवस्था मे व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रेरक-शक्तियों को लाभ एवं उनकी हानियों पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श करता है। प्रेरकों के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर वह सोच-विचार करता है।

(ङ) 'निर्णय की अवस्था' (Stage of Decision)—यह अवस्था तब आती है जब व्यक्ति विरोधी प्रेरक-शक्तियों के द्वारा उपस्थित भिन्न-भिन्न विकल्पो (Alternatives) में से किसी एक को संतुष्टि के लिए निश्चित रूप मे चुन लेता है। इस क्रिया को निर्णय करना कहते हैं तथा इस अवस्था को 'निर्णय की अवस्था' (Stage of Decision) कहते हैं। निर्णय हो जाने के बाद एक ही प्रेरक-शक्ति चेतना के केन्द्र मे रह जाती है जिसकी संतुष्टि करना व्यक्ति अपने लिए अभीष्ट मानता है। बाकी अन्य विरोधी प्रेरक-शक्तियाँ दब जाती है तथा धीरे-धीरे वे 'अर्ध-चेतन उत्तेजना (Sub-Conscious) एवं अचेतन (Unconscious) मानस में चली जाती है।

अनेक तर्क-वितर्क के बाद जब युवक यह निर्णय कर लेता है कि वह दहेज नहीं लेगा तो अन्य सारे विकल्प (Alternatives) उसकी चेतना क केन्द्र से धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। व्यक्ति अन्य विकल्पों का परित्याग कर देता है।

'मैकडूगल' (McDougall) के अनुसार व्यक्ति प्रेरणा-सघर्ष की अवस्था उत्पन्न होने पर उसी प्रेरक-विशेष की संतुष्टि करने का निर्णय करता है जिसके करने से उसे अपेक्षाकृत अधिक 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' (Self-regarding sentiment) की प्राप्ति की सम्भावना प्रतीत होती है।

(च) 'संकल्प की अवस्था' (Stage of Resolution)—संकल्प की अवस्था का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि हो सकता है कि संकल्प के

अभाव में व्यक्ति किये गये अपने निर्णय के अनुसार शीघ्रता से कार्य करना न शुरू कर पाये। संकल्प उसे अपने निर्णय पर डटे रहने एवं उसे कार्यरूप में परिणत करने मे सहायता प्रदान करता है। इस अवस्था म युवक मे—'मैं दहेज कभी नहीं लूँगा'—का दृढ़ निश्चय संकल्प देखा जाता है।

(२) 'उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रियाओं का प्रकटीकरण'
(Overt behavioural stage)

'निर्णय' पर पहुँचने ही व्यक्ति के सामने एक निश्चित उद्देश्य भी चला आता है तथा संकल्प के फलस्वरूप व्यक्ति उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रकटित क्रियाएँ करता है। युवक अपने उपर्युक्त संकल्प के अनुसार क्रियाएँ करता पाया जाता है। यदि एक प्रकार के व्यवहार से उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती है तो दूसरे प्रकार के व्यवहारों की आवश्यकता होती है।

(३) 'उद्देश्य की प्राप्ति'
(Attainment of aim)

और अन्त में इन क्रियाओं का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को अपने उद्देश्य की प्राप्ति होती है तथा व्यक्ति को संतुष्टि मिलती है। जैसे—'युवक का बिना दहेज लिए योग्य लड़की से विवाह का होना'।

व्यक्ति मे किसी अभाव की अनुभूति से लेकर उद्देश्य की प्राप्ति के बीच की इन सारी अवस्थाओं तक की क्रमबद्ध-शृङ्खला (Systematic sequence) का ज्ञान ऐच्छिक क्रियाओं के अध्ययन के लिए आवश्यक है।

'अचेतन-मानस द्वारा हमारे मानसिक संघर्षों का समाधान'
(Resolution of Mental Conflict by Unconscious Mechanisms)

अन्त मे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एक ही समय उत्पन्न भिन्न-भिन्न क्रियाशील प्रेरकों अथवा इच्छाओं के बीच आपसी संघर्ष (Conflict of motives) का समाधान प्रायः दो प्रकार से होता है।

(१) हमारी 'चेतन' (Conscious) मानसिक-अवस्था द्वारा तथा (२) हमारी 'अचेतन' (Unconscious) मानसिक-अवस्था द्वारा।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारा चेतन-मानस किस प्रकार हमारे प्रेरक-संघर्षों का समाधान कर पाता है।

परन्तु अचेतन मानस के द्वारा किये गये मानसिक संघर्षों के समाधान का ढंग कुछ दूसरे ही प्रकार का होता है। यह किस प्रकार सघर्षों का समाधान कर पाता है इस बात का पता स्वयं व्यक्ति की चेतना को भी नहीं लग पाता है। फिर भी यह समाधान व्यक्ति को प्ररक-संघर्ष से प्रायः छुटकारा दिलाने एवं उसके मानसिक स्वास्थ्य (Mental health) को बहुत कुछ बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

ऐसा प्रायः देखा जाता है कि एक कम पढ़नेवाला छात्र जो किसी विषय मे फेल कर गया होता है अपने मित्रों अथवा अभिभावकों से जा-जाकर कहता होता है कि शिक्षक ने सवाल ही ऐसा चुना था कि हम फेल कर गये अथवा शिक्षक बड़े पक्षपाती थे। मैंने तो बहुत अच्छा लिखा था परन्तु उन्होंने मुझे जान बूझकर फेल कर दिया या मेरी तक़दीर में ही फेल करना था, नहीं तो मैं फेल कभी नहीं करता।

ऐसा कहते समय छात्र प्रायः यह नहीं सोचते कि उन्होंने परीक्षा के लिए तैयारी ही बहुत कम थी—सालभर में अत्यधिक समय उन्होंने खेलने मे ही लगा दिया था।

यहाँ परीक्षा में फेल होने पर उनके अन्दर एक मानसिक-संघर्ष उत्पन्न होता है। एक ओर उनका अहम् (Ego) अच्छे अंकों से पास करन अपने प्रभुत्व को स्थापित करना चाहता है तथा दूसरी ओर अच्छे अंक नहीं प्राप्त कर सकने के कारण उनके अहम् को एक ठेस लगती है जिसे वे अपने चेतन मानस में स्वीकार करना नहीं चाहते। यदि वह छात्र अपने चेतन में इस बात को स्वीकार कर ले कि वस्तुतः वह अपनी अयोग्यता के कारण ही फेल कर गया है तो उसका अहम् सन्तुष्ट नहीं होता। अस्तु, प्रायः वह अपनी इस अयोग्यता को स्वीकार करना नहीं चाहता।

उस छात्र के अचेतन में दो प्रश्न उठते हैं—क्या वह अपनी अयोग्यता को सचमुच स्वीकार कर ले ?—अथवा किसी और तरीके को अपनाकर अपनी अयोग्यता को छिपाये रहे तथा अपने अहम् की भी सन्तुष्टि करे। यदि वह अपनी अयोग्यता को स्वीकार कर लेता है तो उसके अहम् की

सन्तुष्टि नहीं हो पायेगी; इसलिए भी कि यदि समाज के लोग उसकी अयोग्यता को जान लेंगे तो लोग उसे बुरा समझने लगेंगे। ऐसी अवस्था मे छात्र के अचेतन मानस में ऐसी 'प्रक्रिया' (Process) उत्पन्न होती है जो उसके संघर्षों के समाधान में सहायक है तथा जिसके द्वारा छात्र के 'अहम्' को यथासम्भव सन्तुष्टि भी प्राप्त होती है। फल यह होता है कि समाज मे इसकी प्रतिष्ठा भी बनी रह गयी और उसे स्वयं अपने में किसी दोष को स्वीकार भी नहीं करना पड़ा। समाधान की इस प्रक्रिया को 'रेशनलाइजेशन' (Rationalisation) की संज्ञा दी है।

छात्र जब यह कहता है कि 'शिक्षक ने जानकर पक्षपात के कारण मुझे फेल कर दिया है, नहीं तो मैं कभी फेल नहीं करता' तो उसका ऐसा कहना 'रेशनलाइजेशन' की अचेतन प्रक्रिया का फल है। इसके द्वारा छात्र अपने दोष (अयोग्यता) को स्वीकार नहीं करता एवं ऐसा कहकर समाज में अपनी प्रतिष्ठा को बचाये रखकर अपने 'अहम्' को यथासम्भव सन्तुष्टि प्रदान करता है।

'रेशनलाइजेशन' के और कई एक उदाहरण दिये जा सकते हैं—जैसे—व्यक्ति का यह कहना कि 'मैंने तो अमुक नौकरी को लात मार दी वरना उस नौकरी को पाना तो मेरे लिए बाएँ हाथ का खेल था'। अथवा ऐसा कहना कि—'मुझे तो तीन लाख रुपए की ठेकेदारी मिल रही थी मगर मैंने सोचा कि ठेकेदारी का काम बेईमानी का काम है, सब ठेकेदार चोर होते हैं। चोर के साथ कौन चोर बनने जाय'।

इसी प्रकार 'कम्पेन्सेशन' (Compensation), 'प्रोजेक्शन' (Projection), 'सबलिमेशन' (Sublimation), 'रिप्रेशन' (Repression) आदि कई और भी अचेतन मानसिक प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य के मानसिक संघर्षों का समाधान हो पाता है।

जो लड़का पढ़ने में अच्छा नहीं कर पाता है वह एक अच्छा खिलाड़ी हो जा सकता है जिसके कारण लोग खेल के क्षेत्र में उसकी काफी तारीफ करते हैं। अतः लड़का अपनी पढ़ाई की अयोग्यता की पूर्ति (Compensation) एक अच्छा खिलाड़ी बनकर करता है। उसी प्रकार जिस लड़के के माता-पिता अथवा शिक्षक आदि उसपर ध्यान नहीं

देते हैं उस लड़के के मस्तिष्क मे एक हीनता (Inferiority) की भावना जग जाती है जिसके कारण उसमें मानसिक संघर्ष उत्पन्न होता है। उसके मानसिक संघर्षों का समाधान प्रायः इस प्रकार भी होता पाया जाता है कि वह लड़का एक बहुत बड़ा शैतान, पाकिटमार, चोर आदि निकल जाय। इन क्रियाओं के द्वारा वह अपनी हीनता की भावना की 'अतिशय पूर्ति' (Over compensation) दूसरे क्षेत्रों में कर पाता है जिसके कारण लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहता।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति मे स्वयं जो दोष हैं अथवा दोषपूर्ण विचार है जिन्हें उसका 'अहम्' (Ego) स्वीकार नही कर पाता है, उन दोषों (Antisocial or unaffiiated ideas) अथवा दोषपूर्ण विचारो को वह दूसरों पर आरोपित कर देता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए 'क', 'ख' से नफरत करता है तथा वह नहीं चाहता कि 'ख' उससे मिलने भी आये। अब उसके मस्तिष्क में सघर्ष उत्पन्न होता है कि किस प्रकार वह नफरत भी करे और उसकी यह नफरत जाहिर भी न हो। ऐसी अवस्था में उसमें 'प्रोजेक्शन' (Projection) नाम की अचेतन प्रक्रिया (Process) होती है जिसके कारण 'क' ऐसा कहता पाया जाता है कि—'देखो न, 'ख' तो मुझसे इतनी नफरत करता है कि मुझसे कभी मिलने भी नहीं आना चाहता।' 'वह तो मेरा दुश्मन बन गया है' 'अमुक को मैं तो फूटी आँखों नहीं सुहाता' आदि प्रोजेक्शन के उदाहरण-स्वरूप हैं।

इसी प्रकार आपने देखा होगा कि कोई व्यक्ति अपने जीवन को कला की उपासना, (जैसे—कविता, कहानी, संगीत, नृत्य आदि) अथवा वैज्ञानिक अनुसन्धान अथवा अन्य कोई ऐसे कार्य में लगा देता है जिसे समाज बहुत अच्छा कहता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसे कार्यो क (Sublimation) पीछे कुछ अतृप्त प्रेरक अथवा इच्छाओं (Unsatisfied motives) जैसे—'यौन-प्रतिष्ठा-प्राप्ति' (Sex recognition) आदि का संघर्ष ही छिपा होता है, जिन संघर्षों का समाधान उपर्युक्त व्यवहारों के द्वारा परिलक्षित होता है।

अचेतन मानस के द्वारा सम्पादित ऐसी महत्त्वपूर्ण क्रियाओं की विशेष व्याख्या 'असामान्य मनोविज्ञान' (Abnormal Psychology) के अध्ययन के सिलसिले में विद्यार्थी अधिक पढ़ेंगे।

'आदतें अथवा अभ्यासजन्य क्रियाएँ'

(Habits or Habitual Actions)

आदतों अथवा अभ्यास-जन्य क्रियाओं का भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ऐच्छिक क्रियाओं की कोटि में ही रखा है क्योंकि हमारी आदतों की शुरुआत प्रायः हमारी इच्छाओं के अनुकूल ही होती है। प्रारम्भ में ये अनैच्छिक नहीं, परन्तु एक बार शुरू हो जाने के बाद बार-बार किये जानेवाले अभ्यासों के फलस्वरूप धीरे-धीरे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जब हमारी अभ्यस्त क्रियाएँ बार-बार 'स्वतः' (Automatically) दुहराई जाने लगती हैं। अस्तु, इन्हें 'अर्द्धइच्छित क्रियायें' भी कहते हैं। उदाहरणस्वरूप—पान, सिगरेट, गाँजा, शराब, चाय आदि की आदतों को ही ले लें। शुरू-शुरू में शराबी व्यक्ति बुरी संगति में पड़कर अथवा जान-बूझकर अपने दुःख को भूलने के लिए शराब पीना शुरू करता है। शराब का पीना दुःख को भुलाने का एक साधन-मात्र रहता है। परन्तु धीरे-धीरे शराब पीने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि व्यक्ति प्रसन्नता के क्षणों मे भी शराब पीने लगता है और इस तरह चाहे वह दुःख में हो या सुख में, बिना शराब पीये नहीं रह सकता और जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो हम कहते हैं कि अमुक को शराब पीने की आदत पड़ गई है। अन्त मे शराब पीना की क्रिया एक साधन न रहकर (Means) 'स्वयं साध्य' (end in itself) बन जाती है।

आदत बुरी भी होती हैं और भली भी। तम्बाकू, अफीम, मदिरा आदि की आदतें बुरी हैं क्योंकि इनका व्यक्ति के ऊपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार हमारे 'अचेतन' (Unconscious) में दबे हुए कुछ कारणों के परिणामस्वरूप किसी-किसी व्यक्ति मे अन्धकार से डरने की आदत, नवागन्तुकों के सामने होने पर शर्माने अथवा झेंपने की आदत, दूसरों को चिढ़ाने की आदत, अकेले में पड़कर घबराने की आदत आदि भी देखी जाती है।

परन्तु कुछ आदतें अच्छी हैं जिनका व्यक्ति के विकास पर अच्छा असर पड़ता है। जैसे—हमेशा किसी न-किसी कार्य मे लगे रहने की आदत, सदा प्रसन्न-चित्त रहने की आदत, तर्क-पूर्ण ढंग से सोचने की आदत, शिष्ट व्यवहारों को करने की आदत तथा अधिक पढ़ने या लिखने की आदत

आदि। इसी तरह 'थैंक यू' (Thank you) अथवा 'शौरी' (Sorry) कहने की आदत से भी समाज में बहुत-सी उलझनें आसान होती दिखाई पड़ती है। जैसे-जैसे व्यक्ति 'प्रौढ़ता' (Maturity) प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे उसमें कपड़ा पहनने, खाना खाने तथा खेलने आदि के व्यवहार भी आदत-जैसे पड़ जाते हैं जिन पर 'शिक्षण' (Training) का बहुत प्रभाव पड़ता है। इन क्रियाओं को बार-बार करने (Practice) के कारण वह उन्हें सीख लेता है और अन्त में ये 'आदतें' व्यक्ति के व्यक्तित्व का 'अभिन्न अंग' बन जाती हैं।

———

सत्रहवाँ अध्याय

बुद्धि

(Intelligence)

बुद्धि का स्वरूप—परिभाषाएँ—'स्पीयरमैन' का "द्वितत्त्व-सिद्धान्त" तथा 'थार्नडाइक', 'थर्स्टन' आदि का "बहुतत्त्व-सिद्धान्त"।

बुद्धि माप—बुद्धि परीक्षण—वैयक्तिक एवं सामूहिक बुद्धि परीक्षण—वाचिक तथा क्रियात्मक परीक्षण।

(क) वाचिक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण तथा इसकी विशेषताएँ एवं त्रुटियाँ।

(ख) क्रियात्मक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण।

(ग) वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण—वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण का उपयोग करते समय ध्यान में रखने योग्य कुछ प्रमुख बातें—वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण की त्रुटियाँ।

(घ) क्रियात्मक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण।

बुद्धि-परीक्षण-फलों की व्याख्या—मानसिक आयु—बुद्धि-लब्धि निकालने का तरीका—बुद्धि-लब्धि-स्थिरता—बुद्धि-लब्धि में परिवर्तन होने के कारण—बुद्धि-लब्धि-निर्धारण की उपयोगिताएँ।

'बुद्धि का स्वरूप'

(Nature of Intelligence)

मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि का सम्बन्ध व्यक्ति के विभिन्न वातावरण में अभियोजन की क्षमता से बतलाया है। जो व्यक्ति जितनी ही सरलता एवं सुगमता से जल्द अपने को वातावरण में अभियोजित करता है उसकी बुद्धि उतनी ही अधिक तीव्र समझी जाती है। परन्तु प्रत्येक अभियोजन में

बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। मनुष्यों का कुछ अभियोजन 'मूल प्रवृत्यात्मक' (Instinctive) तथा 'सहज' (Reflex) क्रियाओं (Actions) पर निर्भर करता है। मनुष्यों में ये क्रियाएँ जन्मजात होती हैं और खुद-ब-खुद आवश्यकता पड़ने पर क्रियाशील हो जाती हैं। इन क्रियाओं द्वारा हुए अभियोजन में बुद्धि का हाथ नहीं रहता।

बुद्धि की दूसरी विशेषता इसकी 'परिवर्तनशीलता' (Flexibility) है। मनुष्यो के व्यवहार में 'परिमार्जन' (Modification), 'परिपक्वता' (Maturation) तथा 'सीखने' (Learning) से होता है। व्यक्ति के व्यवहारों मे हुए इस परिमार्जन के फलस्वरूप बुद्धि मे भी विकास या परिवर्तन पाया जाता है। फलतः मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि प्राणी के 'विकास' (Growth) तथा व्यवहारों मे, परिपक्वता एवं सीखने के फलस्वरूप परिवर्तन एवं परिमार्जन के समावेश से बुद्धि में भी विकासात्मक परिवर्तन होता है।

बुद्धि प्राणी के शरीर के किसी 'विशेष भाग' (Specific structure) पर निर्भर नहीं करता, वरन् प्राणी समग्ररूप से (As a whole) बौद्धिक क्रियाओं में क्रियाशील पाया जाता है। अतः यह कहना कि बुद्धि ग्राहकेन्द्रियों या 'कर्मेन्द्रियों' (Receptors or Effectors) पर निर्भर है, भूल होगी। यह क्षमता शरीर के समग्ररूप से क्रियाशील होने पर निर्भर है।

प्रत्येक प्राणी मे समान रूप से बुद्धि नामक क्षमता नहीं पायी जाती हैं। विकास की सीढ़ी में जो प्राणी जितना ही निम्नस्तर पर होता है उसमें बुद्धि की क्षमता उतनी ही कम होती है। जैसे-जैसे विकास की सीढ़ी पर आगे की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे बुद्धि की क्षमता में भी वृद्धि देखने को मिलती है। इस क्षमता में वृद्धि के फलस्वरूप प्राणी अपने को अधिक जल्द एवं सुगमता से वातावरण से अभियोजित कर पाता है। अब प्रश्न है कि बुद्धि में विकास के फलस्वरूप परिवर्तन देखने को क्यों मिलता है? इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिकों ने विकास के फलस्वरूप प्राणी में हुई जटिलता के आधार पर दिया है। विकास के फलस्वरूप प्राणी के स्नायुमण्डल तथा अन्य आकृतियों में जटिलता आती गई। जिस प्राणी में जितनी ही आकृतियों की जटिलता विशेष रूप से पायी जाती है उसकी बुद्धि भी अविकसित प्राणियों की (जिनकी आकृतियों का विकास कम हुआ हो) बुद्धि से उतनी ही अधिक रहती है।

विकसित प्राणी की बुद्धि विशेष होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राणियों के बीच बुद्धि की विभिन्नता पायी जाती है। एक ही वर्ग के प्राणियों मे भी बुद्धि समान नहीं होती। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य दूसरे से बुद्धि में अधिक तेज हो सकता है। मनुष्यों के बीच बुद्धि की इस असमानता का अनुमान मनुष्यों के अभियोजन करने की क्षमता मे अन्तर के द्वारा लगाया जाता है। कुछ व्यक्तियों में जल्द एवं सुगमता से अपने को अभियोजित करने की क्षमता वर्तमान होती है तो कुछ व्यक्ति उस परिस्थिति में अपने को अभियोजित करने में समय लेते हैं। जैसे—गणित के प्रश्न को हल करने में कुछ विद्यार्थी अतिशीघ्र उसे हल कर देते हैं तो कुछ उसे हल करने में घण्टों समय लगाते हैं। यहाँ गणित के प्रश्न को हल करना ही व्यक्ति का अभियोजन है। स्पष्ट है कि एक व्यक्ति की बुद्धि दूसरे से भिन्न हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि एक 'क्षमता' (Ability) है जो व्यक्तियों के वातावरण के प्रति 'अभियोजन' (Adjustment) करने मे सहायक होती है। साथ-ही-साथ यह प्रत्येक मनुष्य में समान रूप से नहीं पायी जाती है। पर प्रश्न है, 'बुद्धि क्या है' ? यह सर्वमान्य है कि यह अभियोजन में सहायक होती है। मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि को परिभाषित करने की कोशिश की है, पर यह प्रयत्न असफल ही रहा। जिस प्रकार 'विद्युत्' (Electricity) की परिभाषा आज तक कोई न दे पाया है, उसी प्रकार बुद्धि की भी परिभाषा मनोवैज्ञानिकों द्वारा नहीं दी जा सकी है। बुद्धि के 'उपयोग' (Use) पर सभी ने प्रकाश डाला है। कुछ लोगोंने तो बुद्धि को परिभाषित करते समय बुद्धि के किसी एक या दो उपयोगों का वर्णन किया है। जैसे—'स्टर्न' (Stern) ने व्यक्ति के वातावरण या वातावरण के कुछ एक पहलुओं के प्रति 'अभियोजन की क्षमता' (Ability to adjust) को ही बुद्धि की संज्ञा दी है। 'टरमैन' (Terman) ने 'अमूर्त (Abstract) चिन्तन करने की योग्यता' को ही बुद्धि कहा है। फिर 'वेस्लर' (Wechsler) ने 'व्यक्ति द्वारा किसी अभिप्राय की पूर्त्ति के लिए कार्य करने, तर्कपूर्ण चिन्तन करने तथा अपने वातावरण मे उचित एवं प्रभावपूर्ण ढंग से अभियोजन करने की सम्पूर्ण या सार्वभौम-क्षमता (Global capacity) को ही बुद्धि की संज्ञा दी है'। इस प्रकार दिये गये प्रत्येक परिभाषाओं में बुद्धि की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। कुछ लोगों के अनुसार बुद्धि अभियोजन मे सहयोग देती

है (Helps in adjustment) तो कुछ लोगों के अनुसार यह 'अमूर्त चिन्तन में सहयोगी है' तो कुछ लोगों के अनुसार 'तर्कयुक्त-चिन्तन बुद्धि पर ही आश्रित है'। इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्धि को परिभाषित करना कठिन है। इस कठिनाई को देखते हुए 'हिलगार्ड' (Hilgard) ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि 'बुद्धि-परीक्षण जो कुछ मापता है, वही बुद्धि है। यहाँ किसी भी प्रकार के विवाद की गुंजाइश नहीं है'।

दूसरा प्रश्न जो बहुधा मनोवैज्ञानिकों के सामने आया करता है वह यह है कि बुद्धि के अन्तर्गत वे कौन-कौन-से 'तत्त्व' (Factors) पाये जाते हैं जिनके रहने से अभियोजन में व्यक्ति को आसानी होती है। 'कौन-कौन-से तत्त्व तथा कितने तत्त्व' (Elements or Factors) बुद्धि में है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि में केवल एक तत्व जिसे 'सामान्य तत्व' (General factor) कहा गया है, की चर्चा की है तो किसी ने एक से अधिक, अर्थात् दो-तीन या अनेक तत्वों का समावेश बुद्धि में किया है। इन विभिन्न या किसी एक तत्व की मात्रा में पाये जानेवाले अन्तर के कारण व्यक्तियों की बुद्धि में भी अन्तर पाया जाता है। 'स्पीयरमैन' (Spearman) के अनुसार मनुष्यों के बौद्धिक योग्यताओं में दो तत्वों का समावेश है—(१) 'सामान्य तत्व' (General factor) और दूसरा 'विशिष्ट तत्व' (Specific factor)। सामान्य तत्व को 'स्पीयरमैन' (Spearman) ने 'मानसिक शक्ति' (Mental energy) की संज्ञा दी है। वैयक्तिक-विभिन्नता की व्याख्या करते हुए 'स्पीयरमैन' ने कहा है कि दो व्यक्तियों में 'सामान्य बौद्धिक स्तर' (General intellectual level) में अन्तर होने के कारण विभिन्नता हो सकती है या यह विभिन्नता विशिष्ट तत्वो के कारण हो सकती है। कभी-कभी इन दोनों तत्त्वों की विभिन्नता के फलस्वरूप दो व्यक्तियों में अन्तर पाया जा सकता है। 'स्पीयरमैन' के इस विचार को 'स्पीयरमैन का द्वितत्व सिद्धान्त' (Two-Factor Theory of Spearman) भी कहा गया है। इसका विशद् उल्लेख करना यहाँ अनिवार्य नहीं।

दो न अधिक तत्त्वों पर विश्वास रखनेवाले मनोवैज्ञानिकों में 'थार्नडाइक' (Thorndike) तथा 'थर्स्टन' (Thurstone) का नाम उल्लेखनीय है। इस तरह के विचार को 'बुद्धि का बहुतत्त्व सिद्धान्त' के नाम से पुकारा जाता है। 'थानंडाइक' के अनुसार बुद्धि का

निर्माण कई एक विभिन्न तत्त्वों से होता है। 'थर्स्टन' (Thurstone) ने भी बुद्धि मे निम्नलिखित 'छः (Six) तत्त्वों' का उल्लेख किया है—

(क) स्थान-सम्बन्धी योग्यता (Spatial Ability), (ख) सांख्यिक योग्यता (Numerical Ability), (ग) वाचिक-सम्बन्धी योग्यता (Verbal Ability), (घ) स्मृति-योग्यता (Memory Ability), (ङ) वाक्-पटुता (Word fluency) तथा (च) विचार-शक्ति (Reasoning Ability).

'केली' (Kelly) ने अपने विवेचन में 'नौ (Nine) तत्त्वों' का वर्णन किया है।

इस प्रकार बुद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न तत्त्वों (Elements) की चर्चा की है। बुद्धि मे पाये जानेवाले तत्त्वों के सम्बन्ध म एकमत का अभाव है। अतः यह कहना कि बुद्धि एक 'सार्वभौम क्षमता' (Global capacity) है जो अभियोजन में सहयोग देती है तथा यह क्षमता सभी व्यक्तियो में समान रूप मे वर्तमान नहीं रहती, बुद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है।

'बुद्धि-माप'

(Measurement of Intelligence)

'बुद्धि-माप आन्दोलन' का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'सर फ्रैंसिस गाल्टन' (Sir Francis Galton) से हुआ। इन्होंने 'ऐन्द्रिक विभेदीकरण' (Sensory discrimination), 'ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरण' (Sensory perception) तथा 'ऐन्द्रिक तीक्ष्णता' (Sensory acquity) के माप के लिए सर्वप्रथम अनेक प्रकार के 'ऐन्द्रिक परीक्षणों' (Sensory tests) का निर्माण किया। धीरे-धीरे अन्य मनोवैज्ञानिकों जैसे—'कैटेल' (Cattell), 'बीने' (Binet), 'साइमन' (Simon) आदि का भी ध्यान 'बुद्धि-माप' की ओर गया। फलस्वरूप 'बुद्धि-माप' के अनेक परीक्षणों का विकास हुआ। 'बुद्धि-माप' के सभी परीक्षण एक ही तरह के नहीं थे। कुछ तो ऐसे थे जिनका उपयोग व्यक्ति एक समय एक ही मनुष्य पर बुद्धि मापने के लिए कर सकता है। ऐसे 'परीक्षण' (Test) जिनका प्रयोग बुद्धि मापने के लिए एक समय एक ही व्यक्ति पर होता है उन्हें 'वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' (Individual intelligence test) की संज्ञा दी जाती है। परन्तु कुछ ऐसे भी

'परीक्षण' (Tests) थे जिनका प्रयोग एक ही समय एक से अधिक व्यक्तियों पर किया जा सकता है। ऐसे परीक्षण जिनका उपयोग एक ही समय अनेक व्यक्तियों की 'बुद्धि-जाँच' के लिए हो सकता है उसे 'सामूहिक बुद्धि-परीक्षण' (Group tests of intelligence) कहते हैं। इन दो विभिन्न परीक्षणों (Tests) के अन्तर्गत भी दो प्रकार के परीक्षण देखने को मिलते हैं। एक परीक्षण वह है जिसमें व्यक्ति 'भाषा' (Language) के माध्यम से ही अपने प्रत्युत्तर प्रकट करता है और दूसरा वह जिसमें व्यक्ति अपने प्रत्युत्तर प्रकट करने के लिए कार्यों (Performance) का आश्रय लेता है। पहले तरह के परीक्षण को 'वाचिक बुद्धि-परीक्षण' (Verbal intelligence test) तथा दूसरे को 'क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षण' (Performance intelligence test) कहते हैं। पृष्ठ ३९५ की तालिका से ऊपर के विश्लेषण को अत्यधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बुद्धि-माप के लिए निम्नलिखित चार प्रकार के परीक्षणों (Tests) का उपयोग किया जाता है।

(क) 'वाचिक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' (Verbal individual intelligence tests), (ख) 'क्रियात्मक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' (Performance individual intelligence tests), (ग) 'वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण' (Verbal group intelligence tests) तथा (घ) 'क्रियात्मक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण' (Performance group intelligence tests).

इन विभिन्न परीक्षणों के अन्तर्गत अनेक परीक्षण आते हैं। पर सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, यों तो उनके नाम उपर्युक्त तालिका में दे ही दिये गये हैं।

अब हम एक-एक कर संक्षेप में इनका वर्णन करेंगे।

(क) 'वाचिक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण'
(Verbal individual intelligence tests)

यहाँ पहली चीज जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि जो परीक्षण 'वाचिक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' के अन्तर्गत आते हैं उनका प्रयोग एक समय एक ही व्यक्ति पर होता है। फलस्वरूप ऐसे परीक्षणों से व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में विश्वसनीय सूचनाएँ (Reliable informations)

'बुद्धि-परीक्षण'
(Intelligence Tests)
वैयक्तिक
(Individual)
वाचिक (Verbal)
(क) वीने-साइमन' मानदण्ड
(ख) स्टैनफोर्ड-बीने-मानदण्ड
(ग) संशोधित स्टैनफोर्ड-बीनेमानदण्ड
क्रियात्मक (Performance)
(क) पिंटर-पेटर्सन-क्रियात्मक मानदण्ड
(ख) अलेकजेंडर-क्रियात्मक मानदण्ड
(i) 'ब्लौक डिजाइन टेस्ट'
(ii) 'क्यूब कन्स्ट्रक्शन टेस्ट'
(iii) 'पास अलांग टेस्ट'
(ग) पोर्टियस-भूलभुलैया परीक्षण
(घ) फॉर्म-बोर्ड परीक्षण
(ङ) वेस्लर-बेल्व्यू-परीक्षण
सामूहिक
(Group)
वाचिक (Verbal)
(क) 'आर्मी अल्फा'
(ख) 'आर्मी बीटा'
(ग) 'नौ-सेना (Navy) तथा सैन्य (Army) सामान्य वर्गीकरण परीक्षण' (NGCT एवं AGCT) आदि।
क्रियात्मक (Performance)
(क) 'आर्मी बीटा' (Army Beta)
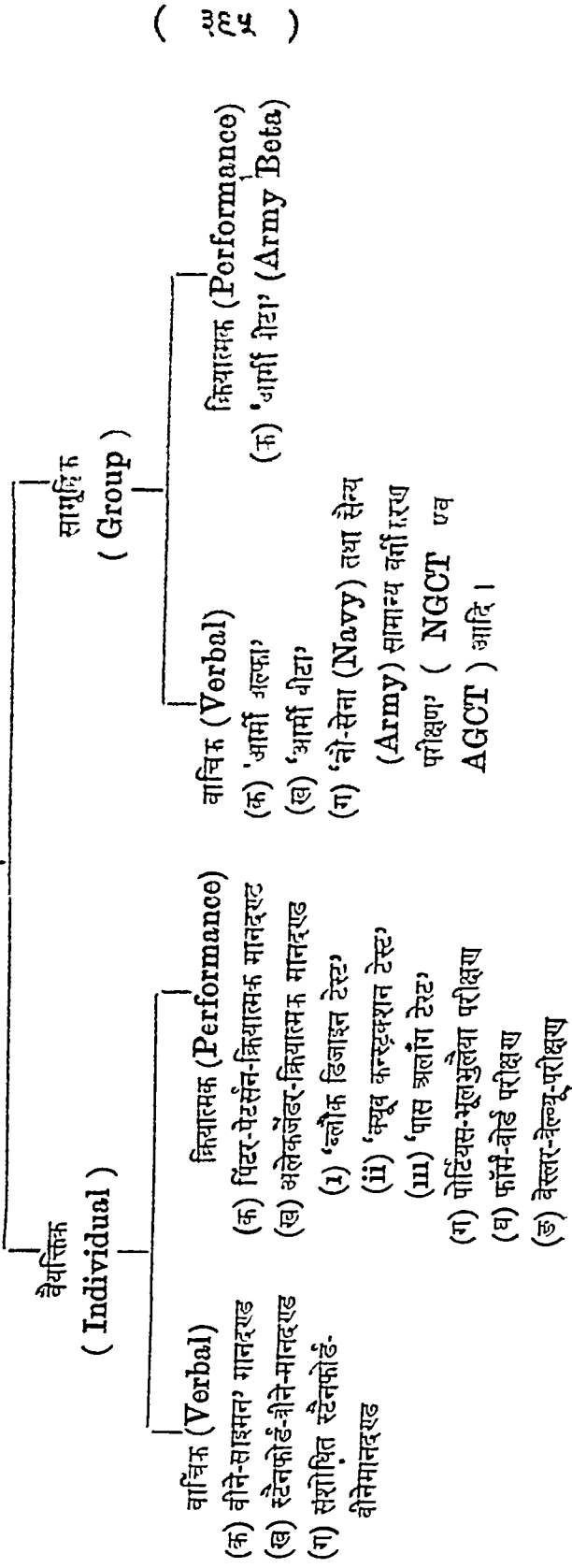
प्राप्त होती हैं। इस वर्ग के परीक्षणों का सर्वप्रथम विकास प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'अल्फ्रेड बीने' (Alfred Binet) द्वारा हुआ। उन्होंने 'साइमन' की सहयोग से पाठशाला में पढ़नेवाले बच्चों के 'बौद्धिक-स्तर' को मापने का प्रयास किया। 'बीने' ने अपने अनुसन्धान क सिलसिले में पाया था कि बच्चों में बुद्धि समान नहीं होती है। एक प्रकार की शिक्षण-पद्धति से सभी बच्चे समान रूप मे लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं। अतः विभिन्न बुद्धिवाले बच्चों को विभिन्न प्रकार से शिक्षा दी जानी चाहिए। 'बीने' ने अपने इस सामान्य नियम को उपयोग मे लाने के लिए बौद्धिक-स्तर की माप को आवश्यक समझा। फलस्वरूप 'साइमन' (Simon) के सहयोग से उन्होंने एक 'मानदण्ड' (Scale) का निर्माण किया। इस मानदण्ड मे तीस क्रियाओं (Tasks) को रखा गया। सभी क्रियाएँ समान 'दिक्कत' (Difficulty) की नहीं थी वरन् क्रियाओं में जटिलता धीरे-धीरे बढ़ती गई थी। इन क्रियाओं को एक 'क्रम' (Systematic order) क अनुसार रखा गया। सबसे पहले सरल क्रिया, फिर उससे कठिन और अन्त में सबसे कठिन क्रिया को रखा गया तथा इन्हे इसी क्रम मे बुद्धि मापने के लिए बच्चों को दिया जाता था। 'बीने' ने इस प्रकार जो मानदण्ड 'साइमन' के सहयोग से तैयार किया उसे 'बीने-साइमन-मानदण्ड' (Binet-Simon Scale) कहते हैं।

अब प्रश्न है कि इस मानदण्ड द्वारा बुद्धि-स्तर की माप कैसे हो जाती है। इन मनोवैज्ञानिकों ने अपने मानदण्ड की क्रियाओं (tasks) को विभिन्न 'अवस्था-स्तरों' (Age levels) के अनेक बच्चों को हल करने को दिया। तदुपरान्त यह पता लगा कि किस उम्र के लड़के, औसत तौर पर (On the average) कितनी क्रियाओं को हल कर सकते हैं। क्रियाओं के हल करने के आधार पर विभिन्न 'अवस्था-स्तरों' (Age levels) के लिए 'प्रतिमान' (Norms) स्थापित किये गये। अर्थात् आठ वर्ष के लड़कों ने अगर १२ प्रश्नों को हल कर पाया तथा सात वर्ष के लड़कों ने १० प्रश्नों को, तो इसका अर्थ यह कि दस प्रश्नों को हल करनेवाले प्रत्येक सात साल के लड़के की बुद्धि 'सामान्य' (Normal) समझी जायेगी। परन्तु यदि एक सात साल का लड़का १२ प्रश्नों को हल करता पाया जाय तो इसका अर्थ हुआ कि सात साल का लड़का अपने बुद्धि-विकास मे एक साल आगे बढ़ा है अर्थात् उसकी बुद्धि आठ साल के लड़के की बुद्धि के समान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिमानों के

आधार पर बालकों के बौद्धिक विकास की जानकारी 'बीने-साइमन' ने सम्भव बनाया।

'बीने-साइमन मानदण्ड' का संशोधन चार बार हुआ। एक तो १६०८ मे और दूसरा १६११ में। इन दोनों के बाद का संशोधन 'बीने-साइमन' द्वारा ही किया गया। इस संशोधन के फलस्वरूप, (क) मानदण्ड की 'क्रियाओं' (Tasks) की संख्या तीस (३०) से बढ़ाकर चौवन (५४) कर दी गयी, (ख) विभिन्न अवस्था-स्तरों को ध्यान में रखते हुए क्रियाओं का समावेश किया गया। तीन साल के बालक से लेकर 'प्रौढ़ावस्था' (Adulthood) तक के बालकों की बुद्धि मापने के लिए परीक्षणों का निर्माण किया गया। (ग) जिन क्रियाओं का करना 'विशिष्ट निपुणता' (Specific skill) पर निर्भर करता था उसे 'मानदण्ड' (Scale) से निकाल दिया गया।

उपर्युक्त संशोधनों के अतिरिक्त १६१६ मे 'टर्मन' (Terman) ने भी कुछ संशोधन लाये। १६३७ में 'टर्मन और मेरिल' (Terman and Merril) ने मिलकर संशोधन किया जो 'संशोधित स्टैनफोर्ड-बीने-मानदण्ड' (Revised Standford-Binet scale) के नाम से प्रकाशित हुआ।

'वाचिक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' की विशेषताएँ (Characteristics of the Verbal Individual Test)—(क) एक समय एक ही व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा की जाती है। फलतः व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध मे विश्वसनीय सूचनायें प्राप्त होती हैं।

(ख) व्यक्ति-विशेष की बुद्धि का विशद् विश्लेषण सम्भव है।

इस परीक्षण विधि की त्रुटियाँ (Defects of this testing method)—(क) यह परीक्षण एकमात्र उन्हीं लोगों तक सीमित है जिनकी भाषा विकसित हो। अर्थात्, जो अपने भाव को भाषा द्वारा व्यक्त कर सकते हों।

(ख) अधिक समय का व्यय होना। चूँकि यहाँ एक समय में एक ही व्यक्ति की बुद्धि-जाँच सम्भव है इसलिए बुद्धि-जाँच में अधिक समय लगता है। एक साथ अनेक व्यक्तियों की बुद्धि-जाँच यहाँ सम्भव नहीं।

(ग) एक साधारण व्यक्ति इसका प्रयोग नहीं कर सकता है। कारण एक ही समय 'प्रयोज्य' (Subject) जिसकी बुद्धि-जाँच हो रही हो उसे

निर्देश देना, उसके द्वारा दिये गये उत्तरों को लिखना तथा उनका मूल्यांकन करना आसान नहीं है।

(घ) 'प्रयोज्य' द्वारा दिये गये उत्तरों के मूल्यांकन में 'परीक्षक' के व्यक्तित्व का भी प्रभाव पड़ता देखा गया है। अतः मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि इस विधि द्वारा बुद्धि का सही-सही ज्ञान नहीं हो पाता है।

(ख) 'क्रियात्मक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण'

(Performance individual intelligence tests)

इस परीक्षण के द्वारा भी एक ही व्यक्ति की बुद्धि जाँच की जाती है। परन्तु यह 'वाचिक-बुद्धि-परीक्षण' से सर्वथा भिन्न है। इस परीक्षण का उपयोग उन बालकों या वयस्कों के लिए विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है जिनकी भाषा-विकास न हुई हो अर्थात् वे जो अपने भावों को व्यक्त करने मे असमर्थ हों। गूँगे तथा अपढ़ लोगों की समाज में कमी नहीं। ऐसे व्यक्तियों की बुद्धि-जाँच सामने दिये गये वस्तुओं को हाथ से उलट-पुलट कर दुरुस्त करने की विधि तथा उसे दुरुस्त करने मे लगे समय के द्वारा किया जाता है। बुद्धि-जाँच के इस परीक्षण को 'क्रियात्मक-परीक्षण' (Performance test) की संज्ञा दी जाती है। अगर 'क्रियात्मक-परीक्षण' का प्रयोग एक व्यक्ति पर ही सम्भव हो तो उस परीक्षण को 'क्रियात्मक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' कहते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी 'क्रियात्मक-परीक्षण' हैं जिनका प्रयोग एक ही समय अनेक व्यक्तियों पर किया जा सकता है। ऐसे क्रियात्मक-परीक्षण को 'क्रियात्मक सामूहिक बुद्धि-परिक्षण' की संज्ञा दी जाती है।

'क्रियात्मक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' के अन्तर्गत आनेवाले परीक्षणों (Tests) में 'फार्मबोर्ड परीक्षण' (Form board test), 'चित्र-पूर्ति' (Picture Completion), 'भूलभुलैया परीक्षण' (Maze test) आदि का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ सभी परीक्षणों का वर्णन आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए 'फार्मबोर्ड परीक्षण' की चर्चा यहाँ यथेष्ट होगा। परीक्षक यहाँ प्रयोज्य को, अर्थात् जिसकी बुद्धि-जाँच वह करनेवाला हो, कुछ 'ब्लॉक (Blocks) दे देता है। प्रयोज्य के सामने एक बोर्ड रखा रहता है। इसी बोर्ड में ब्लाकों को यथास्थान ठीक-ठीक एवं शीघ्रता से रखना पड़ता है। यहाँ 'परीक्षणलब्धांक' (Test score) निकालने में 'ब्लॉकों' (Blocks) को रखने में लगे 'समय तथा गलतियाँ' जो ब्लॉकों को यथास्थान नहीं रखने से होती हैं, पर ध्यान दिया जाता है।

इसके अतिरिक्त 'अलेकजेंडर-क्रियात्मक-मानदण्ड' 'पोर्टियस-भूलभुलैया परीक्षण' तथा 'वेस्लर-वेलव्यू परीक्षण' आदि भी वैयक्तिक-क्रियात्मक परीक्षण के सुन्दर उदाहरण है।

(ग) 'वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण'
(Verbal group intelligence tests)

वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षणों मे जो अन्तर है वह यह कि वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण एक समय एक ही व्यक्ति पर प्रयोग में लाया जा सकता है परन्तु सामूहिक बुद्धि-परीक्षण का प्रयोग एक समय अनेक व्यक्तियों पर किया जाता है। अधिक व्यक्तियों पर एक समय इसका प्रयोग होने से समय की बचत होती है। समय के मूल्य को १६१७-१८ में अमेरिका के कुछ मनोवैज्ञानिकों ने समझा। अतः वे उसी समय से ऐसे बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण कर रहे थे जिसका प्रयोग व्यक्तियों के समूह (Group) पर किया जा सके। विश्व महायुद्ध (World War) शुरू होने तक दो प्रकार के सामूहिक बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण किया गया। एक तो वह, जिसका प्रयोग पढ़े-लिखे (Literate) लोगों पर किया गया और दूसरा जिसका प्रयोग निरक्षर (Iliterate) व्यक्तियों पर किया गया। पहले का नाम 'आर्मी अल्फा'(Army Alpha) तथा दूसरे का नाम 'आर्मी बीटा' (Army Beta) था। आजकल तो वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षणों का अत्यधिक निर्माण हो रहा है। आजकल बिहार में लड़कों की बुद्धि-जाँच के लिए डाक्टर एस० एम० मोहसीन द्वारा हिन्दी में बनाये गये 'वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षणों' का उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार अँग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में ऐसे परीक्षण उपलब्ध हैं।

वाचिक सामूहिक बुद्धि परीक्षण को उपयोग में लाते समय 'परीक्षक' (Tester) को कुछ बातों की आर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

'वाचिक सामूहिक बुद्धि परीक्षण' को उपयोग में लाते समय ध्यान में रखने योग्य कुछ प्रमुख बातें—(क) परीक्षक को परीक्षण (Test) की पूरी जानकारी कर लेनी चाहिए। यह जानकारी अगर परीक्षक परीक्षण के प्रयोग क पूर्व, परीक्षण को स्वयं कर, करे तो अति उत्तम है।

(ख) परीक्षक को परीक्षण-सम्बन्धी निर्देशनों (Instructions) का भी पूरा-पूरा ज्ञान रहना चाहिए। प्रयोज्यों (Subjects or Testfees)

को कैसे और कहाँ बैठना है, रिक्त-पत्रों का कैसे वितरण करना है तथा प्रयोज्यो को कब और किस तरह की पेंसिल का उपयोग करना है आदि सभी निर्देशनो के अन्तर्गत आते हैं।

'वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण की त्रुटियाँ (Defects of the verbal group intelligence test)—'वाचिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण' त्रुटियो से परे नहीं है। इसमें निम्नलिखित दोष हैं—

(i) यहाँ अनेक व्यक्ति एक साथ बैठकर काम करते हैं। अतः यहाँ एक दूसरे की नकल करने की सम्भावना रहती है जो एक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण मे नहीं रहती है; (ii) साथ-ही-साथ यहाँ यह भी पता लगाना मुश्किल रहता है कि प्रयोज्य अपनी योग्यतानुसार काम में सहयोग दे रहा हैं अथवा नहीं। अगर वे सहयोग न दें तो परीक्षण ठीक-ठीक बुद्धि की जाँच करने मे असमर्थ रहेगा। कुछ तो ऐसे भी व्यक्ति होते है जो अधिक लोगों को देखकर घबड़ा जाते हैं। ऐसी अवस्था में भी बुद्धि-जाँच करना ठीक नहीं है तथा (iii) 'सामूहिक बुद्धि-परीक्षण' में शारीरिक एवं सावेगिक संतुलन में गड़बड़ी होने पर बुद्धि का पता ठीक-ठीक से नहीं लग सकता है।

अतः मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि 'वैयक्तिक परीक्षण-फल सामूहिक परीक्षण-फल से अधिक विश्वसनीय तथा निश्चित होते हैं'।

(घ) 'क्रियात्मक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण'
(Performance group intelligence tests)

इसकी कुछ चर्चा 'क्रियात्मक वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण' के अन्तर्गत की जा चुकी है। यहाँ जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है प्रयोज्य 'कार्यां' (Performances) के द्वारा अपना उत्तर प्रकट करता है। भाषा की आवश्यकता यहाँ नहीं पड़ती। हाथ से या पेंसिल की सहायता से कुछ रेखाएँ खींचकर या कुछ वस्तुओं को इधर-उधर कर उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा प्रयोज्य द्वारा काफी है। 'आर्मी बीटा' (Army Beta) को मनोवैज्ञानिकों ने 'प्रथम सामूहिक क्रियात्मक परीक्षण' (First group performance test) कहा है। यहाँ भाषा की थोड़ी-सी समझ को हटाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण की रीति को प्रयोज्यों के सामने कर दिखला दिया और दिखलाने के बाद यह जानने के लिए कि उन लोगों ने रीति को भलीभाँति समझ रखा है उन्हें इसी चीज को फिर से करने को

दिया जाता है या उसी से मिलती-जुलती (Similar) दूसरी चीज करने को दी जाती है। जब परीक्षक यह समझ लेता है कि प्रयोज्यों ने इसे करने की रीति समझ ली तो उसे वह कार्य करने को दिया जाता है। इन कार्यों मे प्रयोज्य कुछ रेखाएँ खींच, या रिक्तपत्रों (Blanks) के कुछ स्थानों को चिह्नित कर या इसी प्रकार की अन्य सरल क्रियाओं द्वारा कार्य पूरा करता है। परीक्षक इन्हीं सरल क्रियाओं के आधार पर प्रयोज्य के 'बौद्धिक-स्तर' (Mental level) का पता लगाता है।

'क्रियात्मक' (Performance) एवं 'वाचिक' (Verbal) बुद्धि-परीक्षणों का मूल्यांकन

इस ओर जब मनोवैज्ञानिकों का ध्यान जाता है तो कुछ मनोवैज्ञानिक 'क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षण' को 'वाचिक बुद्धि-परीक्षण' से उत्तम बतलाते हैं तो कुछ का विचार ठीक इसके विपरीत है। पर 'क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षण' के महत्व को न्यून (Ignore) नहीं कर सकते। इसका विशेष कारण इसका सफल उपयोग छोटे बच्चों, गूँगे तथा अपढ़ व्यक्तियों पर होना है।

ऊपर इन दोनों प्रकार के परीक्षणों के गुण एवं दोष पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होगा कि इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। अतः इन दोनों का उपयोग आवश्यकतानुसार करना ही उचित होगा।

'बुद्धि-परीक्षण-फलों की व्याख्या' (Interpretation of Intelligence Test Results)

मानसिक आयु (Mental age or M. A.)—विभिन्न 'अवस्था-स्तरों' (Mental age-levels) के लिए अलग-अलग परीक्षणों को निर्धारित किया गया है। अगर एक खास उम्र का बालक अपने 'अवस्था-स्तर' (Age-level) के लिए निर्धारित परीक्षणों को हल कर दे तो उसकी मानसिक उम्र वह अवस्था-स्तर होगी जिसके लिए वह 'परीक्षण' (Test) बना हो। उदाहरणार्थ—सात साल के बालक को सात साल के अवस्था-स्तर के लिए बने परीक्षण को दिया जाता है। अगर वह बालक इसे भली-भाँति हल कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु सात साल की समझी जायेगी। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बालक अपनी उम्र के लड़कों के लिए बने परीक्षणों में सफल नहीं होते। ऐसे बालकों को उससे निम्न अवस्था-स्तरों के लिए बने परीक्षणों को हल करने को दिया जाता

है और वे उसे हल करते पाये जाते हैं। यहाँ अगर वह सात साल का बालक छः साल के बालकों के लिए बने परीक्षण को ही हल कर पाता है, अपने स्तर के बालकों के लिए बने परीक्षण को नहीं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि उस बालक की 'वास्तविक उम्र' (Chronological age) सात साल की है, उसकी 'मानसिक उम्र' (Mental age) छः ही साल की ही है। इसी प्रकार कुछ बालक अपनी उम्र से बड़े बच्चों के लिए बने परीक्षणों को हल करते पाये जाते हैं। ऐसे बच्चों की मानसिक उम्र उनकी वास्तविक उम्र से ज्यादा होती है। इस तरह स्पष्ट है कि मानसिक उम्र या तो वास्तविक उम्र के बराबर या उससे ज्यादा या कम हो सकती है।

बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient or I. Q.)—सन् १९१२ मे 'स्टर्न' (Stern) नामक मनोवैज्ञानिक ने सर्वप्रथम 'बुद्धि-लब्धि' का प्रयोग किया। 'मानसिक आयु' से प्रयोज्यों की योग्यता के स्तर का ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु 'बुद्धि-लब्धि' एक व्यक्ति की बुद्धि का मिलान उस व्यक्ति की उम्र के अन्य व्यक्तियों से कर यह बतलाता है कि यह व्यक्ति अपनी उम्र के अन्य व्यक्तियों से अधिक बुद्धि का है या कम बुद्धि का। मनोवैज्ञानिक 'क्रुज' (Cruze) ने 'बुद्धि-लब्धि' की परिभाषा देते हुए स्पष्ट कहा है कि 'यह एक तरीका है जिसके द्वारा एक मनुष्य का, देश के अन्य लोगों की तुलना में बुद्धि की दृष्टि से क्या स्थान है, जाना जा सकता है।*

बुद्धि-लब्धि निकालने का तरीका

(Determination of I. Q.)

'मानसिक उम्र या आयु' को वास्तविक आयु या उम्र' से भाग दें और भागफल को सौ (१००) से गुणा करें। गुणा करने से प्राप्त फल बुद्धि-लब्धि होगा। अर्थात्—

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

---

* "I Q is merely a device used to indicate the relationship of an individual in intelligence to the general population of the country."

—*Cruze, Psychology for College Students*

यदि किसी व्यक्ति की 'मानसिक आयु' पन्द्रह साल तथा 'वास्तविक आयु' दस साल हो तो उस व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि =

$\left(\frac{१५}{१०} \times १०० \right)$ = १५० होगी।

सामान्य बुद्धिवाले व्यक्तियों की वास्तविक एवं मानसिक उम्र एक ही होती है। अतः उनकी बुद्धि लब्धि '१००' होती है। उन्हें 'सामान्य बुद्धि' (Average) के लोग कहते हैं। जिस व्यक्ति की मानसिक उम्र वास्तविक उम्र से कम होगी अर्थात् 'मन्दबुद्धि' (Dull) के लोगों की बुद्धि-लब्धि '१०० से कम' होती है तथा जिन व्यक्तियों की मानसिक उम्र वास्तविक उम्र से ज्यादा होती है अर्थात् 'तीव्रबुद्धि' (Bright) के व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि '१०० से ज्यादा' होती है।

'बुद्धि-लब्धि-स्थिरता' (I. Q. Constancy)—कभी-कभी यह प्रश्न सामने आता है कि बुद्धि-लब्धि सर्वदा एक-सी रहती है या इसमें घट-बढ़ होता रहता है। दूसरे शब्दों में, क्या एक मन्दबुद्धि का व्यक्ति सर्वदा मन्द-बुद्धि का तथा एक तीव्रबुद्धि का व्यक्ति सर्वदा तेज ही रहता है। इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों का भिन्न-भिन्न मत है। कुछ मनोवैज्ञानिक तो इस विचार के हैं कि बुद्धि-लब्धि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। कभी-कभी जो परिवर्तन देखने को मिलते हैं वे 'परीक्षण' (Test) में दोष होने के कारण या माप-विधियों के स्वरूप में अन्तर के कारण या प्रयोज्य को परीक्षण में रखे प्रश्नों तथा उनके उत्तरों की जानकारी के कारण होते हैं। सावेगिक कठिनाइयाँ भी 'बुद्धि-लब्धि' में परिवर्तन लाती पाई जाती हैं। 'बुद्धि-लब्धि' में 'क्रमिक-विकास या ह्रास' नहीं होता। जो मनोवैज्ञानिक उपर्युक्त विचार के मानने-वाले हैं वे बुद्धि को व्यक्ति में 'वंशानुक्रम' (Heredity) की देन समझते हैं तथा उनका मत है कि 'वातावरण' (Environment) का बुद्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह विचार सम्यक् नहीं है।

बुद्धि-लब्धि में परिवर्तन के कारण (Causes of change in I. Q.)—आजकल के अध्ययनों से स्पष्ट है कि 'बुद्धि-लब्धि' में औसत तौर पर पाँच अंकों (+ या −) तक परिवर्तन हो सकता है। यह परिवर्तन निम्नलिखित कारणों से होता पाया जाता है—

(क) शारीरिक अवस्था की गड़बड़ी प्रायः बुद्धि-लब्धि मे परिवर्तन लाती पायी जाती है। जैसे—'थायरवायड् पिंड' (Thyroid Gland) के रस-स्राव में कमी होने के फलस्वरूप बुद्धि-लब्धि में परिवर्तन होते 'ह्वीलर' महोदय (Wheeler) ने पाया है।

(ख) असामान्य वातावरण (Unusual environmental Conditions)—शिक्षा के अवसरों (Educational opportunities) के अभाव के कारण 'बुद्धि-लब्धि' में परिवर्तन होता पाया जाता है। समान बुद्धि के दो बालकों में एक को 'नरसरी स्कूल' (Nursery School) में शिक्षा मिली तथा दूसरे को उस प्रकार की सुव्यवस्थित शिक्षा (Well planned education) का अभाव था। फलस्वरूप सुव्यवस्थित शिक्षा पाये बालक की 'बुद्धि-लब्धि' मे विकास तथा जिसे अच्छी शिक्षा नहीं मिली उसकी बुद्धि-लब्धि मे ह्रास पाया गया। इस प्रकार के अध्ययनों से स्पष्ट है कि 'असामान्य वातावरण' बुद्धि-लब्धि में परिवर्तन लाता है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि 'बुद्धि-लब्धि वातावरण तथा वंशानुक्रम दोनों से प्रभावित होता है'। 'वातावरण के प्रभाव' के कारण बुद्धि-लब्धि मे परिवर्तन आना स्वाभाविक है। पर यह परिवर्तन बहुधा पाँच अंकों (+या −) से अधिक नहीं होता, यद्यपि 'वेलमन' (Wellman)* ने एक साल में सात तथा दो साल में दस अंकों (points) तक का परिवर्तन सुव्यवस्थित शिक्षा के कारण बुद्धि-लब्धि मे पाया है।

'बुद्धि परीक्षण या बुद्धि-लब्धि-निर्धारण की उपयोगिताएँ' (Utility of Intelligence testing or I.Q. Determination)—यों तो बुद्धि परीक्षण अर्थात् बुद्धि-लब्धि निर्धारण के कई एक उपयोगिताएँ बतलायी गई हैं, परन्तु उनमे से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) बच्चों की बुद्धि-लब्धि प्राप्त कर मनुष्य इसका उपयोग उनकी शिक्षण तथा निर्देशन में कर सकता है। बुद्धि-लब्धि जिस बालक को अधिक तीव्र बतलाती है यदि उसकी शिक्षा मन्द-बुद्धि के बालक से अलग अगर दी जाय तो वे इससे अधिक फायदा उठायेंगे। इसी प्रकार मन्द-बुद्धि के बालकों को तीव्र-बुद्धि के बालकों से अलग कर उनकी भी शिक्षा अधिक सोच-समझकर देना अधिक लाभदायक होगा।

---

* Wellman, B L,, 'Iowa studies on the effects of schooling '

(२) 'व्यवसाय निर्देशन तथा चुनाव' (Vocational Guidance and Selection) ही 'बुद्धि-लब्धि' के आधार पर किया गया व्यावसायिक चुनाव तथा निर्देशन आजकल अत्यन्त सफल सिद्ध हो रहे हैं। व्यवसाय में व्यक्ति की सफलता उसकी बुद्धि पर ही निर्भर करती है। अतः व्यक्ति की बुद्धि की जाँच कर उसकी बुद्धि के अनुरूप ही कार्य देना उसकी सफलता के लिए आवश्यक है।

(३) 'बुद्धि-परीक्षण' के द्वारा 'बुद्धि-लब्धि' प्राप्त कर बालकों या प्रौढ़ों का वर्गीकरण सम्भव हो पाया है। इस वर्गीकरण का महत्व 'मानसिक न्यूनता के निदान' (Diagnosis of mental deficiency) में स्पष्ट दीख पड़ता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी लोगों ने अधिक 'तीव्र', 'सामान्य' तथा 'मन्द' बुद्धि के बालकों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्य-क्रम को बनाया है जिसके बनाने का एकमात्र आधार बुद्धि-लब्धि ही है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि 'बुद्धि-परीक्षण' से प्राप्त 'बुद्धि-लब्धि' का उपयोग बालकों की शिक्षा, उनके निर्देशन, प्रौढ़ों के व्यवसाय-निर्देशन तथा चुनाव आदि के क्षेत्रों में विशेष-रूप से हो रहा है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि इसके द्वारा व्यक्तियों को उनके वातावरण से सफल अभियोजन (Successful adjustment) करने में सहायता मिल पाती है। फलतः उनका जीवन सुखमय हो पाता है।

———

अठारहवाँ अध्याय

व्यक्तित्व

(Personality)

परिभाषा—व्यक्तित्व के शील गुण एवं विशेषताएँ—भिरुता या संकोच, सचाई, ईमानदारी तथा हठ या प्रसक्ति,

व्यक्तित्व का वर्गीकरण—'क्रेशमर' का वर्गीकरण—साइक्लायड् तथा सिज्वायड। शेल्डन का वर्गीकरण—एण्डोमॉर्फिक, मेसोमॉर्फिक तथा ऐक्टोमॉर्फिक। युग का वर्गीकरण—बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी एवं प्रभुत्व-अधीनता।

व्यक्तित्व के निर्धारक—वंश-परम्परागत एवं वातावरण।

वंश-परम्परागत—शरीर-रसायन, शारीरिक बनावट और स्नायुमण्डल।

वातावरण—सामाजिक तथा सांस्कृतिक,

सामाजिक वातावरण—जीवन के प्रारम्भिक वर्षों का महत्त्व, घर, पड़ोस, स्कूल तथा समुदाय आदि का प्रभाव—एकलौता बच्चा और जन्म-क्रम का प्रभाव तथा संस्कृति का प्रभाव।

व्यक्तित्व मापन-विधियाँ—व्यक्ति-इतिहास, इण्टरव्यू या साक्षात्कार, प्रश्नावलियाँ, श्रेणी-मूल्यांकन, मनोविश्लेषणात्मक-परीक्षण-स्वप्न-विश्लेषण एवं नियंत्रित और अनियंत्रित साहचर्य विधि, परिस्थिति-परीक्षण यथा आरोपणात्मक विधियाँ या प्रोजेक्टिव टेस्ट्स—प्रधानतः 'रोर्शा का मसि-चिह्न-परीक्षण' तथा 'मर्रे का कथा-संस्कार-परीक्षण'।

व्यक्तित्व' (Personality) शब्द की उत्पत्ति 'लैटिन' (Latin) शब्द 'परसोना' (Persona) से हुई है। 'परसोना' (Persona) का अर्थ 'बनावटी रूप' (False appearance) होता है। शाब्दिक अर्थ को देखते हुए जिन लोगों ने व्यक्तित्व को परिभाषित करने की चेष्टा

की है उन लोगों ने मनुष्य के वाह्य रूप-रेखा, 'वेश-भूषा' आदि (Outward superficial appearance) को ही व्यक्तित्व की संज्ञा दी है। इस दृष्टिकोण को 'साधारण दृष्टिकोण' (Surface approach) कहते हैं। उदाहरणार्थ—एक सैनिक जो देखने में सुन्दर तथा जिसकी पोशाक भड़कीली होती है उसके व्यक्तित्व को लोग अच्छा कहते हैं। पर यदि वही व्यक्ति गन्दे कपड़े में आता है तो उसके व्यक्तित्व को बुरा कहते हैं। इस दृष्टिकोण के माननेवाले 'वाटसन' (Watson), 'शरमैन' (Sherman) आदि हैं। *

एक दूसरा दृष्टिकोण जिसे 'तात्त्विक दृष्टिकोण' (Substance approach) कहते हैं वह मनुष्य के स्वाभाविक स्थायी गुणों (Inner essential nature) की ही व्याख्या व्यक्तित्व के अन्दर करता है। अतः महात्मा गांधी के सुन्दर एवं भव्य न होते हुए भी उनका एक अपना व्यक्तित्व था। इस दृष्टिकोण के माननेवाले 'वारेन एवं कारमाइकल' (Waren and Charmichael) थे जिन्होंने व्यक्तित्व को मनुष्य का मानसिक संगठन कहा है। इस संगठन के अन्दर उनके अनुसार 'बुद्धि' (Intellect), 'धातु-स्वभाव' (Temperament), 'कौशल' (Skill), 'नैतिकता' (Morality) आदि विचारों का समावेश है।‡ इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों ने या तो मनुष्य के वाह्य रूप या वास्तविक एवं स्वाभाविक स्थायी गुणों के आधार पर व्यक्तित्व की परिभाषा दी है। इन दोनों तरह से दी गई परिभाषाओं में व्यक्तित्व को समझाने की चेष्टा की गयी है। पर लोगों ने व्यक्तित्व को समझने में भूल की। मनोविज्ञान के अन्दर व्यक्तित्व को

---

* "Personality is the sum of activities that can be observed over a long enough time to give reliable information. In other words, personality is but the end product of our habit systems "

—*Watson*

"Personality is the characteristic behaviour of an individual."

—*Sherman*

‡ "Personality is the entire mental organization of a human being at any stage of his development. It embraces every phase of human character intellect, temperament, skill, morality and every attitude that has been built up in course of one's life "

—*Waren and Charmichael*

समझने के लिए दोनों दृष्टिकोणों को शामिल करना आवश्यक है। अर्थात्, व्यक्तित्व के अन्दर मनुष्य के बाहरी रङ्ग, वेश-भूषा, चाल-ढाल आदि के साथ-साथ उसके अन्दर के गुण-स्वभाव, विचार आदि सभी को सम्मिलित करते हैं। अस्तु, 'व्यक्तित्व वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के स्वाभाविक स्थायी गुणों का समन्वय कहा जा सकता है।' जब कि हम व्यक्तित्व को एक वाह्य एवं अन्तरिक गुणों के समन्वय के रूप मे प्रस्तुत करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य 'जीवधारी प्राणी' (Biological organism) तथा 'सामाजिक एवं भौतिक जगत' (Social and Physical world) के बीच संघर्ष से उत्पन्न व्यक्तित्व (Individuality) से होता है। अर्थात् प्राणी समाज एवं भौतिक जगत म अपने को अभियोजित करने की चेष्टा करता है। प्राणी अभियोजित करने की चेष्टा में वातावरण के प्रभावों से आ टकराता है। वातावरण का प्रभाव प्राणियों पर पड़ता है और प्राणी भी अपनी क्रियाओं द्वारा वातावरण को प्रभावित करना चाहता है। एक दूसरे को प्रभावित करने की क्रियाओं के आपसी घात-प्रतिघात (Mutual interaction) के फलस्वरूप प्राणी में विशिष्ट गुणों का प्रादुर्भाव होता है जो उसके व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देते हैं। कुछ लोग व्यक्तित्व को इन विशिष्ट गुणों का 'योग' (Sum total) मानते हैं। पर दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को 'मनो-दैहिक' (Psycho-physical) गुणों का 'गत्यात्मक-संगठन' (Dynamic organization) माना है। सचमुच यह विचार मान्य है। ऐसे गत्यात्मक संगठन की अपनी विशिष्टता होती है। इसके फलस्वरूप एक व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे के व्यक्तित्व से भिन्न पाया जाता है। हरेक व्यक्ति अपूर्व एवं अपने ढंग का अकेला (Unique) होता है। 'ऑलपोर्ट' (Allport) ने इस विचार की पुष्टि अपनी परिभाषा के द्वारा की है। उन्होंने कहा है "व्यक्तित्व, व्यक्ति के अन्तर्गत उन मनोदैहिक गुणों का गत्यात्मक संगठन है जिनपर उसके वातावरण के प्रति होनेवाले विशिष्ट अभियोजन निर्भर करते हैं।" † व्यक्तित्व की 'अपूर्वता' (uniqueness)

---

† "Personality is the dynamic organization within the individual of these psycho-physical systems that determine the unique adjustment to his environment"

—*G W Allport*

एवं 'विशिष्टता' (Distinctiveness) के कारण ही यह देखने को मिलता है कि एक विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण न होने पर फिर परिश्रम कर दूसरी परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रयास करता है परन्तु दूसरा विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण न होने पर आत्महत्या कर लेता है। इस तरह स्पष्ट है कि एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्न व्यक्ति विभिन्न तरह के व्यवहार प्रकट करेंगे। इस अपूर्वता के कारण ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से शीघ्र ही अलग (Distinguish) कर लिया जाता है।

'व्यक्तित्व के शील गुण या उसकी विशेपताएँ'
(Traits of Personality)

मनोवैज्ञानिक मनुष्यों के व्यवहारों का विश्लेषण करता है। इस विश्लेषण का एकमात्र उद्देश्य 'व्यवहार क्यों और कैसे होते हैं' जानना है। इस विश्लेषण के फलस्वरूप दो विचारों की अभिव्यक्ति हुई। एक विचारक व्यक्तित्व-गुण पर विश्वास करते हैं, पर दूसरे परिस्थिति पर ही व्यवहारों को आश्रित बतलाते हैं। पहले विचारक के अनुसार मनुष्यों के अन्दर ऐसे शील गुण हैं जो उन्हें वातावरण मे खास ढंग से व्यवहार करने को प्रेरित करते हैं। अतः परिस्थितियों मे भिन्नता होने पर भी व्यवहार में भिन्नता नहीं आती। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति अगर परिस्थिति 'क' में ईमानदार है तो वह दूसरी परिस्थिति 'ख' मे भी ईमानदारी बरतेगा। इस प्रकार उस व्यक्ति में ईमानदारी का गुण है जो उसे हर परिस्थितियों में ईमानदार रखेगा।

कुछ मनोवैज्ञानिकों क मतानुसार ये विशेषताएँ 'सामान्य ढंग' (Genral nature) की होने के कारण अपेक्षाकृत स्थायी तथा क्रमबद्ध होती हैं। इन गुणों के स्थायी होने के कारण मनुष्य के व्यक्तित्व में भी 'स्थिरता' (Stability) एवं 'क्रमबद्धता' (Consistency) आ जाती है। व्यक्तित्त्व के प्रमुख गुण जिनकी चर्चा मनोवैज्ञानिकों ने की है, उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है।

(१) 'भीरुता या संकोच' (Shyness)—जिस व्यक्ति मे भीरुता या संकोच की विशेषता पायी जाती है, वह व्यक्ति प्रायः असामाजिक होता है। उसमें अधिक लोगों से सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता का अभाव होता है। कुछ ही मित्रों के बीच वह रहता है। सामाजिक संस्थाओं एवं सभाओं का सदस्य बनने में हिचकिचाता है। ऐसे लोग अगर किसी

सभा या सस्था के सदस्य हो भी गये तो ये उस सभा का नेतृत्व नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि ऐसे व्यक्ति जिसमें भीरुता का गुण पाया जाता है वे संकोचशील, लज्जालू एवं भीरु होते हैं। अर्थात् यह कहा जाय कि समाज से अलग रहने की प्रवृत्ति उनमे अत्यधिक रहती है।

(२) 'खिन्नता' (Depression)—जिस व्यक्ति में खिन्नता का गुण पाया जाता है उस व्यक्ति का जीवन चिन्ता-ग्रस्त तथा दुखमय होता है। वह सर्वदा भविष्य में आनेवाले दुःखों पर विचार करके ही अत्यधिक हतोत्साह तथा चिन्ताग्रस्त हो जाता है। यदि उसे जीवन में किसी क्षण प्रसन्नता का अनुभव होता भी है तो वह शीघ्र ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार उसके जीवन में खिन्नता की ही प्रधानता रहती है।

(३) 'सचाई' (Truthfulness)—इस विशेषता से युक्त व्यक्ति सर्वदा सच बोलनेवाला होता है। उसे अगर अपने प्राण का भी बलिदान करना पड़े तो भी वह अपने सत्यवचन एवं सत्यमार्ग को नहीं छोडेगा।

(४) 'ईमानदारी' (Honesty)—ऐसे व्यक्ति जिनके व्यक्तित्व में ईमानदारी का शील गुण पाया जाता है वे सर्वदा ईमानदार होते हैं। परिस्थिति कितनी भी गम्भीर हो, पर वे ईमानदारी को छोड़कर वेईमानी की ओर कभी नहीं झुकते। न्याय के क्षेत्र में ऐसे ही व्यक्ति दूध को दूध और पानी को पानी करनेवाले होते हैं।

(५) 'हठ या प्रसक्ति' (Persistence)—जिस व्यक्ति में हठ का गुण वर्तमान रहता है वह व्यक्ति कठिनाइयों एव बाधाओं के बीच भी तात्कालिक लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहता है।

व्यक्तित्व की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त अन्य विशेषताओं का भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुआ है। पर उनका विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। व्यक्ति की उन विशेषताओं के अन्दर, 'सवेगात्मक अस्थिरता' (Emotional instability), 'चिन्तनशीलता' (Reflectiveness), 'बुद्धि' (Intelligence) तथा 'धातु-स्वभाव' (Temperament) आदि आते हैं।

अब तक हमलोगों ने मनोवैज्ञानिकों को, 'व्यक्तित्व-गुण' के आधार पर व्यवहारों का विश्लेषण करने की चेष्टा को देखा। उनके अनुसार व्यक्तित्व-गुण की ही अभिव्यक्ति होती है। अतः मनुष्यों के व्यवहार मे 'समता एवं क्रमबद्धता' देखने को मिलता है। जिन लोगों ने इस मत का

खण्डन किया है उनके अनुसार व्यवहारों मे समता का आधार व्यक्तित्व-गुण नहीं, वरन् विभिन्न परिस्थितियों के बीच वर्तमान आपसी समानता है। अतः एक व्यवहार दूसरी परिस्थिति के व्यवहार से परिस्थितियों में समानता रहने का कारण मिलता है। जितनी ही अधिक दो परिस्थितियों मे समानता होगी, उतनी ही ज्यादा सम्भावना है कि मनुष्य के व्यवहार इन दोनों पस्थितियों में समान होंगे। इस प्रकार परिस्थिति 'क' में ईमानदारी बरतनेवाला व्यक्ति उसी हालत में परिस्थिति 'ख' में ईमानदार होगा, जब कि परिस्थिति 'क' और 'ख' आपस में समान होंगे। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य के होनेवाले व्यवहारों के पीछे उसके व्यक्तित्व-गुण का हाथ नहीं रहता, बल्कि परिस्थिति ही उन व्यवहारों के कारण होते हैं। व्यक्तित्व 'अस्थायी' (Unstable) तथा 'क्रमहीन' (Inconsistent) होता है, कारण, परिस्थितियों में भिन्नता आने के फलस्वरूप व्यवहार बदलते रहते हैं। 'मे' (May), 'मॉलर' (Maller) एवं 'हार्टशोन' (Hartshone) ने प्रयोग द्वारा प्रमाणित किया है कि जो व्यक्ति कुछ परिस्थितियों मे ईमानदारी के व्यवहार करते हैं वे ही व्यक्ति जीवन की सारी परिस्थितियों में ईमानदारी का ही व्यवहार करें, कोई आवश्यक नहीं है। यह एक साधारण अनुभव है कि एक दफ्तर में काम करनेवाला व्यक्ति जो कभी भी घुस लेता नहीं पाया गया है या कोई बेईमानी का काम नहीं किया है, वह किसी परिस्थिति-विशेष के आगमन पर जैसे घर में बच्चे की भयंकर रुग्णावस्था के कारण पैसे की आवश्यकता का होना या लड़की की शादी के लिए रुपये की आवश्यकता का होना आदि समय में बेईमानी का व्यवहार करता पाया जाता है। इस प्रकार व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ 'अस्थायी, परिवर्तनशील तथा क्रमहीन' हो सकती है।

हमलोगों ने व्यक्तित्व-गुण पर आस्था रखकर व्यवहारों को समझनेवाले तथा व्यक्तित्व-गुण पर विश्वास नहीं रखनेवाले दोनों विचारकों के विचार को देखा, पर प्रश्न है व्यवहारों की व्याख्या के लिए कौन-सा विचार उपयुक्त है? मनोवैज्ञानिकों का प्रयास इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करना रहा है। जो इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करते हैं उनके मतानुसार व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ 'सामान्य ढंग' की होती हैं तथा कुछ 'विशिष्ट ढंग' की। अतः व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ 'स्थायी एवं क्रमबद्ध' हो सकती हैं तथा कुछ 'अस्थायी या परिवर्तनशील तथा

क्रमहीन' हो सकती हैं। व्यक्ति में अधिकांश परिस्थितियों में विलक्षण रूप से होनेवाले समान व्यवहारों को व्यक्तित्व-गुण की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व का वर्गीकरण
(Types of Personality)

मनोवैज्ञानिकों ने समझने की सहूलियत के लिए व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया है। भिन्न-भिन्न लोगों ने अपने ढंग से व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया है। कुछ ने तो 'शारीरिक बनावट' को ही वर्गीकरण का आधार माना है। इस सम्बन्ध में 'क्रेशमर' (Kretschmer) द्वारा किया गया व्यक्तित्व का वर्गीकरण उल्लेखनीय है। इन्होंने मनुष्यों को दो वर्गों में बाँटा है। एक 'साइक्लवायड्' (Cycloid) तथा दूसरे 'सिज्वायड्' (Schizoid).

'शेल्डन' (Sheldon) ने भी शारीरिक बनावट को वर्गीकरण का आधार मानते हुए व्यक्तित्व को इन तीन वर्गों में बाँटा है—'एण्डोमॉर्फिक' (Endomorphic), मेसोमॉर्फिक' (Mesomorphic) और 'एक्टोमार्फिक' (Ectomorphic).

'युंग' (Jung) महोदय ने भी व्यक्तित्व को दो वर्गों में बाँटा है। एक को उन्होंने 'बहिर्मुखी व्यक्तित्व' (Extroverted personality), तथा दूसरे को 'अन्तर्मुखी व्यक्तित्व' (Introverted personality) कहा है। एक दूसरा भी वर्गीकरण है जिसके अनुसार व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिकों ने 'प्रभुत्व-अधीनता' (Ascendence-submission) के वर्गों में रखा है। इस प्रकार अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढग से व्यक्तित्व का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। पर यहाँ 'युंग' (Jung) महोदय के वर्गीकरण 'बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी व्यक्तित्व' तथा दूसरे वर्गीकरण 'प्रभुत्व-अधीनता' तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

(क) 'अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता'
(Introversion-Extroversion)

'युंग' (Jung) महोदय के विचारानुसार मनुष्य का वातावरण के साथ जो सम्बन्ध है उसे समझने का एकमात्र जरिया मनुष्य (Subject) अथवा बाहरी जगत (External world or object) ही है। अनुभवों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी

अभिरुचि (Interest) मुख्यतः वातावरण के पहलुओं में रहती है। ऐसे व्यक्ति शारीरिक-इच्छाओं या उन इच्छाओं की अवहेलना करते पाये जाते हैं जिनसे उनका फायदा पहुँचनेवाला हो। वे संसार में दूसरों के लिए जीते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों की गणना 'युंग' ने 'बहिर्मुखी-व्यक्तित्व' के अन्तर्गत किया है। संक्षेप मे बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति वातावरण में उपस्थित विषयों में अपनी शारीरिक इच्छाओ के अपेक्षाकृत विशेष अभिरुचि रखते हैं।

एक दूसरे प्रकार के भी व्यक्ति होते है जो सांसारिक पदार्थों तथा वातावरण को उत्तेजनाओं से उदासीन रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए कल्पना का अपना एक संसार होता है। ये अपने इस काल्पनिक संसार मे विचरते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः कभी भी अपने सिवा दूसरों के विषय में नहीं सोचते। उनके इस सोचने में भी कुछ-न-कुछ अनुभव छिपा है। अनुभव-प्राप्त करने की इस विधि को 'युंग' ने 'अन्तर्मुखता' तथा ऐसे अनुभव-प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को 'अन्तर्मुखी व्यक्तित्व' (Introverted personality) की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त दो प्रकार के व्यक्तियों का अपना-अपना विशेष गुण होता है, जो निम्नलिखित हैं :—

Extrovert (बहिर्मुखी)	Introvert (अन्तर्मुखी)
(१) अपने को अभियोजित करने के समय ये अपनी इच्छाओं की अवहेलना करते हैं। वाह्य आवश्यकता का विशेष ख्याल रखते हैं।*	(१) वातावरण की वस्तुओं की प्रधानता अभियोजन में ये नहीं देते। अपनी इच्छाओं को प्रधान मानते हैं।
(२) समीप के वातावरण में इनका सफल अभियोजन देखा जाता है। इसका एकमात्र कारण है कि ये सांसारिक पदार्थों में विशेष दिलचस्पी रखते हैं।	(२) सांसारिक पदार्थ में दिलचस्पी का अभाव तथा अपने (Self) में ही विशेष दिलचस्पी का होना। अतः ऐसे व्यक्ति अकेला समाज से दूर बैठ चिन्तन में विशेष आनन्द लेते हैं।

* This type lives according to external necessity "

(३) ये अन्तःप्रेरणा की अवहेलना करते हैं। साथ-ही-साथ इनमें गलत सामाजिक विषयों को बिना किसी हिचकिचाहट के अपना-लेने की प्रवृत्ति भी होती है।	(३) भीतर की प्रेरणाएँ कार्यों को भला या बुरा कराने में सहयोगी होती हैं। समाज के नियमों का इनके लिए कोई महत्व नहीं होता।
(४) मन, शरीर आदि को विशेष कष्ट देते हैं।	(४) शारीरिक सुख की ओर विशेष ध्यान देना। समाज के लोगों का ये तिरस्कार तथा उनके विचारों का कोई महत्व नहीं देते।
(५) समाज में विशेष सक्रिय (Active) होते हैं। अतः नेता, व्यापारी आदि होने की क्षमता उनमें विशेष होती है।	(५) अपने कल्पना-संसार में ही विशेष रहते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति सफल कवि, दार्शनिक आदि हो सकते हैं।
(६) दूसरों के विचारों को ग्रहण करने के लिए सर्वदा तत्पर होते हैं।	(६) दूसरों के विचारों की अवहेलना तथा अपने विचार में परिवर्तन लाने के लिए कभी भी तैयार नहीं रहते।
(७) ऐसे व्यक्तियों को विशेषतर हिस्ट्रिया (Hysteria) नामक मानसिक रोग होता है।	(७) ऐसे व्यक्तियों में 'ओवसेसन और कम्पल्सन (Obsession and Compulsion States) की अवस्था होती है।
(८) वहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति चूँकि भावुक कम होते हैं अतः अपनी आलोचनाओं अथवा विरोधों का सामना अपेक्षाकृत अधिक संतुलित ढंग से करते हैं।	(८) अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति चूँकि अधिक भावुक होते हैं वे अपने विषयों में की गयी छोटी-छोटी आलोचनाएँ अथवा अफवाहों को सुनकर अपेक्षाकृत कहीं अधिक रूप में अपना संवेगात्मक संतुलन खो बैठते हैं।

पाठकों को यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि समाज में बहुत ही कम व्यक्ति पूर्णरूप में 'वहिर्मुखी' (Extrovert) अथवा 'अन्तर्मुखी' (Introvert) होते हैं। इन दोनों ढंग के लोग विरले (Extreme

cases) हैं। अधिकतर लोग एक परिस्थिति में बहिर्मुखी तथा दूसरी परिस्थिति में अन्तर्मुखी देखे जाते हैं। एक ही व्यक्ति एक अवसर पर समाज-सुधार के लिए सभा करते तथा व्याख्यान आदि देते नजर आता है तो वही व्यक्ति दूसरे अवसर पर एकान्त में बैठकर आत्म-चिन्तन में लीन देखा जाता है। अस्तु, ऐसे व्यक्ति को मनोवैज्ञानिकों ने 'उभयमुखी' (Ambivert) की संज्ञा दी है।

(२) 'प्रभुत्व-अधीनता'
(Ascendence-Submission)

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें 'प्रभुत्व' की प्रवृत्ति की प्रधानता पायी जाती है परन्तु दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों में 'अधीनता' की प्रवृत्ति विशेषकर पाई जाती है। पहले प्रकार के व्यक्तित्ववाले व्यक्ति वे हैं जो सदा सक्रिय रहते हैं और दूसरे के ऊपर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को सामाजिक-मनोवैज्ञानिकों (Social psychologists) ने 'नेता' (Leader) की संज्ञा दी है। परन्तु दूसरे तरह के अर्थात् अधीनता-प्रभुत्व वाले व्यक्तित्व के लोग वे हैं जो सदा शान्त रहते हैं। ये आसानी से दूसरों की बात मान लेते हैं तथा उनका 'प्रभुत्व' स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्ववाले व्यक्तियों को सामाजिक-मनोवैज्ञानिकों ने 'अनुयायी' (Follower) कहकर पुकारा है।

'व्यक्तित्व के निर्धारक'
(Determinants of Personality)

मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों के व्यवहार एवं अनुभवों का विश्लेषण करना है। मनोवैज्ञानिक यह जानने की कोशिश करता है कि मनुष्य 'क्यों' (Why) और 'कैसे' (How) व्यवहार (Behave) करता है। प्रत्येक व्यवहारों एवं अनुभवों का कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होता है। इन कारणों को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकने का प्रयास अधिक उचित होगा। मनुष्य के व्यवहारों के कुछ निर्धारक तो वे हैं जो मनुष्य में जन्म-काल से ही वर्तमान रहते हैं, ऐसे निर्धारक 'वंश-परम्परागत' (Hereditary Factors) के अन्दर रखे जाते हैं। व्यक्तित्व के दूसरे निर्धारक वे हैं जिसे मनुष्य अपने ही वातावरण में उपस्थित पाता है। ऐसे व्यक्तित्व के निर्धारक को 'वातावरण-सम्बन्धी गुण' (Environmental Factors) की संज्ञा दी जाती है। वातावरण सम्बन्धी गुण

भी दो तरह के होते हैं। एक वह जिसे मनुष्य समाज की सहायता के कारण उपलब्ध करता है और दूसरा वह जिसे 'संस्कृति' (Culture) के नाम से पुकारते हैं।

(१) वंश-परम्परा'
(Heredity)

वंश-परम्परागत गुणों के अन्तर्गत 'शरीर रसायन' (Body chemistry), 'शारीरिक बनावट' (Physique) एवं स्नायु-मण्डल (Nervous system) की चर्चा, व्यक्तित्व पर उनके प्रभावों से स्पष्ट करते हुए की जायेगी। ये नीचे की तालिका से अधिक स्पष्ट किये जा सकते हैं।

'वंश-परम्परागत गुण'
(Hereditary Quality)

(क) शारीरिक रसायन (Body chemistry)	(ख) शारीरिक बनावट धातुस्वभाव (Physique and Temperament)	(ग) स्नायुमण्डल (Nervous-system)
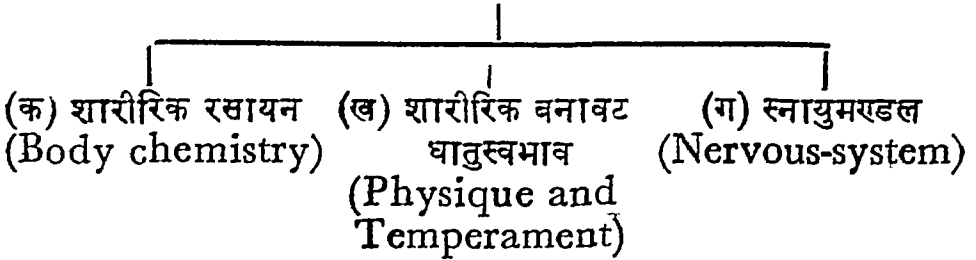
(क) 'शरीर-रसायन' (Body chemistry) और 'अन्तःस्रावी पिण्ड' (Endocrine glands)—लहू में रसस्राव (Hormones) के घहाव का होना शारीरिक विकास तथा उसके बलिष्ठ होने के लिए आवश्यक है। अन्तःस्रावी पिण्डों की चर्चा 'पाँचवें अध्याय' में विशेष-रूप से की जा चुकी है।

अन्तःस्रावी पिंडों का रसस्राव एक समान नहीं रहता। रसस्राव में भिन्नता के फलस्वरूप व्यक्तित्व पर इनका असर भी भिन्न होता है। उदाहरणार्थ—कण्ठ की गुठली के ऊपर दोनों ओर पाये जानेवाले पिंड जिन्हें 'थायरवायड्' (Thyroid gland) पिंडों की संज्ञा दी जाती है, उनके अधिक क्रियाशील (Over or hyper functioning) होने के फलस्वरूप मांसपेशियों का तनाव बढ़ जाता है और व्यक्ति चिंतित, बेचैन तथा चिड़चिड़ा नजर आता है। इसके विपरीत मनुष्यों में इस पिंड के शिथिल पड़ने के कारण (Under or hypo functioning) मनुष्य सुस्त तथा किसी काम को करने में अत्यधिक जल्द ही थक जाता है। दूसरी ओर 'पीटयूटरी ग्लेण्ड' (Pitutary gland) के कार्यों की

शिथिलता के फलस्वरूप मनुष्य की हड्डियो की बनावट ढीली पड़ जाती है। साथ ही साथ मांसपेशियों में भी कमजोरी आ जाती है जिससे व्यक्ति डरपोक हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पिंडों के कार्यों में किसी भी प्रकार के पारवर्तन के फलस्वरूप शरीर रसायन में परिवर्तन होता है, जो मनुष्यो के व्यवहार को भी किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है। शरीर रसायन के इस प्रभाव को वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया गया है। 'आक्सीजन' (Oxygen) की मात्रा में कमी लाने पर शरीर रसायन में परिवर्तन होता है। 'हाल्डेन' (Haldan) ने मनुष्यों में 'आक्सीजन' की मात्रा को कम करने के बाद पाया कि मनुष्यों मे 'आत्म-समालोचना' (Self Criticism) तथा 'आलोचना शक्ति' (Critical ability) का विनाश हो जाता है। इस प्रयोग में जिन लोगों में 'आक्सीजन' की कमी हो गयी थी उनलोगों के सम्मुख आइने रखने पर भी उन्होंने आइने में अपनी तस्वीर देखने के लिए आइने के पीछले भाग को ही अपने सामने रखा। इसके अतिरिक्त 'मानस-द्वन्द' (Mental Confusion), 'अचानक प्रकटित संवेगात्मक-व्यवहार' (Emotional Outbursts) आदि परिवर्तन भी देखने को मिले।

'व्यक्तित्व', लहू में वर्तमान चीनी की मात्रा (Blood Sugar level) पर भी निर्भर करता है। लहू में चीनी की मात्रा में अधिक कमी-बेसी होने के फलस्वरूप व्यक्ति में निम्नलिखित परिवर्तन पाये गये हैं जैसे—(क) 'चेतना विहीनता' (Loss of Consciousness), (ख) 'वाक्य-असंतुलन' (Speech disturbance), (ग) 'स्मृति-विनाश' (Loss of Memory) तथा (घ) 'संवेगात्मक अस्थिरता' (Emotional instability) आदि।

जिन पिंडों की चर्चा उपर की गई है उनके अतिरिक्त निम्नलिखित पिंड भी शरीर में पाये जाते हैं जिनका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहारों पर पड़ता है—

(१) 'पाराथायरवायड' (Parathyroid), (२) 'एड्रीनल' (Adrenal), (३) 'पिनेल' (Pineal), (४) 'थाइमस' (Thymus), (५) पैंक्रीएस (Pancreas) तथा (६) 'गोनेडस' (Gonads).

इन पिंडों का भी प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर काफी पड़ता है, परन्तु इनका वर्णन यहाँ करना अभीष्ट नहीं।

व्यक्ति के शरीर में पाये जानेवाले अन्तःस्रावी पिण्डों को नीचे दिये चित्र में अत्यधिक स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है।
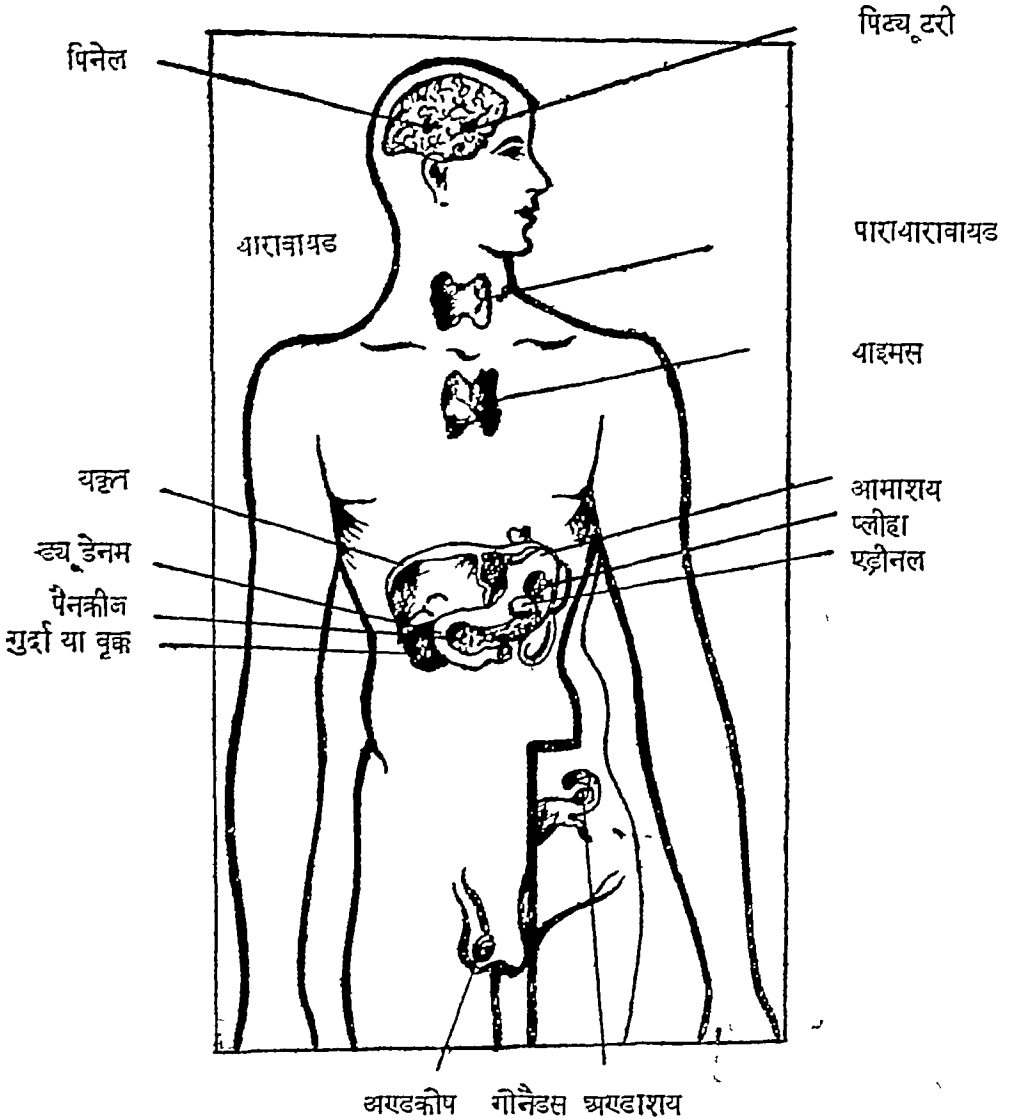
चित्र नं० २०—अन्तस्रावी पिण्डों (Endocrine Glands) का मानव शरीर में स्थान दिखलानेवाला चित्र

(ख) 'शारीरिक बनावट एवं धातुस्वभाव' (Physique and Temperament)—शारीरिक बनावट जिसमें 'लम्बाई' (Height), 'स्वास्थ्य' (Health), 'वजन' (Weight) तथा भिन्न-भिन्न अंगों का अनुपात आदि प्रधान विशेषताएँ शामिल हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह प्रायः देखा गया है कि हम सुन्दर व्यक्तियों की ओर आकर्षित होते हैं तथा कुरूप व्यक्तियों को घृणा

की दृष्टि से देखते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शारीरिक बनावट में भिन्नता होने के कारण, उसके प्रति मनुष्यों के द्वारा की गई प्रतिक्रियाओं में भी विभिन्नता पाई जाती है। परन्तु यहाँ पर स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि शारीरिक बनावट 'स्वयं में' (In itself) व्यक्तित्व-निर्धारण में महत्व नहीं रखता।

यहाँ इन शारीरिक बनावटों के प्रति व्यक्तियों द्वारा की गई प्रतिक्रियाओं पर ही व्यक्तित्व का निर्माण निर्भर करता है। जैसे—यदि कोई व्यक्ति नाटा अथवा काला है तो इससे उसके व्यक्तित्व-निर्माण में कोई बुरा असर नहीं पड़ेगा, यदि समाज के अन्य लोग उसे बुरी दृष्टि से नहीं देखें। परन्तु यदि लोग उसे नाटा एवं काला कहकर चिढ़ावें तो निस्सन्देह उसमें 'हीनता' का भाव जागरुक हो जायगा। अर्थात् वह अपने मे एक प्रकार की कमी का अनुभव करने लगेगा। फलतः वह इस कमी की क्षतिपूर्ति करने के लिए कुछ 'क्षतिपूर्त्यात्मक व्यवहार' (Compensatory behaviour) करेगा जो समाज के लिए या तो बुरा हो सकता है या भला। जैसे—अपनी इस कमी की पूर्ति कोई एक डाकू बनकर कर सकता है या एक बड़ा लेखक अथवा वैज्ञानिक।

अस्तु, हम संक्षेप में कह सकते हैं कि शारीरिक बनावट स्वयं व्यक्तित्व-निर्माण में महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् शारीरिक बनावट के प्रति दूसरों के द्वारा की गई प्रतिक्रियाएँ ही व्यक्तित्व-निर्धारण में 'महत्वपूर्ण' (Important) हैं। ('Physique does not matter in the development of personality but the matter of importance is how people react to it') एक 'प्रयोग' (Experiment), 'पंगु' (Crippled) एव 'सामान्य' (Normal) लड़कियों पर किया गया। लड़कियों को 'संवेगात्मक-स्थिरता' (Emotional stability) का 'टेस्ट' (Test) दिया गया। पंगु लड़कियाँ जो अत्यधिक क्षुब्ध दृष्टि से देखी जाती थीं, उनमें 'संवेगात्मक-अस्थिरता' (Emotional instability) उन लड़कियों के बनिस्बत अधिक थी जिनके अंगों में किसी प्रकार का दोष नहीं था। अस्तु, शारीरिक बनावट का प्रभाव व्यक्तित्व-निर्माण में 'अप्रत्यक्ष' (Indirectly) रूप से पड़ता है।

आजकल 'शारीरिक बनावट' तथा 'धातुस्वभाव' (Physique and Temperament) के पारस्परिक सम्बन्ध का भी अध्ययन शारीरिक

बनावट के विश्लेषण के द्वारा (Constitutional Analysis) किया गया है। इस प्रयत्न की ही देन है कि मनोवैज्ञानिकों ने एक खास तरह के धातु-स्वभाव का सम्बन्ध खास तरह की शारीरिक बनावट के साथ स्थापित कर दिया है। 'क्रेशमर', 'शेल्डन' आदि मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक बनावट के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया है। 'क्रेशमर' (Kretschmer) के अनुसार व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं, एक 'साइक्लोवायड्' (Cycloid) और दूसरा 'सिज्वायड्' (Schizoid)। पतले वर्ग के व्यक्ति मोटे तथा दूसरे वर्ग के व्यक्ति लम्बे और दुबले-पतले होते हैं।

'धातु-स्वभाव' (Temperment) की दृष्टि से 'क्रेशमर' ने 'साइक्लोवायड्' लोगों में निम्नलिखित गुणों का समावेश पाया है, जैसे—वस्तुवादिता, सामाजिकता, व्यवहारकुलशता आदि। दूसरी ओर 'सिज्वायड्' विशेषकर 'आत्म-केन्द्रित' (Self-centered) होते हैं। ये अकेला रहना अधिक पसन्द करते हैं। इन्हें दूसरों से बोलने में संकोच होता है। अतः ये एकान्त में चुपचाप बैठे रहते हैं। ऐसे लोगों में भावुकता की प्रधानता रहती है।

'क्रेशमर' के अनुसार उपर्युक्त दोनों वर्गों को भी निम्नलिखित और भी छोटे-छोटे वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जैसे—(क) 'ऐस्थेनिक' (Asthenic), (ख) 'ऐथलेटिक' (Athletic) तथा (ग) 'पिकनिक' (Pyknic)।

शारीरिक बनावट तथा धातु-स्वभाव दोनों के दृष्टिकोण से ये एक दूसरे से भिन्न होते हैं जिसे हम पृष्ठ ४२२ की तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं:—

'शेल्डन' (Shledon) ने भी शारीरिक बनावट तथा धातु-स्वभाव पर प्रकाश डाला है। शारीरिक बनावट के अनुसार इन्होंने व्यक्तियों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया है—

(१) 'एंडोमॉर्फिक' (Endomorphic), (२) 'मेसोमॉर्फिक' (Mesomorphic) तथा (३) 'ऐक्टोमॉर्फिक' (Ectomorphic). प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों की शारीरिक बनावट तथा धातु स्वभाव अपने ढंग का होता है।

(१) 'शेल्डन' (Sheldon) के अनुसार 'एण्डोमॉर्फिक' व्यक्ति प्रायः मोटे तथा बड़े पेट के होते हैं। 'पाचन-क्रिया-सम्बन्धी अँतड़ियों'

'क्रेशमर' का व्यक्तित्व-सम्बन्धी वर्गीकरण*:—

'क्रेशमर' का व्यक्तित्व-सम्बन्धि वर्गीकरण	शारीरिक बनावट (Physique)	धातु-स्वभाव (Temperament)
(क) 'ऐस्थेनिक'	दुबले-पतले तथा छोटे कन्धे।	आत्म - केन्द्रित, एकान्त-प्रिय, शान्त, स्वप्नद्रष्टा, भावुक तथा निष्क्रिय।
(ख) 'ऐथलेटिक'	पतली कमर, चौड़ा कन्धा तथा सुन्दर शारीरिक गठन।	सामाजिक, सक्रिय तथा व्यवहारकुशल।
(ग) 'पिकनिक'	मोटा, गोल मुँह, निकले पेट तथा मांसों से लदा हुआ शरीर।	प्रसन्नचित्त तथा मिलनसार।

* Kretschmer E., "Physique and Temperament"

का विकास भी इनमे अधिक देखा जाता है। इन व्यक्तियों के धातु-स्वभाव को 'भिसरोटोनिया' (Viscerotonia) की संज्ञा दी जाती है। ऐसे धातु-स्वभाववाले व्यक्ति खाने-पीने की चीजों मे अधिक दिलचस्पी लेते हैं। ये ऐश और आरामतलब होते हैं। ऐसे व्यक्ति हमेशा किसी के प्यार पाने के इच्छुक रहते हैं।

(२) 'मेसोमॉर्फिक' व्यक्तियो के शरीर म हड्डियों तथा मांसपेशियों का विकास अधिक देखा जाता है। फलतः वे भारी तथा कड़े शरीर के होते हैं। ऐसे व्यक्ति 'सोमैंटोटोनिक' (Somatotonic) धातु-स्वभाव के होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति मे धैर्य और साहस पूर्णरूप में पाये जाते हैं। ये किसी से दबनेवाले नहीं होते। वरन् दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं तथा प्रायः जोर-जोर से बोलते पाये जाते हैं।

(३) 'एक्टोमॉर्फिक व्यक्ति कमजोर शारीरिक बनावट के होते हैं। फलतः उनकी हड्डियाँ लम्बी तथा कोमल होती हैं। ऐसे व्यक्तियों मे पाये

जानेवाले धातु-स्वभाव को 'सेरिब्रोटोनिक' (Cerebrotonic) की संज्ञा दी जाती है। ये अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होने देते। दूसरे शब्दों में ये संकोचशील होते हैं। संकोचशील होने के अतिरिक्त ये एकान्तप्रिय भी होते हैं। ऐसे व्यक्ति की आवाज बड़ी धीमी होती है और वे दुख पड़ने पर भी दूसरों के सामने अपना दुखड़ा रोना नहीं चाहते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरणों से स्पष्ट है कि एक व्यक्ति के धातु-स्वभाव को शारीरिक बनावट के आधार पर भी समझा जा सकता है। अर्थात् शारीरिक बनावट भी अप्रत्यक्ष रूप से (Indirectly) व्यक्ति-निर्माण में सहायक है। जहाँ तक उपर्युक्त वर्गीकरणों की उपयुक्तता का प्रश्न है, हम इन्हें अंशतः ही ठीक मान सकते हैं चूँकि अधिकांश व्यक्तियों मे शारीरिक बनावट तथा उनके धातु-स्वभाव में उपर्युक्त सभी वर्गों का समन्वय किया जाता है। फलतः व्यक्तियों को निश्चित रूप से किसी एक वर्ग में रखना असम्भव-सा है।

(ग) 'स्नायु-मण्डल' (Nervous-System)—व्यक्तित्व को परिभाषित करते समय हमलोगों ने वातावरण में अभियोजना करने की चर्चा की थी। मनुष्य का अभियोजन वातावरण-सम्बन्धी गुणों एवं व्यक्ति के अन्दर वर्तमान गुणों के बीच उत्पन्न संघर्ष पर निर्भर करता है। इस संघर्ष के बीच मनुष्य द्वारा किया गया अभियोजन ही 'व्यक्तित्व' है। इस अभियोजन मे 'प्राणी तथा वातावरण' के बीच सम्बन्ध का होना आवश्यक है। प्राणी एवं वातावरण के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्नायु-मण्डल की नितान्त आवश्यकता है। अतः मनोवैज्ञानिकों ने स्नायु-मण्डल का महत्त्वपूर्ण स्थान व्यक्तित्व निर्धारण में दिया है। इसके अभाव मे मनुष्य वातावरण को समझने में असफल रहेगा। 'ब्युदा' (Beuda) महोदय ने एक प्रयोग एक मनुष्य पर किया। उस मनुष्य का मस्तिष्क अलग कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप उसमें निम्नांकित परिवर्तन पाये गये :—

(क) 'बोलने और सोचने की क्रियाओं की गति का मन्द पड़ जाना' (Slowing down of speech and thought), तथा (ख) 'समस्याओं को समझने में कठिनाई का होना' (Difficulty in grasping problems)। इस प्रकार स्पष्ट है कि मस्तिष्क के रहने के कारण ही व्यक्ति वातावरण में उपस्थित वस्तुओं को समझ पाते हैं। इस समझ के आधार पर ही उसके व्यवहार आश्रित हैं। 'केम्फ' (Kemf)

ने भी अपने 'व्यक्तित्व-सम्बन्धी जीव शास्त्रीय सिद्धान्त' (Biological theory of personality) में वातावरण में सफलतापूर्वक अभियोजित करने के लिए स्नायु-मण्डल की आवश्यकता पर जोर दिया है। उनके अनुसार अभियोजन की विधि ही व्यक्तित्व है जो स्नायुमण्डल पर आश्रित है।

(२) 'वातावरण'
(Environment)

व्यक्तित्व-निर्माण में दो प्रकार के वातावरणों का प्रभाव पड़ता है। एक तो 'सामाजिक वातावरण' (Social environment) और दूसरा 'सांस्कृतिक वातावरण' (Cultural environment).

(१) 'सामाजिक वातावरण'
(Social Environment)

'सामाजिक वातावरण' (Social environment) का प्रभाव जन्म-काल से ही आरम्भ हो जाता है। इस वातावरण में विशेषकर (क) 'जीवन के प्रारम्भिक वर्षों का महत्त्व' (Importance of the first few years of life), (ख) 'घर का प्रभाव' (Influence of Home), (ग) 'पड़ोस का प्रभाव' (Influence of Neighourhood), (घ) 'स्कूल का प्रभाव' (Influence of School), (ङ) 'समुदाय का प्रभाव' (Influence of Association) तथा (च) 'एकलौता' बच्चा (Only child) एवं 'जन्म-क्रम' (Birth order) का प्रभाव आदि का व्यक्तित्व-निर्माण में विशेष रूप से हाथ है। इसे नीचे दिये तालिका से अधिक स्पष्ट किया गया है—
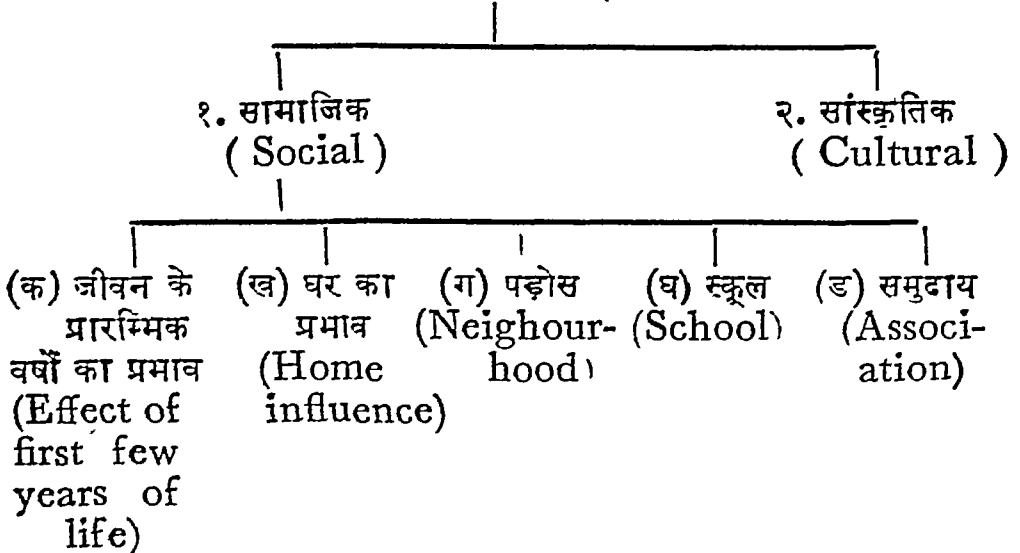
(क) 'जीवन के प्रारम्भिक वर्षों का महत्त्व' (Importance of the first few years of life)—जीवन के प्रारम्भिक वर्षों की महत्ता की विशेष चर्चा 'फ्रायड' (Freud) महोदय ने की है। इनके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का बीजारोपण बचपन के प्रारम्भिक पाँच वर्षों में हो जाता है। मनुष्य एक अनुभवशील प्राणी है। वह प्रारम्भ से ही अनुभव प्राप्त करता है। व्यक्ति के इस अनुभव पर ही व्यक्ति का निर्माण निर्भर है। 'फ्रायड' ने 'चरित्र-निर्माण' (Character formation) की व्याख्या करते हुए चर्चा की है कि बाल्यावस्था में खाद्य-सामग्री के अभाव के कारण कुछ लोगों में संचय की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ बच्चों को दूध पिलाना जल्द बन्द कर (Weaning) दिया जाता है तो कुछ को दूध पिलाना देर मे बन्द किया जाता है। दूध पिलाने की क्रिया को देर तक जारी रखने वा जल्द छुड़ाने के फलस्वरूप बालकों को कुछ अनुभव होता है। बाल्य काल के इस अनुभव की भी अभिव्यक्ति मनुष्य में 'संरक्षित एवं असंरक्षित' (Feeling of security and insecurity) होने की भावना के रूप में होती है। उसी प्रकार बालक का साधारण-सा अनुभव मल-मूत्र को दबाये रखना या जल्द-जल्द बाहर फेंकना भी अपनी छाप व्यक्तित्व-निर्माण में छोड़ती है। लड़के मल-मूत्र को एक अवस्था-विशेष में (Anal Retentive Period) अपने अन्दर संचित करने में एक आनन्द का अनुभव करते है। अतः वे बिना डाँट-फटकार के मल-मूत्र को बाहर निकालने के लिए तैयार नहीं होते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक शिक्षा (Training) के अभाव में इस अवस्था में बहुत ही अधिक दिन गुजार लेता है। इस अवस्था में रहने से प्राप्त अनुभव का ही असर है कि बड़े होने पर बहुधा ऐसे बालक एक कंजूस मनुष्य के रूप में समाज में अपने को प्रस्तुत करते हैं। जिस बालक को अपने पिता के बहुत कड़े (Rigid Discipline) अनुशासन मे पलना पड़ता है वह बालक आगे चलकर पिता की मृत्यु के बाद भी अपेक्षाकृत ईश्वर से अधिक भयभीत रहता है। अतः स्पष्ट है कि प्रारम्भिक अनुभूतियाँ व्यक्तित्व पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती हैं।

(ख) 'घर का प्रभाव' (Home influence)—बालक को अपने माता-पिता से सहानुभूति मिलती है। घर मे प्राप्त इस सहानुभूति का भी व्यक्तित्व पर असर पड़ता है। माता-पिता से प्राप्त अधिक सहानुभूतियों का ही परिणाम है कि बालक बड़े होने पर भी 'आश्रय' (Dependence)

की आवश्यकता का अनुभव करता है। ऐसे बालक बचपन में अपने माता-पिता को ही प्रत्येक शक्तियों का केन्द्र मानते हैं। इस शक्ति की खोज बड़े होने पर भी जारी रहता है। फलतः वे एक नेता का आश्रय लेते हैं। इसके विपरीत स्नेह के अभाव में बालक बड़े होने पर स्नेह की पूर्त्ति की कोशिश मे कल्पना के संसार मे या दिवा-स्वप्नों (Day-dreams) मे अधिक समय बिताना शुरू करता है। जिन लोगों मे कल्पना मे विचरने या दिवा-स्वप्नों मे अधिक लिप्त रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है उनके व्यक्तित्व को अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की संज्ञा दी जाती है। 'विलियम ह्वाइट' (William White) के अनुसार बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के लिए 'अत्यधिक प्यार' (Over affection) तथा 'अत्यधिक डाँट-फटकार' (Over punishment) दोनों ही हानिकारक हैं। घर के अन्दर सहानुभूति (Sympathy) के अतिरिक्त हमें निम्न-लिखित तीन प्रमुख सम्बन्ध माता-पिता और बच्चों के बीच देखने को मिलते हैं—

(१) 'माता और पिता का आपसी सम्बन्ध', (२) 'माता-पिता का बच्चों से सम्बन्ध, तथा (३) 'घर के बच्चों का एक-दूसरों से सम्बन्ध'। अब हम संक्षेप में एक-एककर इन पर प्रकाश डालेंगे।

(१) **'माता और पिता का आपसी सम्बन्ध'**—'सिरिल बर्ट' (Cyril Burt) का कहना है कि जिस घर के माता-पिता सदा आपस में कलह करते रहते हे उनके बच्चों मे कभी भी संतुलित व्यक्तित्व (Balanced personality) का विकास नहीं हो पाता है। ऐसे घरों में उचित अनुशासन की कमी होने के कारण बच्चे 'बाल-अपराध' (Delinque-ncy) के शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार के घरों को 'सिरिल बर्ट' (Cyril Burt) ने 'ब्रोकेन होम' (Broken Home) की संज्ञा दी है।

(२) **'माता-पिता का बच्चों से सम्बन्ध'**—कभी-कभी बच्चे के जन्म को माता-पिता स्वागत (Wanted child) की नजर से देखते हैं। परन्तु कभी-कभी खासकर गरीब परिवार मे अधिक बच्चे 'बेजरूरत या अना-वश्यक' (Unwanted) समझे जाने लगते हैं। अगर माता-पिता अपने बच्चे को 'बेजरूरत' (Unwanted) समझने लगते हैं तो बच्चे मे एक क्षोभ (Frustration) उत्पन्न होता है जिसका व्यक्तित्व पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसे घरों मे जहाँ लड़कियों का पैदा होना अशुभ अथवा लडकों की तुलना मे निम्नकोटि का माना जाता है वहाँ

की लड़कियों के व्यक्तित्व का उचित विकास नहीं हो पाता है। उनमें 'हीनता का भाव' (Feeling of inferiority) उत्पन्न हो जाता है वे सदा अपने को पुरुषों से हीन ही समझने लगती हैं।

माता-पिता (Parents) हैं अथवा नहीं इस दृष्टि से बच्चों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :—

(क) ऐसे बच्चे जिनके माता-पिता दोनों जीवित हैं, (ख) ऐसे बच्चे जिनके पिता हैं माता नहीं, (ग) ऐसे बच्चे जिनकी माता है पिता नहीं, (घ) ऐसे बच्चे जिनके माता-पिता दोनों मर चुके हैं, (ङ) ऐसे बच्चे जिनके माता-पिता का पता ही नहीं, (च) ऐसे बच्चे जिन्हें सौतेली माँ या सौतेला बाप या अन्य कोई आया (nurse) पालती है।

उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में बच्चों के अन्दर अपने माता-पिता के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति जगती है जिनका उनके व्यक्तित्व के विकास पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। परन्तु विस्तार में इनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं।

(३) घर के बच्चों का एक दूसरे से सबन्ध अर्थात् उनका आपसी सम्बन्ध— इसके अन्तर्गत सबसे प्रमुख बात है, 'एकलौता बच्चा तथा जन्म-क्रम' (The only child and birth-order) जो उनके व्यक्तित्व पर विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं।

'सामाजिक अभियोजन' (Social adjustment) व्यक्तित्व का एक विशेष गुण है। इसकी शिक्षा व्यक्ति को अपने घर से ही मिलनी आरम्भ हो जाती है। एक घर में अगर एक से अधिक बालक होते हैं तो वे एक-दूसरे के विचारों से अवगत हो समुचित अभियोजन का प्रयास करते हैं। इसी शिक्षा का प्रभाव है कि व्यक्ति बड़े होने पर पहले की सीखी हुई अभियोजन विधि द्वारा अपने को अभियोजित करने के प्रयास में सफल होता है। परिवार में एक ही बालक के रहने पर ऐसी शिक्षा को प्राप्त करने का अवसर नहीं होता है। फलतः ऐसे बालक आगे चलकर एकाकी तथा सामाजिक अभियोजन में कठिनाई का अनुभव करते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि बच्चे का परिवार में 'जनक्रम' (Birthorder) भी व्यक्तित्व के निर्धारण में सहयोग देता है। इस

विचार के रखनेवालों में प्रधान मनोवैज्ञानिक 'अलफ्रेड ऐडलर' (Alfred Adler) हैं। इनके मतानुसार 'एकलौते बच्चे' के आराम एवं अधिकार मे भाग (Share) लेनेवाला कोई दूसरा नहीं होता है। फलतः ऐसे व्यक्ति आगे चलकर एकाधिपत्य की भावना से ग्रसित होते हैं। साथ-ही साथ ऐसा व्यक्ति परावलम्बी हो जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि परिवार के पहले बच्चे 'अधिकार-प्रिय' व्यक्तित्व (Authoritarian type of personality) के हो जाते हैं। 'मझौले एवं सबसे छोटे बच्चे' के व्यक्तित्व का भी अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के फलस्वरूप पता लगा कि 'मझौले बच्चे' 'स्पर्धायुक्त' (Competitive) व्यक्तित्व के हो जाते हैं। परिवार के सबसे छोटे बच्चे मे 'लाइमलाईट व्यक्तित्व' (Lime-light personality) पायी जाती है। अर्थात् वह बच्चा आगे चलकर अपने को बहुत ही प्रमुख समझने लगता है। वह हमेशा किसी भी काम मे बिना पूछे ही राय देने लगता है। ऐसा इसलिए होता है कि अन्तिम बच्चा हाने के कारण उसे उस परिवार के अधिक लोगों का अत्यधिक प्यार मिलता है जिसके कारण उसमे अपने को 'संरक्षित समझने की मात्रा' (Coeffecient of safety) अधिक हो जाती है।

(ग) 'पड़ोस' (Neighbour)—व्यक्तित्व-निर्धारण मे पड़ोस का भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता। व्यक्ति अपने समीप इन दो तरह के पड़ोसों मे किसी एक प्रकार के पड़ोस के बीच रहता चला जाता है। एक पड़ोस तो वह है जो सदा उस व्यक्ति के समीप वर्तमान रहता है। दूसरे प्रकार का पड़ोस जिसका व्यक्ति को सामना करना पड़ता है वह सदा बदलनेवाला पड़ोस है। ऐसी भी कुछ जातियाँ हैं जो सदा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती रहती हैं। ऐसी जातियों का कोई अपना एक निश्चित एवं स्थायी पड़ोस नहीं होता। इन दो भिन्न पड़ोसों के बीच पले व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न पाया जाता है। साधारणतः पड़ोस का उस पर प्रभाव उस समय से पड़ने लगता है जब से बच्चा चलना-फिरना शुरू करता है तथा घर मे बाहर निकलकर पड़ोस के घरों में आने-जाने लगता है। जिन बालकों का पड़ोस तुरत-तुरत बदलता रहता है उनके व्यक्तित्व में हिल-मिलकर रहना तथा साहचर्य की भावना अधिक रूप मे नहीं विकसित हो पाती है। ये बातें 'नॉमैडिक ट्राइबस' या 'बञ्जारे जाति' (Nomadic Tribes) के बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में अत्यधिक देखी जाती हैं।

(ब) 'स्कूल' (School)—पड़ोस के अतिरिक्त व्यक्ति पर प्रभाव डालनेवाली चीजों में स्कूल का भी स्थान है। स्कूल मे बालक प्रवेश करने पर तीन प्रकार के लोगों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। एक तो अपने शिक्षक से जो उस समय उसके लिए पिता-तुल्य होते हैं और वह उनके आचरण का अनुकरण करता है। कभी-कभी पिता और शिक्षक के व्यवहारों मे विरोधाभास होता है। जैसे—पिता पुजारी है तो शिक्षक पूजा की ओर अविश्वास रखनेवाला। ऐसी अवस्था मे बालक का व्यक्तित्व सन्तुलित नहीं हो पाता है। अतः व्यक्तित्व में सन्तुलन के लिए यह भी आवश्यक है कि पिता और शिक्षक के व्यवहार एक समान हों। बालक का दूसरा सम्बन्ध अपने वर्ग के लड़कों से एवं तीसरा सम्बन्ध अपने वर्ग से ऊँचे एवं नीचे वर्गों के विद्यार्थियों से होता है।

बालक के साथ ऊँचे वर्ग के बालकों का जैसा व्यवहार होता है, प्रायः वैसा ही व्यवहार वे अपने से नीचे वर्गों के बालकों के प्रति करना सीख लेते हैं।

स्कूल में खेलते समय बच्चा सहकारिता, अनुशासन एवं 'टीम की भावना' (Team spirit) आदि सभी बातों को बच्चे सीखते हैं। उनमें 'सवेगात्मक संतुलन' (Emotional stability) का विकास होता है। इन्हीं कारणों से खेल के मैदानों को खुले स्कूलों (Open school) की संज्ञा दी गई है। स्कूल की पढ़ाई और खेल दोनों का प्रभाव बालकों के विकास पर पड़ता है।

(ड) 'ग्रूप, गैंग एवं क्लब' (Group, Gang and Club)—इसी प्रकार 'दल' (Group), 'गिरोह' (Gang) तथा 'क्लब' (Club) आदि का प्रभाव भी बच्चों के व्यक्तित्व क विकास पर कोई कम नहीं पड़ता है।

'सामाजिक प्रभावों' (Social effects) के कारण ही व्यक्ति विकसित होकर 'समाज का एक नमूना' (Sample of Society) के रूप म हो जाता है।

'संस्कृति का प्रभाव' या 'सांस्कृतिक वातावरण'
(Influence of Culture or Cultural Environment)

व्यक्तित्व के निर्धारण में मनुष्य के अपने जीवन-काल मे प्राप्त अनुभवों के अतिरिक्त रहन-सहन, विचार आदि का भी कम महत्त्व नहीं

होता। रहन-सहन, वेश-भूषा, विचार आदि जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है वह व्यक्तित्व को इन दो तरीकों से प्रभावित करता है—

(क) समाज में जन्म लेने के कारण बालक वहाँ की संस्कृति को अपना लेता है (Interiorizing the norms, views and values etc). फलतः समाज की रहन-सहन, वेश-भूषा, विचार आदि से उसे अलग रखना सम्भव नहीं है।

(ख) संस्कृति के अन्तर्गत आनेवाली कुछ ऐसी भी बातें हैं जिन्हें मनुष्य अपनाना नहीं चाहता परन्तु 'सामाजिक दबाव' (Social pressure) या अपने को अन्य सामाजिक प्राणी के ही अन्तर्गत रखे जाने की इच्छा के कारण वह संस्कृति-विशेष को अपनाता है।

उपर्युक्त दो विभिन्न प्रभावों के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी सस्कृति का विशेष छाप रहता है। 'लिनटन' (Linton) एवं 'कार्डिनर' (Kardiner) महोदयों ने कुछ जातियों का अध्ययन संस्कृति एवं व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध के विश्लेषण के लिए किया। इस विश्लेषण के फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में पले लोगों के व्यक्तित्व मे भी भिन्नता होती है। परन्तु यहाँ उनका वर्णन विस्तार में करना अभीष्ट नहीं।

'मीड' (Mead)* का 'न्यूगाइना' (Newguinea) में रहनेवाले विशेष जाति 'अरापेशे' (Arapesh) का अध्ययन यहाँ उल्लेखनीय है। इस जाति के लोगों की प्रमुख विशेषता एक-दूसरे से आगे बढ़ने तथा अपनी जाति का अगुआ होने की भावना का अभाव है। संस्कृति-विशेष के प्रभाव के कारण ही इस वर्ग के लोगों में नेता तथा दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने की आकांक्षा नहीं रहती। 'रुथ वेनेडिक्ट' (Ruth Benedict) ‡ ने भी 'जुनी इण्डियन' (Zuni Indian) जाति के लोगों के अध्ययन मे 'स्पर्द्धा' नामक गुण का उनके व्यक्तित्व मे अभाव पाया। स्पर्द्धा के अभाव का विश्लेषण करते समय

---

* Mead, M, 'Sex and Temperament in Three Primitive Societies' New York . Morrow, 1935, PP. 29-30.

‡ Benedict. R, 'Patterns of culture' Boston Hughton Mifflin, 1934.

'रुथ बेनेडिक्ट' ने स्पष्टतया बतलाया है कि उनमे स्पर्द्धा का अभाव जन्मजात (Innate) नहीं होता वरन् उनकी सस्कृति ही ऐसी होती है कि उनके व्यक्तित्व मे स्पर्द्धा नामक गुण नहीं विकसित हो पाता।

यह सस्कृति का ही प्रभाव है कि एक 'भारतीय' का व्यक्तित्व एक 'जापानी' मे तथा एक जापानी का 'अमेरिकन' से सर्वथा भिन्न होता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के विकास अथवा किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक खाश ढाँचे मे ढालने का श्रेय संस्कृति को भी है।

यहाँ अन्त मे यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि व्यक्ति के निर्धारण मे 'वंशानुक्रम एवं वातावरण' दोनों का सहयोग होता है। इस विचार की विशद् व्याख्या 'चौथे अध्याय' मे की गई है, जहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि 'व्यक्तित्व वातावरण एवं वशानुक्रम का योगफल नहीं, वरन् गुणनफल।'

'व्यक्तित्व-मापन'

(Measurment of Personality)

व्यक्तित्व-मापन पर मनोवैज्ञानिकों ने विशेष जोर दिया है। इस विशेष जोर का प्रधान उद्देश्य व्यक्तियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर उन्हें वातावरण से उचित अभियोजन में सहयोग देना है। फलतः व्यक्ति को एक खास प्रकार का कार्यभार सौंपने के पहले उस व्यक्ति के व्यक्तित्व की जाँच कर ली जाती है। जाँच करने से यह पता लग जाता है कि वह व्यक्ति किस कार्य को अधिक सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। व्यक्तित्व की जॉच करने की अनेक विधियाँ हैं।· जैसे—'व्यक्ति-इतिहास' (Case-history); 'इण्टरव्यू' (Interview) या 'साक्षात्कार', 'प्रश्नावलियाँ' (Questionnaires); 'श्रेणी मूल्याकण' (Rating scales); 'परिस्थिति-परीक्षण' (Situation test); 'मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण' (Psycho-analytic test), जैसे—'स्वप्नविश्लेषण' (Dream-analysis), 'नियंत्रित एव अनियंत्रित साहचर्य विधि' (Controlled and uncontrolled or free association method) तथा 'आरोपनात्मक-परीक्षण' (Projective tests), जैसे—'रोर्शा का मसि-चिह्न-परीक्षण' (Rorschach's Ink-blot test) एव 'मर्रे का कथा-संस्कार परीक्षण' (Murray's Thematic Appercept-ion test).

छात्रगण इसका उल्लेख विस्तार में उच्चवर्गों में पढ़ेंगे।

प्रत्येक व्यक्तित्व परीक्षणों के अपने-अपने गुण एवं दोष दोनों हैं जिनका वर्णन यहाँ करना आवश्यक नहीं है। परन्तु इतना कहना अनिवार्य होगा कि आवश्यकतानुसार उपर्युक्त सभी परीक्षणों का उपयोग व्यक्तित्व की जाँच के लिए मनोवैज्ञानिकों के द्वारा किया जाता है।

———

अभ्यास के लिए प्रश्न

पहला अध्याय—विषय-प्रवेश अर्थात् मनोविज्ञान की परिभाषा तथा क्या मनोविज्ञान एक विज्ञान है ?

(Definition of Psychology and Is Psychology a Science ?)

1 What is psychology ? What is the best definition of psychology according to you ? Give reasons for your answer.

2 'Psychology is the positive science of experience and behaviour interpreted in terms of experience' Discuss.

3. What are the characteristics of a science ? Is psychology a science ?

दूसरा अध्याय—मनोविज्ञान की शाखाएँ एवं उपयोगिताएँ

(Branches and uses of Psychology)

1 What are the main branches of psychology ? Describe any three important branches of psychology.

2. What are the uses of psychology ?

तीसरा अध्याय—मनोविज्ञान की विधियाँ

(Methods of Psychology)

1. What are the methods of psychology ? Which of these methods appear to you as the best method and why ?

2 What is Introspection ? Discuss the merits and demerits of Introspection as a method of psychology

3 What are the merits and demerits of method of objective observation ?

4 'Methods of Introspection and objective observation are not opposed to eachother rather they are complementary to eachother' Discuss

5 What is an Experiment and how it is performed ?

6. Discuss the merits and demerits of 'Experimental method'

चौथा अध्याय – प्राणी तथा वातावरण
(Organism and Environment)

1. What according to you is the importance of stimulus, response and adaptation in the study of psychology ?

2 Explain the S–O–R formula ? Is it possible to interpret human behaviour in terms of this formula ?

3 Define 'heredity' and 'environment' ? Also discuss their relative roles in the study of human behaviour.

4 "The individual does not equal heredity and environment but does equal heredity × environment" Discuss.

पाँचवा अध्याय — स्नायुमण्डल
(Nervous-System)

1 What is the nature of nerve-impulse ? Also explain the All-or-none law of nervous-reaction.

2 Describe briefly the structure and functions of the central nervous-system

3 Describe the structure and functions of the human brain

4 Write short notes on the following—(a) Neurons, (b) Synapse, (c) Spinal-cord, (d) Reflex-arc, (e) Cerebellum, (f) Hypothalamus, (g) Cerebrum or cerebral-cortex, (h) Effectors (Muscles and glands) and (i) Autonomic nervous-system.

छठा अध्याय—संवेदना
(Sensation)

1. What is sensation ? Name the attributes of sensation and describe with the help of suitable examples the main attributes of sensation.

2 Describe the structure and functions of the Human Eye with the help of a diagram Also explain how visual sensation takes place

3. Describe the structure and functions of the Human Ear with the help of a diagram Also explain how the auditory-sensation arises

4. Write short notes on—(a) Olfactory-sensation, (b) Gustatory-sensation, (c) Cutaneous sensation, (d) Organic-sensation and (e) Kinesthetic-sensation.

सातवाँ अध्याय—प्रत्यक्षीकरण
(Perception)

1 What is perception ? Also explain the processes through which perception of an object takes place

2 Explain, with the help of examples, the role of past-experience in perception

3 Make a distinction between—(a) Sensation and Perception (b) Perception and Illusion, (c) Illusion and Hallucination

4 What is illusion ? What are the kinds of illusion ? Also discuss, with the help of suitable examples, the causes of illusion

आठवाँ अध्याय—ध्यान
(Attention)

1 What is attention ? Explain with the help of suitable examples the kinds or forms of attention

2 What are the conditions or determiners of attention and distinguish between objective and subjective conditions or determiners of attention ? Also discuss with the help of suitable examples the subjective conditions of attention

3 Discuss with the help of suitable examples the objective conditions of attention

4 What is attention ? Describe the main bodily accompaniments in the process of attending to an object

नवाँ अध्याय—सीखना
(Learning)

1 Define learning ? Distinguish between Learning and Maturation with the help of suitable examples

2 What are the Laws of Learning ? Critically examine the Laws of 'Exercise' and 'Effect'

3 Explain the Trial and Error theory of learning ? Can all learning be explained by the help of this theory

4 What do you mean by Insight ? Explain the Insight theory of learning

5 Compare the Trial and Error and Insight theory of learning.

6. Explain the Conditioned-reflex theory of learning? Does it explain all forms of learning satisfactorily?

7 Describe the main learning procedures and make a critical estimate of the following methods of learning—(a) Whole vs Part and (b) Massed vs Distributed learning

8 Distinguish between Animal and Human learning

दसवाँ अध्याय—स्मरण

(Remembering or Memory)

1 What is remembering? Describe the processes involved in the act of remembering.

2 What according to you, is the true nature of remembering?

Or

'Memory is not a reproductive or reduplicative process, rather a constructive process Discuss

3 What is the nature of recall? Describe briefly the conditions of recall Also distinguish between recall and recognition

ग्यारहवाँ अध्याय—विस्मरण

(Forgetting)

1. Define forgetting? What are the causes of forgetting?

2 What is the true nature of forgetting? Or Is forgetting an active or passive process? Discuss

3 What do you mean by a good memory? Suggest some measures to train memory

बारहवाँ अध्याय—प्रतिमा और साहचर्य

(Imagery and Association)

1. What is an image? Distinguish between an image and a percept, with the help of suitable examples.

2. Describe the different types of images, with the help of suitable examples

3. What is meant by 'association of ideas'. Explain, with the help of examples, the various laws of association

तेरहवाँ अध्याय—चिंतन

(Thinking)

1 What is thinking ? Analyze the process of in solving a problem, with the help of an example Is it a trial and error process ?

2. How the following are related—(a) Thought and language, (b) Brain and thinking, (c) Action and thinking and (d) Imagery and thinking

3 How is concept formed ? Discuss the role of concept in thinking

4 What do you understand by creative-thinking ? Discuss, with the help of an example, its main stages

चौदहवाँ अध्याय—भाव

(Feeling)

1 Define feeling ? Make a distinction between feeling and sensation Is feeling an attritute of sensation ?

2. Explain the main characteristics of feeling ? Also distinguish between feeling and emotion

3. 'There is nothing like mixed-feelings' Discuss Also examine the Tri-dimensional theory of feeling

पन्द्रहवाँ अध्याय—संवेग

(Emotion)

1 Define emotion ? Describe the main bodily changes that accompany any emotion

2 Critically examine the James-Lange theory of Emotion

सोलहवाँ अध्याय—क्रिया एवं प्रेरक वृत्तियों का सघर्ष

(Action and Conflict of Motives)

1 What is action ? Explain, with the help of suitable examples, the kinds of action

2 Distinguish between Voluntary and Involuntary action What are the characteristics of Involuntary and Voluntary actions

3 Distinguish between reflex action and instinctive action. Also describe the characteristics of Reflex action

4 What do you mean by Instinctive action ? Discuss the characteristics of InstinctiveA ction.

5 What is meant by conflict of Motives ? Explain, with the help of an example, the processes involved in the resolution of a mental conflict.

सत्रहवाँ अध्याय—बुद्धि
(Intelligence)

1. What is intelligence ? Discuss the nature of intelligence

2 Explain, with examples, the different tests of measuring intelligence

3 What is meant by I Q ? How it is determined ?

5 Do you think I Q to be constant ? Give reasons for your answer What are the uses of I Q determination ?

अठारहवाँ अध्याय—व्यक्तित्व
(Personality)

1 Define the term Personality ? Discuss the relative value of the biological and social factors in the formation of personality

2 What is meant by the trait of personality ? Explain, with examples some of the traits of personality.

3 Discuss the different types of personality and distinguish between the traits of introversion and extroversion.

———

सम्मतियाँ

"सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा" मुझे आद्योपान्त पढ़ने का अवसर मिला। पढ़ने पर मुझे ऐसा लगा कि यदि हमारे दर्शनशास्त्र के छात्र भ इसे पढ़े तो उन्हें काफी लाभ होगा। इस पुस्तक में मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये नवीनतम प्रयोगों का भी उल्लेख किया गया है। भाषा और पाठ्य-सामग्री दोनों ही दृष्टिकोण से यह पुस्तक श्रेष्ठ है।

समस्त भारत में यह पुस्तक अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करेगी—ऐसा मेरा ध्रुव विश्वास है।

सुखदेव सिंह शर्मा
११-७-५६

(डॉ० सुखदेव सिंह शर्मा)
एम० ए० (पैट) पी० एच० डी० (डर्हम)
दर्शन-विभाग, लंगटसिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर

"सामान्य मनोविज्ञान की रूप-रेखा" को पढ़ने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची कि यह पुस्तक अत्यन्त ही सरल भाषा में प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से लिखी गई है। इसपर यों तो अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं पर यह उन सभी में सर्वश्रेष्ठ है। मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि मनोविज्ञान के छात्रों के लिए लिखी गई यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए भी अत्यधिक उपयोगी है।

(श्रीमती शारदा सिन्हा)
अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग
मगध महिला कॉलेज
पटना विश्वविद्यालय, पटना

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
Deseribes	Describes	८
अनुमूति	अनुभूति	८
Psuedo	Pseudo	१५
व्यवहारिक	व्यावहारिक	१७, १८, १६, ३०
Means to one end	Means to an end	२२
Structuratist	Structuralist	४८
Explainer	Experiencer	५१
Respones	Responses	७५
धनाजन	धनार्जन	८२
गेडार्ड	गोडार्ड	८७
ड्यूक वंश	ज्यूक वंश	८७
Personalty	Personality	६४
Antonomic	Autonomic	११४
Headers	Headed	१५८
मनुष्य ....प्रयोग	मनुष्य पर किये गये कुछ प्रयोग	२१५
Remembering	Memory	२२६
७६%	७५%	२६१
आवश्कयता	आवश्यकता	२६७
Recal !	Recall	२६६
Do memory... completely	Do memory... completely ?	२७१
Is feeling... ...sensation	Is feeling... ...sensation ?	३१६
Direcly	Directly	३४७